चाँदनी

वि. स. खांडेकर

मूल्य सात रुपये

चार तप बीत गये,
तो भी जिन की मुझ पर की
ममता की- यादगारे
आज भी मन में ताजी हैं,
वे मेरे पिताजी
स्व० आत्माराम बलवंत खांडेकर
इन की स्मृति को।

मराठी

प्रथम सस्करण १९३९
द्वितीय संस्करण १९४४
तृतीय सस्करण १९५६

गुजराथी

प्रथम सस्करण १९५०
द्वितीय संस्करण १९५६

तमील

प्रथम सस्करण १९५४

हिंदी

प्रथम संस्करण १९५८

१

चाँदनी

प्रथम दर्शन मे हरएक को यह लगता है कि इस विषय मे एकमत होना, कि सृष्टि में सब से सुदर वस्तु कौनसी है, बड़ा कठिन है। मैट्रिक मे बैठनेवाले सैंकडो विद्यार्थियो मे से बीस-पचीस ही सस्कृत विषय में वहुत होशियार होते हैं। फिर भी हम देखते है कि जगन्नाथ शंकर सेठ क्षात्रवृत्ति[१] को कई बार दो-दो विद्यार्थियों के बीच बाँटने का मौका आ ही जाता है। फिर निसर्ग तो नावीन्य का निधान, भव्यता का भण्डार, सौन्दर्य का सागर और रमणीयता का रसनिधि है! निसर्ग की विविध वस्तुओ का वैचित्र्य भी इतना सौन्दर्य-पूर्ण होता है, कि उनकी एक दूसरे से तुलना करना, रसिक-मन को हास्यास्पद लगे बिना नहीं रहता। यह कैसे निश्चय करे, कि खिले हुए बटमोगरे के फूल और ज्वार की लहरो के कारण फेनिल हुए समुद्र मे, अधिक रमणीय क्या है? यदि कोई यह कहे, कि चद्रिका से सुशोभित आकाश की विस्तीर्ण बेल से, एक नन्ही

१ बबई प्रान्त मे मैट्रिक की परीक्षा में सस्कृत भाषा में सब से अधिक गुण प्राप्त करनेवाले विद्यार्थी को प्राप्त होने वाली एक विशेष छात्रवृत्ति।

तितली ही अधिक मनोहारी दीखती है, तो क्या आप उसे पागलो मे शुमार कर देगे? प्रातःकाल और सायंकाल को तो कवियो ने ही श्रेष्ठ स्थान प्रदान कर दिया है। लेकिन मेरा यह अनुभव है कि मध्यान्ह और मध्यरात्रि स्वभाव से इतनी रगीन भले ही न हो, फिर भी उनकी शान्त गभीरता मे भी उतनी ही मोहकता होती है।

ज्यो ज्यो अधिक विचार करते है, त्यों त्यो मन को यह लगता है, कि यह प्रश्न और भी अधिक विकट है। लेकिन यदि सच पूछा जाये, तो वह बिलकुल कठिन नही है। किसी पहेली का उत्तर बहुत सरल होता है। हमेशा ऑखो के सामने रहने वाली चीज ही होती है वह। किन्तु अति परिचय के कारण वह उत्तर हमे सूझता ही नही! वही बात इस विषय मे भी होती है। समुद्रमथन करके देव-दानवो ने सौन्दर्य का सार-सर्वस्व धारण करने वाली कितनी ही वस्तुएँ बाहर निकाली – लक्ष्मी, कामधेनु, अप्सरा, अमृत। इसलिये यदि उस वस्तु को, जिसमे रमणीयता के ये सारे रूप एकरस होकर समाविष्ट हो गये है, सौन्दर्य के सिंहासन पर बैठाकर, हम उसका अभिषेक करे, तो आपत्ति क्या है?

आप कहेगे – 'अब आप इस लुका-छिपी से बाज आइये और सीधे उसका नाम ही बता दीजिये न?' लेकिन मुझे भी तो यही अडचन आ गयी है कि नाम कौनसा बताऊँ? इसका मतलब यह नहीं कि लोगो ने उसे लगातार 'नाम' रखे है और इसलिये उसके नामो की सख्या बढ गयी है। मॉ अपने बच्चे को कितने ही नामो से पुकारा करती है – जैसे राजा, मुन्ना, छौना, बाबू आदि। इसी तरह सृष्टिमाता ने भी अपने इस लाडले को प्यार से इतने अधिक नाम लेकर दुलारा है कि – चन्द्रमा, इदु, सोम, हिमकर, सुधाकार, शशाक, रजनीनाथ, तारापति –। बचपन मे मुझे अमरकोश का बडा भय लगा करता था। मेरे समान ही उससे भय खाये हुए अनेक लोग होगे। इसलिये इस नामावली को यहीं समाप्त कर देना ठीक है। हे न?

मै यह जानता हूँ कि मेरा चन्द्रमा का यह चुनाव पवित्रता के अनेक समर्थको को रुचिकर न होगा। वे एक दूसरे की ओर ऑखे मिचकाकर,

मुँह-के-मुँह मे ही कुछ पुटपुटायेगे। किन्हीं पुराणो के नामो का उच्चारण करेंगे और कहेगे, – 'छि! कलक लगा है उसमे। ऐसी कलकित वस्तु को सौन्दर्य के सिंहासन पर बैठाएँ? छि, छि! अब्रह्मण्यम्!' बेचारो को यह कल्पना ही नहीं होगी कि यह कलक ही चन्द्रमा का सब से बडा भूषण है। जब विश्व का निर्माण हुआ, तब सारी वस्तुएँ चन्द्रमा से अत्यन्त ईर्षा करने लगीं। उस समय अपने लाडले को कही दीठ न लग जाये, इसलिये सृष्टि-माता ने उसकी दीठ उतारी और उसे यह दिठौना लगा दिया है। विशेष गुण के बिना क्या कोई सब की ईर्षा का विषय हो सकता है? यदि आप चाहें तो आज के अनेक साप्ताहिक पत्रो से पूछ लीजिये। जिनकी वे हर समय कडी आलोचना करते है, वही मनुष्य अधिक लोकप्रिय होते हैं।

हमारे रसिक सस्कृत कवियो ने चन्द्रमा के विषय के सकेत भी, देखिये, कितने सुंदर कल्पित किये है। चन्द्रमा मदन का सखा है। वैसे देखा जाये, तो वसत मदन का अधिक प्रिय मित्र है। लेकिन क्या चन्द्रमा भी बारह महीनो हँसनेवाली मूर्तिमान वसत ऋतु नहीं है? यदि चतुर्थी की चाँदनी पृथ्वी को नव-पल्लवो से सजा देती है, तो पौर्णिमा की चाँदनी चराचर को वासतिक उन्माद से उन्मत्त कर देती है। दूसरा चन्द्रकान्त का सकेत देखिये। चन्द्रोदय होते ही चन्द्रकान्त पसीजने लगता है। सौन्दर्य की यह कितनी महान् विजय है कि उसके दर्शन मात्र से ही पत्थर भी पिघल जावे! घर के छोटे बच्चे द्वारा आप ही आप दिया 'पापा', रमणी का चोरी चोरी लिया हुआ चुम्बन अथवा जेठे-सयानो द्वारा पीठ पर प्रेम से फेरे हुए हाथ का स्पर्श – इन सब का मनोहर सगम चाँदनी मे हो गया है, इस मे सदेह नही। चकोर का सकेत भी कोई कम आकर्षक नहीं है। आकाश से पझरनेवाले अमृत के लिये यह ध्येयवादी पक्षी इतने विलक्षण रूप से पागल रहता है कि पृथ्वी की सारी बातो को तुच्छ मानकर, वह चन्द्रमा की आतुरता से प्रतीक्षा करता रहता है।

चकोर के इस पागलपन पर कम से कम मुझे तो हँसी नहीं आती। दिव्य सौन्दर्य के लिये पागल हो जाना ही प्रतिभा है। जिसे चन्द्रमा ने

पागल न कर दिया हो, ऐसा कवि ही आज तक पैदा नहीं हुआ है। शेले उसके फीकेपन को देख कर यह तर्क करता है, कि वह प्रेम-विव्हल है। कालिदास यह कहता है, कि चन्द्रमा पर जो दाग है, वही उसकी शोभा को बढाता है। ऐसे समय यह बात पूर्ण रूप से जॅच जाती है, कि अपने प्रिय मनुष्य की सभी बाते हमें प्रिय लगती है। मुझ जैसे गद्य-प्रिय मनुष्य ने भी कुछ दिन पहले भाईदूज के चन्द्रमा का 'चन्द्रकोर नीरांजन, लावि रजनि चपल चरण'[१] कहकर वर्णन किया है। तो फिर कोल्हटकर[२] ने 'मूकनायक'[३] मे अष्टमी के चन्द्रमा की जो शोभा वर्णन की है वह कितनी आनदमयी होगी! 'चन्द्र चवथिचा'[४] अथवा 'चन्द्र कीं ग ढळला'[५] के समान अर्ध चरण भी हमारे मन को, सजीवनी मत्र से प्राण का सचार हो जावे, उस तरह अवर्णनीय सौन्दर्य से मोहित कर देते है। फिर, महल की खिडकी मे बेठी हुई रमणी और आकाश मे चमकनेवाले चन्द्रमा को देखकर, किसी सस्कृत कवि को यदि यह भ्रम हो गया, कि मै मयसभा मे हूॅ, तो आश्चर्य क्या है? उस के सामने यह समस्या उपस्थित हो गयी कि आकाश का चन्द्रमा सच्चा है अथवा खिड़की का चन्द्रमा सच्चा है? इसी समय आकाश के चन्द्रमा को ग्रहण लग गया। बेचारा खिडकी की ओर आशा से देखता है, तो केश-कलाप से रमणी का मुखचन्द्र भी ढक गया था। थोड़ी देर के बाद दोनों ग्रहण छूट गये। लेकिन इस से समस्या सुलझाने मे कवि को कोई बहुत सहायता न मिली होगी। 'श्यामसुदर'[६] उपन्यास मे, मॉ को छोडकर दूर गया हुआ श्याम लिखता है,– 'पौर्णिमा के दिन तुम वहॉ से चन्द्रमा को देखती जाओ। मै यहॉँ से देखता जाऊॅगा। इस से हम दोनो

१ 'चपल चरणवाली रजनी चन्द्रमा रूपी दीप जलाती है।'

२ श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर मराठी भाषा के एक विख्यात नाटककार।

३ एक नाटकका नाम।

४ चौथ का चन्द्रमा।

५ 'प्रिये, चन्द्र भी डूब चला।'

६ श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर का मराठी उपन्यास।

को भेट का आनद मिलेगा।' यह लिखना केवल काव्य नहीं है। सृष्टि मे, मानवी भावनाओ का पूर्णरूप से निकट का सखा चन्द्रमा ही है।

पुडरीक से मिलने महाश्वेता आधी रात को तरलिका के साथ गयी तब चन्द्रमा ने ही उसे मार्ग दिखाया। बचपन से हमने जिसे बड़ी रुचि से देखा है, उस मृच्छकटिक का ही उदाहरण लीजिये। वसतसेना को घर पहुँचाने लिये दीये की जरूरत होती है। लेकिन चारुदत्त का नौकर कहता है, 'महाराज, घर मे तेल की एक बूँद भी नहीं है। तब दीया कैसे जलाऊँ?' किन्तु घर यद्यपि स्नेह-शून्य था, फिर भी चन्द्रमा वैसा नहीं था। वह चटसे ऊपर आ जाता है और दरिद्री चारुदत्त गाने लगता है—

'रजनिनाथ हा नभीं उगवला
राजपथीं जणु दीपचि गमला
नवयुवतीच्या निटिलासम किति
विमल दिसे हा ग्रहगण भोंवति
शुभ्र किरण घन तिमिरीं पडति
पंकीं जेवि पयाच्या धारा।'[१]

चन्द्रमा बचपन से हरएक का मित्र होता है।

'चांदोबा चांदोबा भागलास का,
निंबोणिच्या झाडामागें लपलास का।
निंबोणीचें झाड करवंदी,
मामाचा वाडा चिरेबंदी।'[२]

१ 'चन्द्रमा आकाश मे निकल आया है जो राज-पथ पर दीप के समान प्रतीत होता है। ग्रहगणो से घिरा हुआ यह चन्द्रमा नवयुवती के ललाट की तरह कितना निर्मल दीख रहा है? घने अँधेरे मे उसकी शुभ्र किरणे इस तरह पड़ रही है जैसे काले पक पर दुग्ध की धाराएँ हो।'

२ 'हे चदा मामा, तुम थककर नीम के दरख्त के पीछे क्यो छिप गये? नीम का दरख्त करोंदे का दरख्त हो गया है और हमारे मामाजी का बाडा पत्थर की पक्की दीवालो का बना दीख रहा है।'

यह गीत जब बचपन मे मैंने पहली बार सुना तो निबौरी को करौंदे मे तबदील कर देनेवाले इस जादूगर के प्रति मेरे हृदय में विलक्षण प्रेम-भाव उत्पन्न होने लगा । इसलिये कि अपने सगमरमर के बने महल से मामा एक बार तो नीचे उतर आवे, और मेतकूट[1] मे सने हुए मेरी थाली के भात का कम से कम एक मीठा कौर खा ले, मै कितनी ललचाई हुई ऑखो से उसकी ओर देखा करता था। आगे चलकर खेल के बाद देर से घर लौटते समय जब अँधेरे का भय मेरे मन मे समा जाता, तब चन्दा मामा आकाश के किसी कोने से मुझ से यह कहकर हिम्मत बधाता – 'बेटा, डरो नही, रोओ नहीं।' और मेरा साथ दिये बिना नही रहता। मेरे कॉलेज के दो वर्षो मे व्यावहारिक आपत्तियो के भूत मुझे इस तरह डराते कि कई बार रात-रात-भर मेरी ऑख से ऑख नहीं लगती थी। ऐसे समय, मैं कमरे से बाहर जाता, तो चन्द्रमा अपने शीतल करो से मुझे सहलाता हुआ कहता – 'देखो, जरा उस पार देखो। वृक्षों की छाया के साथ चॉदनी किस तरह खेल रही है? जीवन की आपत्तियो से क्या मनुष्य को भी इसी तरह नही खेलना चाहिए?'

वाद्यो के कुहराम और पडितों के आलाप का पार्श्व-सगीत आरभ होने के बाद गोरज मुहूर्त पर मेरा विवाह हुआ। उस समय मुझे यह भ्रम हुआ जैसे शान्त चॉदनी रात ही मेरे आसपास फैली हुई है। परतु इस चॉदनी को देखने के लिये—

'जलवलयाचे तरल रुपेरी नूपुर पदिं बांधुनि
खळखळत गुंग झरा नर्तनीं
पांढरा पारवा हूं हूं कोठें करी
क्षण मंद वायुनें लता हले कांपरी
जणु शान्तताच ही निःश्वसनातें करी
लपत छपत विधुकिरण खेळती हिरव्या पानांवरी।'[2]

---

१ दही मे मिलाकर बनायी चटनी।

२ 'जहाँ पैरों मे जल-वलयो की तरल पैजनियाँ पहनकर निर्झर अपनी ही

ऐसे गधर्व-सृष्टि मे मुझे नहीं जाना पडा । गृह-प्रवेश के समय ही मुझे पता चल गया कि मेरी पत्नी की ऑखो मे ही चॉदनी का स्रोत विद्यमान है । हॉ, पर अब वह आपसे जान बूझकर ही यह कहेगी कि वह चॉदनी मेरे मन मे की थी । मै उसका जरा भी विरोध न करूंगा । लेकिन 'चोर के मन मे चॉदनी' वाली कहावत का धीरे से उसे स्मरण जरूर दिला दूंगा । फिर देखियेगा – देखने की जरूरत ही, क्या होगी? चॉदनी पर आप ही आप अधिक बहार छा जायेगी ।

यह सच है कि जब से मेरे घर मे दो चन्द्रमाओ का उदय हुआ है, तब से आकाश के चन्द्रमा की ओर देखने मे आजकल मै कभी कभी टालमटूल करने लगा हूँ । लेकिन मै यह नहीं भूला हूँ कि बूढ़े शकर बाबा ने उसे अपने मस्तक के ऊपर अत्यन्त आदरपूर्वक स्थान दिया है । कर्मशूरता की उम्र बीत जाने पर, दुनिया मनुष्य की उपेक्षा करने लगती है । मैने बडे बडे लोगो के विषय मे यह देखा है कि अहकार से ग्रसित हुए मनुष्य की ढलती हुई अवस्था मे यह उपेक्षा कितनी दुःसह होती है । मुझे लगता है कि ऐसी मनःस्थिति मे चन्द्रमा की तरह मनुष्य को सतोष देनेवाला तत्त्वज्ञ दूसरा कोई नहीं है । उदय हो रहे सूर्य की लोग पूजा करते है और अस्त हो रहे सूर्य को भक्तगण अर्घ्य देते है । लेकिन उनकी दृष्टि मे अँधेरे मे शान्ति से प्रकाश देनेवाले चन्द्रमा की कोई प्रतिष्ठा नहीं । आधी रातके बाद आकाश मे प्रसन्न मुखसे प्रवास करनेवाले चन्द्रमा से मुझे कई बार ईर्षा हुई है । अनेक बार मन मे आता है – जीवन मे इस प्रकार प्रवास करना क्या मुझे भी कभी सिद्ध हो सकेगा?

शायद धूप और वर्षा की तरह, चॉदनी का जग को प्रत्यक्ष कोई उपयोग न होता हो । किन्तु मुझे लगता है, कि चन्द्रमा के बिना जग का काम कभी न चलेगा । बुद्धिवाद का कितना ही उत्कर्ष क्यो न हो

धुन मे कलकल निनाद करता हुआ बह रहा है, श्वेत कपोत कही पर मस्ती से हू हूं आवाज कर रहा है । मद वायु का झोका लता को कॉप रहा है । ऐसा लगता है जैसे शान्ति ही श्वासोच्छ्वास ले रही है और जहॉ लुकछिपकर चन्द्रमा की किरणे हरे पत्तों पर खेल रही है । '

जावे, पर अन्त में भावनाओ से ही जीवन को शीतलता प्राप्त होती है। मोतीलाल और जवाहरलाल के हँसते हँसते जेल जाने के वर्णन रोमहर्षक है, इस में संदेह नहीं। लेकिन यह मालूम होते ही कि जवाहरलाल जेल जायेंगे, अपने कमरे के फर्श पर मामूली दरी बिछाकर सोये हुए मोतीलाल के मन मे जो बेचैनी हो रही थी उसका वर्णन, इन वर्णनो से कम हृदयस्पर्शी है, ऐसा कौन कहेगा? महर्षि कर्वे[1] दशो दिशाओ को गुंजा देनेवाले भाषण नही दे सकते। लेकिन हिंगणे की भूमि के एक एक पत्थर को उन्होने जो वाचा प्रदान कर दी है, वह क्या भावनाओ की उत्कटता के बिना? गाधीजी के हाथ में दाडी यात्रा के समय जो दण्ड था, वह हमारे भारत के लिये किसी भी राजदण्ड की अपेक्षा अधिक वदनीय लगता है, सो क्या यो ही? जब सेनापति बापट[2] प्रसन्न मुख से सडकें साफ करने लगते हैं, तब क्या हमे यह नहीं लगता कि जनाबाई के पिसान की भगवान विठ्ठल के द्वारा पीसे जाने की जो अद्‍भुत कथा है, वह एक दृष्टि से सच है?

भावना ही जीवन की चाँदनी है। चॉदनी मिट्टी के घर पर सगमरमर का साज चढा देती है और बबूल के पेड़ को नदनवन के हरसिगार के बराबर मोहकता प्राप्त करा देती है। है न? यह पुरानी कल्पना कि अमावस के दिन ही सारे भूत बाहर निकलते है, पूर्णरूप से अर्थ-शून्य नहीं है। यदि चॉदनी मे भूत-पलीत बाहर निकले, तो उनका तुरंत यक्ष-गधर्वों में ही रूपान्तर हो जायेगा।

मुझे एक विचित्र स्वप्न बार बार दिखा करता है। उसमे प्रलय का भयकर दृश्य दीखता है। गगनचुम्बी गिरिशिखर मिट्टी मे मिल रहे हैं, आकाश के तारे ओस की बूँदो की तरह टप् टप् नीचे गिर रहे है, राजप्रासादों और देवालयों के कलश, अजस्र विमान और प्रचण्ड तोपे लकड़ी के टुकडो की तरह पानी की राक्षसी तरगो मे गिरकर डूब रही

१ धोंडो केशव कर्वे: महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध वयोवृद्ध समाज-सेवी जिन्होंने स्त्रियों की शिक्षा और सुधार के निमित्त अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया।

२ महाराष्ट्र के एक कर्मठ समाज सेवी और नेता।

है – उस दृश्य की भव्यता की अपेक्षा उसकी भयानकता का ही प्रभाव मेरे मन पर अधिक पडता है। इसी समय कहीं से भावुक शब्द मेरे कानो मे पडते है – ' डर नही। तू अपनी पसद की एक वस्तु का नाम ले। तू और तेरी वह वस्तु दोनो सुरक्षित रहेगे। '

मै तुरत ही चन्द्रमा का नाम ले देता हूँ।

यह स्वप्न है सही। लेकिन यह तो आप भी स्वीकार करेंगे कि उस मे बहुत अर्थ भरा हुआ है। एक कथा है जिस मे किसी अधी बुढिया ने भगवान से यह वरदान मॉगा था कि मै अपने नाती के सिर पर छत्र और चॅवर को डुलते हुए देखूँ। उसी तरह की मॉग यह भी है। एक चन्द्रमा के कारण सारी सृष्टि का पुनर्जन्म हो सकता है। मै उस कल्पना के कारण यह नहीं कह रहा हूँ कि उसकी किरणो मे अमृत है। पूर्ण तर्कशास्त्र की दृष्टि से देखिये। यदि प्रलय में चन्द्रमा सुरक्षित रहा तो सूर्य को जरा भी धक्का लगने की सभावना नहीं है। क्योकि सूर्य के बिना चन्द्रमा कैसे प्रकाशित होगा? सूर्य की किरणो के कारण पृथ्वी का पानी आकाश मे जाकर मेघ का रूप धारण करेगा और उचित समय पर पानी बरसेगा। फिर यह कहने के लिये किसी ज्योतिषी की जरूरत नही है कि आप ही आप घास से लेकर देवदार तक सारी वनस्पति पैदा होगी, इत्यादि इत्यादि। यह बात नहीं है कि चन्द्रमा के कारण सारी निर्जीव सृष्टि ही इस तरह निर्मित होगी। बल्कि, मुझ जैसे पृथ्वी पर अकेले भटकनेवाले सिर्फ एक ही पुरुष को देखकर, चन्द्रमा बेचैन हो जायेगा और फिर मदन अपने मित्र के सतोष के लिये साथिन के रूप मे उस के लिये एक रमणी निर्मित करेगा और फिर —

फिर पृथ्वी पर सर्वत्र चॉदनी ही चॉदनी खिल जायेगी।

२

झगड़ा

ल्यूकास का छोटासा लेख है वह। किसी क्लब के एक बूढे-से महाशय कुछ दिन गैरहाजिर थे। हजरत कहाँ गायब हो गये थे इसका किसी को भी पता न था। बहुत दिनो के बाद उनके दर्शन होते ही किसी ने कुतूहलवश उनसे पूछा, – ‘ आप क्या बीमार थे, साहब ? ’

ढलती उम्र के मनुष्य से इसके सिवाय दूसरा कौनसा प्रश्न पूछा जाये ? परतु उपरोक्त महाशय की बीमारी से कट्टर दुश्मनी थी। उन्होंने अकडकर जवाब दिया, – ‘ सफर पर गया था, जनाब ! ’

आश्चर्यचकित दर्शको मे से प्रसग का अवधान रखकर एक ने कहा, – ‘ रेल से ही गये होगे ? ’

‘ जी नहीं। मोटर से गया था ! ’

यह दूसरा आश्चर्य था। बूढ़े महाराज मज़े के लिये मोटर से सफर करते है !

इस धक्के से भी चित्त की शान्ति को विचलित न होने देनेवाला श्रोता भी वहाँ मौजूद था। उसने प्रश्न किया, – ‘ अकेले ही गये होगे ? ’

‘ जी नहीं, साथ में मेरी माताराम भी थीं। ’

इस समय दुनियाके सारे अचरज यदि श्रोताओ के चेहरो पर आकर एकत्रित हो गये हो, तो आश्चर्य क्या है ? उपरोक्त महाशय की माताजी अभी जिदा हैं और वे बड़े शौक से मोटर का सफर करती हैं ! ताजमहल, पिरैमिड सब कुछ झक मारते हैं उनके आगे !

भौचक्के हुए तरुण श्रोताओ की समझ मे न आ रहा था कि आगे कौनसा प्रश्न पूछे। लेकिन उन महाशय के हमउम्र के ही एक दूसरे सज्जन फुर्ती से आगे बढे और बोले, – ' आपकी माँ की उम्र क्या है, साहब ? '

' एकानबे । '

विजयानंद से दूसरे सज्जन बोले, – ' मेरी माताजी बयानबे वर्ष की है। '

बस, इतना काफी था। दोनो मे होड़ शुरू हो गयी। दोनो ने एक दूसरे से कसकर जिरह की। फौज मे भरती होनेवाले नवजवान सिपाही के स्वास्थ्य की भी जितनी बारीकी से पूछताछ न की जाती होगी, उतनी नब्बे से अधिक बरसाते देख चुकनेवाली इन बुढ़ियो के स्वास्थ्य की हुई। एक अच्छी तरह से चल-फिर सकती थी, लेकिन बिना ऐनक के देख नही सकती थी। दूसरी बिना ऐनक लगाये सूजी मे धागा पिरो लेती थी, परंतु उसके कानपुर प्रदेश मे अकाल पड गया था। दोनो ने एक दूसरे की माताओ के दोषो की बड़ी बारीकी से छानबीन की, परतु बहस का कोई निर्णय नही हो सकता था। दोनो पलडे समसमान दीखने लगे। अन्त में इस गरज से कि मेरे पलडे का वजन कुछ बढे, दूसरे सज्जन ने कहा, – ' मेरी माँ अपने अडतीस पोता-पोतियो की पढाई के बारे मे अक्षर अक्षर पता रखती है। '

' कितने पोता-पोती कहा आपने ? ' – पहले महाशयने प्रश्न किया।

' अड़तीस । '

पहले महाशय ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, – ' मेरी माताराम के बावन पोता-पोती है। "

अब इस बात के सिवा कि इसके आगे हरएक की माताराम के लिये दवाओ पर कितना खर्च होने वाला है, इस बहस को आगे बढ़ने की कोई

गुजाइश ही नहीं रह गयी थी। शायद कुछ लोग यह कहें कि दोनो बुढियो की कुश्ती लडवा देनी थी और इस बहस का फैसला कर लेना था! लेकिन एक बिना लाठी के चल नहीं सकती थी और दूसरी को कम दीखता था। इसलिये यह कहना कठिन है कि इस कुश्ती को कौनसा स्वरूप प्राप्त होता!

ल्यूकास के द्वारा वर्णित माताओ के विषय की इस लडाई को पढते समय मुझे हॅसी आये बिना न रही। 'एकच प्याला'[१] मे डॉक्टर को मात देने के लिये वैद्यराज जब 'तीन दिन मे ही रोगी को मुर्दा कर देता हूॅ' कहकर गरजते है, तब क्या किसी का भी चेहरा निर्विकार रह सकता है? लेकिन यह बात थोडे ही है कि सिर्फ हॅसाने के लिये ही लेखक इस तरह के पात्रो की निर्मिति करता है। अपने विषय मे अध अभिमान रखने वाली मानवी मनोवृत्ति ही क्या पद-पद पर इस विनोदी परदे की ओट से झॉककर नहीं देखती?

ल्यूकास के लेख के झगडालू वृद्ध मातृ-भक्त है। लेकिन मातृ भक्ति की तरह सन्तान-वात्सल्य भी इस प्रकार के झगडो को स्फूर्ति दे सकता है। कुछ दिन के पहले ही मुझे इसका अनुभव हुआ। पडोस-धर्मका पालन करने की वजह से हो अथवा और किसी कारण से हो, यह मै नहीं कह सकता। परतु मेरे पहचान की दो पडोसिने करीब करीब एक ही समय प्रसूत हुई। एक का लडका निरा हड्डियो का ढॉचा था जैसे चचीडा। दूसरी का लड़का कद्दू की तरह गोल-मटोल था। मुझ जैसे तटस्थ को एक की कृशता और दूसरे का मुटापा देखकर हॅसी आती। परतु वे दोनो माताऍ अपने अपने लडको के शरीर-सौष्ठव की वकालत करते समय पहले रोने पर और फिर लडने पर उतारू हो जाती। हड्डियो के ढॉचेवाले लडके की माता गाधीजी के समान लोगो के उदाहरण पेश कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करती कि दुनिया मे सींकिया पहलवान ही श्रेष्ठ पुरुष होते है। मुटल्ले की माताराम को भीम और महाबीरजी जैसे देवताओ के उदाहरण मिल सकते थे। लेकिन वे किसी पुस्तक मे पढी हुई बच्चो के वजन की

१ 'एक ही प्याला'. राम गणेश गडकरीजी का मद्य के दुष्परिणाम पर लिखा गया मराठी नाटक।

सारिणी को मुखाग्र कहकर ही सतोष कर लेती थी। इस बहस के कारण उन दोनो माताओ का काफी व्यायाम हो जाता और अडोस-पडोसवालो का भरपूर मनोरजन हो जाता था। लेकिन इस दगल का अन्त क्या होगा, यह कोई नयी सूझवाला लेखक भी न कह सकता! परतु कहते है न? 'भगवान की करनी और नारियल मे पानी!' मुश्किल से डेढ वर्ष ही गुजरा था कि वही दो माताएँ फिर एक ही समय प्रसूत हुईं। मुटापा का समर्थन करनेवाली माँ को इस बार कृश बच्चा पैदा हुआ। इसलिये यह कहने की ज़रूरत नहीं कि उसकी राय क्षणार्ध में बदल गयी।

रुक्मिणी और सत्यभामा के घरेलू झगड़े हों, अथवा वसिष्ठ और विश्वामित्र का दरबारी कलह हो, दिखाई यही देगा कि उनकी जडे मनुष्य की अध आत्मनिष्ठा मे ही होती है। सत्यभामा के घर के आँगन मे हरसिंगार का पेड लगाकर कृष्ण ने यह चतुराई भले ही की हो कि उस के फूल रुक्मिणी के घर के आँगन मे गिरे, परतु इस चतुराई को कृष्ण पर ही उलट देने के लिये अगर सत्यभामा बडी सुबह उठ कर रुक्मिणी के आँगन से सब फूल चुन कर ले आती, तो क्या काम न हो जाता? पर हाँ, इस के कारण उन के झगडालू अहकार का सतोष कैसे होता? वसिष्ठ और विश्वामित्र का झगड़ा तो केवल एक शब्द के लिये ही हुआ। वसिष्ठ विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि कहने के लिये तैयार नही होते थे। बेचारे को यह कल्पना न होगी कि बीसवीं शताब्दि मे सब प्रकार के ऋषि कितने सस्ते हो जायेगे! वरना, एक शब्द के लिये कुटुम्ब और कामधेनु पर पानी छोडने के लिये वे कदापि तैयार न होते। पर हाँ, यदि वैसा हो भी जाता, फिर भी यह कलह किसी दूसरे विषय के लिये होता, इस मे सदेह नहीं।

झगडे का भविष्य कोई कथन नही कर सकता। कुछ दिन के पहले का मोटर का मेरा ही अनुभव लीजिये। मेरी दायीं ओर बैठे हुए महाशय कोकण के थे। बायी ओर के महाशय की सारी जिंदगी 'घाट'[१] पर बीती थी। लाचार होकर किसी काम के निमित्त वे कोंकण आ रहे थे।

१ सह्याद्रि पहाड़ के उस पार वाले भाग।

बेलगॉव के पीछे छूटते ही उन्होने कोकण निन्दा का श्रीगणेश कर दिया। बोले,–'सुनता हूँ, बडी भयकर झाडियॉ होती हैं आपके कोकण में! और सर्प तो पद-पद पर पैरो तले आ जाते है। ऊपर से भूत-पिशाचो का जमघट! और वहॉ के आदमियो का क्या पूछना है? बस, नाम से आदमी है। घुटने तक मोटी धोती पहन कर नाक से लगातार बोलते रहते है!'

जब बायीं तरफ का महाबीर इस तरह जाग्रत हो गया, तब दायी ओर का बेताल थोडे ही चैन से बैठ सकता था? वह था कोकण का कट्टर अभिमानी। वह चिल्लाया,– 'मै भी जानता हूँ तुम्हारे देश को। जहॉ तहॉं बोलने वाले पहाड भर देख लो वहॉ। और धूल? मेहमानों को तुम जैसे मक्खीचूस और दूसरी क्या चीज खिलायेगे वहॉ? वे मुहर्रमी सूरत वाले तुम्हारे गॉंवो के घर! कभी नहाते भी है वहाँ के लोग?'

दोनों तोपखाने एकदम शुरू हो गये! बीच मे बैठा हुआ मै ज़रूर मन-ही-मन हॅसने लगा। कोकण और सह्याद्रि के साधारण मनुष्य को दीखने वाले विविध सौन्दर्य उलट-पुलटकर मेरी ऑखो के सामने नाचने लगे। नारियल और सुपारी के जॅगलो में रमते हुए जो आनद आता है, क्या वही अनुभव हमे पॉच छः फूट ऊॅची जवार के खेतो में से सरसर जाते हुए अथवा गन्ने के खेत मे ऑख-मिचौली खेलते हुए भी नही होता? क्या अमसूल[1] का शरबत पीते समय अथवा क्या गुड बनने की जगह जाकर 'राब'[2] चखते समय मुँह मे पानी बराबर नहीं भर आता है? यह कौन कहेगा कि पीली बोडियो से लदा हुआ काजू का पेड़ पके अमरूदों से सुशोभित पेड की अपेक्षा कम सुदर दीखता है? समुद्र मे तूफान आया है और नदी मे भयकर बाढ आयी है। लेकिन दोनो दृश्य निसर्ग के भव्य, पर सुंदर स्वरूप का समान रूप से ही ज्ञान करा देते है। पहाडो की झाडियो के जाल से करोदे खोज कर लाने, और मूॅगफली के

१ 'रातंबी' नामक पेड़ की खट्टी छाल जो सूखाने पर कुसुभी रग की हो जाती है। कोंकण मे इसकी पैदाइश बहुत होती है।

२ गन्ने के रस का कच्चा उबाल।

खेत मे जाकर वहॉ से कच्ची मूॅगफलियॉ खोद कर निकालने मे, अधिक आनद किस में है, यह कहना ही सभव नहीं है। घने जंगल से आधी रात के समय गाडी हॉकते हुए सह्याद्रि का गाड़ीवान जो गीत गाता है, उस की मोहिनी को वही ठीक तरह से समझ सकता है, जिसने जाल लेकर किश्तियो मे बैठे हुए धीवरो के मुॅह का सगीत सुना होगा। घाट का कृषक पथिक को बड़े प्रेम से हरा चना देता है, तो कोकण का उस का बन्धु उसे कच्चा नारियल देकर उसकी खातिरदारी करता है।

मेरे मन मे चल रही इस सुदर तुलना का उन वादविवाद-पटुओ को तनिक भी पता न था। वे लगातार लड ही रहे थे! वैसे देखा जावे, तो एक तरह से वह ठीक ही था। मनुष्य-स्वभाव के लिये दवा कहॉ मिलेगी? राष्ट्रसघ के सदस्यो से लेकर पानी के नल पर झगडनेवाली औरतो तक सब लोग एक ही माला की गुरियॉ है!

कुछ दिन पहले भारत की क्रिकेट टीम अॅग्लैड गयी हुई थी। उस समय मेरी तरह ही अनेक लोग भी इस समस्या को अभी तक हल नहीं कर सके होगे कि हमारी टीम वहॉ खेलने गयी थी अथवा झगडा करने? शाकाहारी मनुष्य जब मासाहारी मनुष्य से बहस करने लगता है तो मै हमेशा ही डर जाता हूॅ। यह बात छोड़ दीजिये कि बहस के जोश मे दॉत होठ चबा कर वह अपने तत्त्व को सूक्ष्म दृष्टि से ताक पर रख देता है। लेकिन आगे चल कर वह इतना प्रमादी हो जाता है कि मासाहार से घिन होते हुए भी ऐसा लगने लगता है कि कहीं यह शख्स प्रतिशोध से भीम की तरह अपने प्रतिस्पर्धी के प्राण न ले ले?

इसलिये जब कोई बहस शुरू होती है ओर उसमे जो लोग सिर्फ तत्त्वबोध के लिये ही लडने की इच्छा रखते है उन पर मुझे मन-ही-मन हॅसी आती है। लेकिन कोई मुझ से यह न पूछे कि उन पर हॅसने का मुझे क्या अधिकार है? बचपन मे एक बार शाला के एक साथी से इस विषय में, कि शाला जाने वाली दो सडको मे से नज़दीक की सडक कौनसी है, मेरी बहस छिड गयी और नतीजा यह हुआ कि मै अपने उस मित्र से तीन साल तक न बोला। गनीमत थी कि उस समय यह प्रश्न हमारे

सामने खड़ा न हुआ कि सडक की लबाई किस तरह नापी जाये। वरना, सारिणी की पुस्तक खोलकर देखने की एक आफत मुझ पर आ जाती। जब कॉलेज मे था तब शायद ही ऐसा कोई दिन आया होगा जब कि हमने आधी रात तक तेल न जलाया हो। आज क्या, तो बहस छिड गयी इस विषय की – कि तिलक श्रेष्ठ या गोखले श्रेष्ठ ? दूसरे दिन यह प्रश्न धुना जाने लगा कि कोल्हटकर और खाडिलकर[१] में अधिक अच्छा लेखक कौन ?

लीजिये, तीसरे दिन इसी की चर्चा होने लगी कि सब प्रोफ़ेसरों मे सब से रद्दी कौन पढ़ाता है ? किसी दिन इस पर बहस होने लगी कि विद्यार्थिनियो मे सब से अच्छी कौन है ? (जो यह कहते हैं कि मराठी भाषा विविध अर्थों को अच्छी तरह प्रकट नहीं कर सकती, अब उनसे क्या कहा जाये ?) एक नहीं दो नही, बल्कि मुश्किल से शायद एकाध दिन कभी ऐसा जाता हो जब कि हमारी बहस के लिये कोई विषय न मिला हो। उस बहस के वक्त मैं बिलकुल नसें फुला-फुलाकर लडता था। आज बीस वर्ष के बाद जब मुझे उन प्रमाणो की याद आती है जिन्हे उस समय मै अपने पक्ष मे पेश किया करता था तो लगता है कि लज्जा से अपना सिर झुका लूँ। तिलक और गोखले ! – दोनो विशाल समुद्र। हम अपनी कागज की नावों से उसका विस्तार नापने चले थे ! कोल्हटकर और खाडिलकर ! दोनो महाराष्ट्र-शारदा के उद्यान के कल्पवृक्ष ! उसके छिलके निकालकर उस पर से हम उनके फलों का माधुर्य अजमा रहे थे ! सच, गतजीवन के सारे वादविवादो और झगडो को देखता हूँ, तो डारविन साहब का मनुष्य के विषय का सिद्धान्त असत्य लगने लगता है। बन्दर के बदले बिलौटा ही मनुष्य का पूर्वज अधिक शोभा देगा, इस में संदेह नहीं।

'मनुष्य जब तक जग के रग के बदले अपने ही रग से रग रहा है, तब तक दुनिया में झगडो पर भी रग चढता रहेगा। मै कल पत्नी से

१ खाडिलकर : कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर – मराठी भाषा के प्रसिद्ध नाटककार और पत्रकार।

क्यो लडा यह मै आज न कह सकूँगा। परतु लडा और खूब लड़ा, यह जरूर सच है। अलावा इसके मनुष्य व्यर्थ ही न लड़े इसलिये ल्यूकास के लेख के उन दो वृद्ध सुपुत्रो पर हँसने से क्या लाभ है? यदि कोई कलाकार 'कला के लिये कला' का समर्थन करते हैं, तो 'झगडे के लिये झगडा' तत्त्व को भी क्यो गरदन झुका देनी चाहिए? उसे तो जनता का हमेशा ही जोरदार समर्थन प्राप्त होता रहता है!

●●●

३

गूलर के कीड़े

मै मोटर-स्टैंड पर आया, अपने जेब टटोलकर देखे और एकदम चौंका। उस समय यदि किसी कहानी-लेखक की नजर मुझ पर पड़ जाती, तो वह यही समझता कि मै अपना 'मनीबैग' घर भूल आया हूँ। लेकिन कहानी-लेखक कोई छोटा बालक अथवा पुलिस से डरनेवाला बुद्धू देहाती नहीं है जो इतना समझने के उपरान्त चुप बैठ जावे। क्योंकि इस तरह की समझ उसकी उन्मत्त कल्पनाशक्ति को प्राप्त होने वाली मदिरा होती है। वह कहानीकार इस प्रसग को लेकर एक बढ़िया कहानी लिख डालता। उस कहानी में मै होता नायक। उसी मोटर से सफर करने के लिये कोई सुन्दर तरुणी (इसका वर्णन सन् १९३३-३४ के किसी भी उपन्यास या कहानी मे मिल जायेगा।) वहाँ आयी होती। वह मीनाक्षी या मृगनयनी मेरे मस्तक पर फैले हुए शिकनो के जाल की ओर देखकर डर जाती क्या? जी नहीं। इसके विपरीत, वह अपनी दृष्टि से यह दर्शाती हुई ही मेरी ओर देखती जैसे 'डोळे हे जुल्मी गडे'[1] गीत ही वह गुनगुना रही है। यह देखकर कि किसी बैठक के अभाव मे उसे खडी होना पड रहा

१ 'प्रीतम, तुम्हारी आँखें बड़ी कातिल है।'

है, मै फौरन के पेश्तर ' दे हाता या शरणांगता '[१] गीत का अभिनय करते हुए अपनी कुरसी को आगे बढा देता । फिर क्या था ? परिचय – स्नेह – प्रेम – विवाह ? सिर्फ चार मजिल की इमारत ! व्यवहार दशा मे पैदल चढना पड़ता है । इसलिये चौथी मजिल तक पहुँचते पहुँचते नाक मे दम आ जाता है । लेकिन कहानीकार के प्रतिभा रूपी बिजली के ' लिफ्ट '[२] मे बैठ जाने पर पेट का पानी भी हिले बिना नायक और नायिका चौथे मजिल पर (याने स्वर्ग ही) क्षणमात्र मे पहुँच जाते हैं ।

मैंने उसे कुरसी दी (अभी तक एक दकियानूसी की तरह मै उस तरुणी को ' उसे ' कह कर ही संबोधित कर रहा हूँ । लेकिन इस सर्वनाम का विशेषनाम मे रूपान्तर कब होगा ? उस तरुणी का नाम वह भाग्यशाली कथा-लेखक ही जानता होगा । ऐसे वक्त ही हमारी समझ मे आ जाता है कि पुराने ज़माने मे पति-पत्नी एक दूसरे का नाम लेकर क्यो नहीं पुकारते थे ।) इसलिये वही दोनो के टिकट खरीदती है । फिर मै उस पर मनीबैग के घर भूल आने का रहस्य प्रकट करता हूँ । तब वह खिलखिलाकर हँस पडती है ।

' इन पैसो को वसूल किये बगैर न रहूँगी मै ! ' – वह मजाक से कहती है ।

मै मन में कहता हूँ – ' ठीक है । दहेज मे जो दो हजार मिलने वाले है, सो सिर्फ एक हजार नौ सौ निन्नानबे रुपये आठ आने ही मिलेगे । ' आगे यदि यह कह दूँ कि मोटर के टप की विवाह-वेदी बनती है, टायरों की मालाएँ बन जाती है और प्रवासी पुरोहित बन जाते है तो कोई आपत्ति नहीं । क्योंकि तुरत ही मेरा उस तरुण सुदरी से विवाह हो जाता है । विवाह के समय मेरा एक मित्र, जो प्रोफेसर पटवर्धन का एक मुख्य शिष्य होता है, धीरे से मेरे कानो में कहता है, – ' च्यामथैली'[३] गुम गयी इसलिये... '

१ ' इस शरणागत को तू अपना सहारा दे । '

२ झूला ।

३ मनीबैग ।

'इसलिये यह सजीव चामथैली मिल गयी। यही तुम्हारा मतलब है न?' – मैं प्रश्न करता हूँ।

इस प्रश्न को सुनकर वह विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देखती है।

मै उत्तर देता हूँ, – 'इतनी रूठती क्यो हो, रानी? गृहलक्ष्मी क्या मनीबैग ही नहीं है! दोनो का पैसों से निकट का नाता होता है।'

हाँ, पर ये सारी बाते तो मुझे जेब टटोलते हुए देखनेवाले कहानीकार की कल्पना-सृष्टि की हुई। वस्तुस्थिति दूसरी ही थी। मैंने मनीबैग के लिये अपने जेब नहीं टटोले थे, बल्कि एक पुस्तक को देखने के लिये टटोले थे। मैंने एक नियम बना लिया था कि जब भी मोटर के सफर पर जाता तो अपने साथ एक पुस्तक जरूर ही रख लेता था। वरना, वक्त कैसे काटता? हमारी मोटरे इतनी नियमितता से छूटती है कि यदि राव साहब मंडलिक[1] इस ज़माने में होते तो वे अपनी घडी मोटर के एजिन पर पटक कर फोड ही डालते। नियत समय पर छूटने वाली मोटर, टयूशन न करनेवाले शिक्षक, इन्जेक्शन न देनेवाले डॉक्टर, दूसरी तारीख की पेशी न मॉगनेवाले वकील, उपन्यास न पढनेवाली कुमारी और लघुकथा न लिखनेवाले कॉलेज के विद्यार्थी की मालिका मे बिलकुल दुर्लभ चीज है। मेरे एक मित्र ने एक बार जब मुझ से कहा कि सात बजे छूटने वाली मोटर सात बजे ही छूटी, तो यह सुनकर मुझे इतना आश्चर्य हुआ कि कुछ न पुछिये!

मैंने निश्चयात्मक स्वर मे कहा, – 'अजी, तुम्हारी घडी बन्द हो गयी होगी!'

'सौ बार कान से लगाकर देखा था मैने। बिलकुल ठीक चल रही थी।'

'क्या कहते हो – मोटर ठीक सात को छूटी?'

'हॉ भाई, ठीक सात को। न एक मिनट पहले और न एक मिनट बाद!'

मेरा विश्वास था कि सूरज पूर्व के बदले पश्चिम मे भले ही निकल आये पर मोटर कभी अपने वक्त पर नहीं छूटेगी। मैंने कहा, – 'घड़ी

---

१ समय की पाबन्दी के लिये अपने समय के एक विख्यात महाराष्ट्रीय सज्जन।

पर मेरा भरोसा नहीं। सूरज ही दुनिया की घड़ी है। इसलिये यह बताओ कि जब मोटर चली थी, तब क्या वह निकल आया था?'

'हॉ, लेकिन दूसरी जगह से!'

'तुम्हारा मतलब? क्या पश्चिम मे?'

'अरे भले आदमी, सुबह सात को जो मोटर छूटने वाली थी वह शाम को सात बजे छूटी!'

'एक पौंड मास' शब्दो मे शायलॉक को पकड़नेवाली पोर्शिया पर नाटक लिखने के लिये शेक्सपीअर की तरह महाकवि ही की जरूरत पड़ी! 'मोटर ठीक सात बजे छूटेगी' शब्दो मे मुसाफिरों को पकडनेवाले मोटर के मालिक पर नाटक लिखने के लिये उतनी ही प्रतिभावाले लेखक की जरूरत है। इसलिये यद्यपि लिखने की स्फूर्ति हो गयी थी, फिर भी मैंने लेखनी न उठायी।

ऐसे अनुभवो से अक्ल सीख लेने के बाद ही मैंने यह तय कर लिया था कि मुझे जब भी कहीं जाना होगा, तब मै साथ मे एक पुस्तक जरूर रख लूँगा। वैसे यदि किसी मित्र को साथ मे लेता, तो उसका किराया अपने जेब से ही भुगतने का मौका आ जाता! साथ ही यह तो आप भी मानेंगे कि जल, थल, लकडी, पत्थर सब जगह पुस्तक पढनेवाले मनुष्य की ओर लोग आदर की दृष्टि से देखते है। लेकिन आज साथ मे पुस्तक न लाने की अक्षम्य भूल मुझ से हो गयी और जेब टटोलने के बाद यह विश्वास होते ही कि पुस्तक नहीं है, मेरी जो मनोदशा हुई, उसकी कल्पना केवल सुहागिन को ही हो सकती है! और वह भी चाहे जिस सुहागिन को नहीं, बल्कि उसी सुहागिन को जिसका हाथ गले पर जाते ही यह पता चले कि उसका मगलसूत्र गायब है।

स्टैंड पर बैठा हुआ शून्य दृष्टि से मै इधर-उधर देखता रहा। गरीब बाप अपनी सयानी बेटी को जिस तरह यह कहकर कि 'इस साल तो तेरा विवाह कर ही देना है', धीरज बँधाता है, उसी तरह 'बस, मोटर छोड़ ही रहे हैं' कहकर मोटर के मालिक हमे आश्वासन दिये जा रहे थे। लेकिन उनके 'अब' शब्द का अर्थ ब्रह्माजी के शब्दकोश का होगा!

ऊबकर मैंने दो-तीन बार रुमाल से मुँह पोछा। यह भी ध्यान से देख लिया कि हाथ की भाग्य-रेखा कुछ अधिक चमकती है क्या! कहते हैं कि यदि 'स्निग्धजन' हिस्सेदार हो तो दुःख कम होता है, इसलिये 'स्निग्धजन' को खोजने का भी प्रयत्न किया। किन्तु छिः! पुस्तक भूल आने की गलती कठिन ग्रहयोग के कारण ही हुई थी। मै स्टैड से उठा और चार कदम आगे बढ़ा।

यह कल्पना कि नरक और स्वर्ग एक दूसरे से सटे रहते है, उस समय मुझे जॅच गयी। थोडी दूर पर ही नारियल का बगीचा सूर्य की किरणो मे चमक रहा था। नारियल के उन छोटे पौधो की टहनियाँ, जो जड नही पकड रहे थे, ऐसी दीख रही थीं जैसे चिज्जी लेने के लिये छोटे बच्चो के द्वारा आगे फैलाये हुए हाथ हो। इस के विपरीत बडे नारियलो की टहनियॉ बच्चो को चिजी देनेवाली माताओं के हाथ की तरह झुकी हुई लग रही थीं। नारियल के पेड़ को कल्पवृक्ष कहते है। उस बाग को देखकर मुझे लगा – वह पूछ रहा है, 'अनतहस्ते कमलावराने। देता किती घेशिल दो कराने॥'[१]

नारियल के सुदर हरे हरे पत्तो पर चमकने वाली सूरज की किरणो का नृत्य देखते देखते, मै अपने आप को भूल गया। ऊपर सौम्य नील आकाश था और नीचे हरे हरे नारियलो के पेड। कितना सुदर चित्र! जैसे आनद का अखण्ड स्रोत ही हो। मुझे स्वय अपने आप पर ही क्रोध हो आया। सैकडो बार मुझे इस स्टैड पर प्रतीक्षा करते बैठे रहना पडा होगा। लेकिन हर बार पुस्तक खोलकर उसे पढते रहने का मेरा निश्चित कार्य-क्रम था। इस के कारण इतने समीप का यह सृष्टि-सौदर्य मुझे अपरिचित रहा था। मेरी हमेशा की वृत्ति यही रही कि मै भला और मेरी पुस्तक भली! परतु उस समय मुझे लगा कि पुस्तक जितना आनद देती है उस से दस गुना आनंद वह हम से जबरदस्ती छीन कर ले जाती है। अपने को पुस्तक का कीट कहलवाने मे मुझे आज तक एक प्रकार का

१ 'जब भगवान अपने हजार हाथो से देने लगता है, तब हम पामर दो हाथो से कितना लेगे?'

अभिमान मालूम होता था। अभी तक मेरी यही पक्की धारणा थी कि पुस्तक का कीट शहतूत की पत्तियाँ खाकर रेशम देनेवाले कीट की तरह होता है। लेकिन जब मुझे यह कल्पना हुई कि पुस्तकों की धुन में आज तक मे कितने प्रकार के सच्चे आनदो से वचित रहा होऊँगा, तब मुझे लगा कि पुस्तक के कीट का मतलब है निरा गूलर का कीड़ा !

पुस्तक और गूलर ! मुझे अपने बचपन की याद हो आयी। गणेशजी के मन्दिर मे एक गूलर का पेड़ था। उसके नीचे बहुत से गूलर झड़कर नीचे गिरा करते थे। एक दिन मैंने उन्हे बीन-बीनकर खूब खाया। माँ ने मुझ से कहा, – 'अरे, उन गूलरो में कीड़े होते है !'

दूसरे दिन जाकर मैंने एक गूलर फोड़कर देखा। उसमे नन्हे नन्हे असख्य कीडे बिलबिला रहे थे। उस के उपरान्त फिर मैंने कभी भी गूलर न खाया।

मोटर मे सवार होने पर हमेशा की तरह पुस्तक के पढे हुए भाग के विषय में चिन्तन करने का कोई कारण ही न था। सहज ही आसपास चल रहीं हर तरह की बातो की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हो गया। रास्ते मे एक सुदर स्त्री मोटर मे बैठी। थोड़ी देर के बाद फ्रन्ट सीट पर बैठे हुए एक चालीस वर्ष उम्र के महाशय को मोटर 'लगने' लगी। सच पूछा जावे तो पीछे जो सवारियाँ बैठी होती हैं उन्हे मोटर 'लगना' चाहिये। लेकिन उस सुदर चेहरेवाली तरुणी के चरण ही अशुभ थे। मोटर के सामने वाला भाग ही अधिक हिलने लगा उस समय ! फिर वह फ्रन्ट सीटवाला भी क्या करता ? लाचार होकर वह पीछे की तरफ आकर बैठ गया और उस स्त्री के मुखारविद को देखता रहा।

एक नहीं, दो नही ! बल्कि मनुष्य-स्वभाव के अनेक नमूने उस छोटे-से प्रवास में मेरे दृष्टि-पथ मे आये। रास्ते मे एक खाडी थी। हमारी मोटर का एक मुसाफिर अपने साथ कुछ कटहल लाया था। नाविक उन्हें उस पार ले गया। पर वह उसकी मजदूरी माँगने लगा। मुसाफिर महाशय बोले,– 'अबे, वे 'क' के है ओर 'ख' के यहाँ जायेगे।' मै जानता था कि 'क' हमारे गाँव का एक बदमाश और गड़बडिया मनुष्य है। और

'ख' नबर एक का रिश्वतखोर अधिकारी है। इसलिये मेरे ध्यान मे एकदम आ गया कि ये कटहल किस काम पर जा रहे है। मै यदि कवि होता तो 'कटहलदूत' की रचना करने की स्फूर्ति हो जाती मुझे। लेकिन सब से मजेदार बात इस के आगे की है। इन कटहलो को लानेवाला मुसाफिर और 'क' दोनो की गॉव में अत्यन्त घनिष्ठता थी और वे गॉव की सडको मे एक दूसरे के गले मे बाहे डालकर घूमा करते थे। लेकिन नाविक के मजदूरी मॉगते ही मुसाफिर महाशय बोले, – 'मै कोई मजदूरी न दूँगा! तुम सीधे मालिक से जाकर ले सकते हो।'

उस दिन शाम को घर लौटते समय रह-रहकर मेरे मन मे आता था कि बहुत अच्छा हुआ जो आज मै पुस्तक लाने भूल गया। इस के कारण गूलर के कीड़े को बाहर की दुनिया देखने मिली! बचपन मे गूलर खाना और पुस्तकें पढना ठीक है। लेकिन बडे होने पर? कहते है, पुस्तके पढने से मन का विकास होता है। मेरा विश्वास हो गया कि यह सिद्धान्त नियम न होकर अपवाद होना चाहिये। पिछले दिन मैने महात्मा गाधी का ब्रह्मचर्य पर लिखा एक लेख और एक प्रसिद्ध लेखक का मित्र पर लिखा निबध पढा था और मैने अपनी यह कल्पना भी कर ली थी कि जग इसी प्रकार का होता है। गाधीजी कहते थे, ब्रह्मचर्य से सतति-नियमन हो सकता है। लेकिन मोटर का फ्रन्ट-सीट निवासी एक सुदर स्त्री का चेहरा पॉच मिनट देखने मिले, इसलिये बेहयाई से पीछे आकर बैठ जाता है! मित्र पर जो निबन्ध था उसमें लिखा था – 'सूर्य का प्रतिशब्द मित्र ही है।' फिर इस लेखक ने यह प्रश्न पूछा था, – 'तो क्या इस का अर्थ यह नहीं होता कि मित्र के दो हाथ सहस्रकर की तरह हमारी सहायता करते है?' मुझे यह वाक्य बडा चटपटा लगा, इसलिये मैने उसे ध्यान में भी रख लिया था। लेकिन फिर भी कटहल का बोझ उठाकर ले जाने के लिये दो पैसे मजदूरी न देनेवाले उस मित्र को देखने के बाद उस प्रश्न का क्या उत्तर दूँ?

उस दिन मुझे यह पक्का विश्वास हो गया कि पुस्तके निरी गूलर हैं। व्यक्तित्व, व्यवसाय, कुटुम्ब, गॉव, देश, धर्म आदि भी क्या छोटे-बड़े गूलर

नहीं है? यदि वे गूलर न होते, तो सालाना पॉच हज़ार की आय के लोग, भूकम्प-ग्रसित लोगो के कष्टों के निवारणार्थ सहायता मॉगने आये लोगो को, बड़ी मुश्किल से सिर्फ एक रुपया टिकाकर, उनके सामने वर्तमान महॅगाई का रोना क्यो रोते रहते? हिन्दु और मुसलमान एक दूसरे के सिर फोड़ने मे आनद क्यो मानते? सब गूलर के कीडे हैं। डिब्बों की रचना में बडे डिब्बे के भीतर छोटा डिब्बा होता है, उसी तरह बडे गूलर मे छोटा गूलर, और उस छोटे गूलर मे उससे भी छोटा गूलर होता है। इस तरह आज की दुनिया की हालत है। इन गूलर के कीडो ने ही जग को दुःखमय बना डाला है। जग सुखी होगा। पर कब? तभी, जब कि सारे गूलर के कीडो की पखियॉ हो जायेगी!

जीवन मे ही नहीं, बल्कि मृत्यु मे भी यह पखियों की वृत्ति ही सुख देने वाली है। गूलर को फोडने से भीतर का कीडा छटपटाने लगता है। दुनिया को गूलर मानकर हम उस मे रहते है, इसलिये अपने लिये जब वह फूटने लगता है – मृत्यु हमे दिखाई देने लगती है, तो हमारे मन भय से व्याकुल हो जाते है। परतु दुनिया कहॉ गूलर है? वह एक फूल है। आखिर मृत्यु भी क्या है? पंखी का एक फूल को छोडकर दूसरे फूल पर चले जाना! पखी ऐसे मौके पर कभी डरती है क्या?

● ● ●

४

हमारे पत्र

आज कितने ही दिनों से मेरे मित्र उत्तर-भारत की यात्रा का सकल्प कर रहे थे। मै भी बचपन मे, सोते समय प्रति दिन अपने मन मे अनेक सुदर संकल्प किया करता था – जैसे कल से जल्दी उठूँगा, हमेशा सच बोलूँगा, चाय छोड दूँगा इत्यादि इत्यादि। लेकिन वह 'कल' आज तक भी उदय न हुआ! मुझे यह भय लगने लगा था कि मेरे मित्रो के यात्रा के सकल्प की भी कहीं वही दशा न हो जावे। लेकिन मेरे संकल्पो की अपेक्षा उनके सकल्प अधिक सत्य होने के कारण कहिये, अथवा मोह पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा रेल के टिकट प्राप्त करना अधिक सरल बात होने के कारण कहिये, वे आखिर यात्रा के लिये रवाना हो गये।

मेरी कल्पना अनजाने यह चित्र बनाने लगी कि यात्रा के विविध रमणीय स्थलो को देखने मे मेरे मित्र कितने खो जायेगे। क्या, किसी के लिये भी यह संभव था कि प्रीति-लता पर खिले अमर पुष्प ताजमहल के, व्यवहार को भक्ति के जग से जोड़ने वाले लछमन झूले के और पुष्पाच्छादित कश्मीर तथा हिमाच्छादित गिरि-शिखरो के सौन्दर्य को चार घटे मे आत्मसात् कर ले? हम देखते हैं कि सुदर ज्योति के दर्शन से पतंग पागल

होकर उसके आसपास चक्कर काटता रहता है। फिर जिनके मनोहारी वर्णन हम बचपन से बड़ी तन्मयता के साथ पढ़ते आये थे, जिनके दर्शन के लिये निद्रा देवी स्वप्न के पुष्पक विमान मे बैठा कर हमे अनेक बार बहुत दूर भी ले गयी थी और जिनके निरे निर्जीव छाया-चित्रो को देखकर ही हमारा हृदय खिल जाया करता था, उन सौन्दर्य के निधानो को देखने पर मेरे मित्रो के कदम वहाँ से आगे बढ जाये, यह सभव ही न था। हमें यह विश्वास भी कहाँ होता है कि इस दिव्य सौन्दर्य का दर्शन हमे फिर होगा ! मामूली चॉदनी रात का आनद लूटते हुए भी दत्त कवि[1] ने 'वारंवार ! कोठुनि असे दिसणार '[2] उद्गार कोई यो ही नहीं प्रकट किये है !

मै इस कल्पना मे खोया हुआ था कि मेरे सौन्दर्य के सागर मे पनडुब्बियों की तरह विहार कर रहे होंगे और उन्हें पृष्ठभाग का अब होश ही न रहा होगा। इसी समय मुझे उनका पत्र मिला। ऊपर काशी के डाकखाने की छाप थी। मेरी ऑखो के सामने एकदम गगाजी के प्रवाह मे तैरने का आनद और हिन्दु विश्वविद्यालय का आश्चर्यकारक विस्तार खडा हो गया। छोटा बच्चा नया खिलौना पाने पर उसके विषय मे जिस तरह लगातार अपनी तोतली भाषा मे बाते किया करता है, उसी प्रकार मेरे मित्रो ने भी इन सब रम्य बातो का बडा रसभीना वर्णन किया होगा — इस विश्वास से ही मैने वह पत्र खोला। लेकिन उसकी प्रारभिक पक्तियॉ ही इस तरह थीं – ' कल यहॉ पहुँचे। तुरत ही तुमने जो पता दिया था, वहॉ जाकर तुम्हारे पत्र की पूछताछ की। लेकिन तुम्हारा कोई पत्र न मिलने से बडी निराशा हुई।'

आखिर मैं अपने पत्र मे उन्हे सिवा इसके कि यहॉ सब कुशल है, और विशेष लिखता ही क्या ? जिसके आगे स्वादिष्ट आमो के ढेर रखे है, उन्हे ककडी की फॉके देने मे क्या माधुर्य है ? हर रोज़ नये नये सुंदर स्थानो को देखनेवाले अपने मित्रो को ऐसा कुछ लिखना जो उन्हे

१ रसपूर्ण काव्यनिर्मिति करनेवाले केशवसुत के पीढी के मराठी कवि।

२ ' बार बार ऐसा कहॉ दिखेगा ? '

रुचिकर हो, मेरी कल्पना के बाहर था। यही कारण था की मैंने उन्हे कोई पत्र न भेजा था। परंतु मेरा पत्र न मिलने से उन्हे चिन्ता लग गयी। यात्रा के आनद मे – थोडा ही क्यो न हो – असतोष उत्पन्न हो गया। गौर्की[१] की 'Her Lover' कहानी की नायिका की पहले मैंने खिल्ली उडायी थी। लेकिन इस समय उस कहानी का मर्म मुझे पूर्ण रूप से जॅच गया। उस कहानी की नायिका इस कल्पना-सुख मे खो जाती है कि मुझे अपने प्रेमी के पत्र मिले है और दूसरो से उन कल्पना-पत्रो के उत्तर लिखवा लेती है। बचपन में लडकियाँ गुड़ियो को प्रेम से सहलाकर अपनी सुप्त मातृभावना को सतुष्ट कर लेती है। गौर्की की कहानी की कुरूप तरुणी भी दूसरा और क्या करती थी? काल्पनिक प्रेम-पत्रो से वह अपने तरुण मन की तृषा शान्त कर लेती थी।

वैसे देखा जाय तो मुझ जैसे खाते-पीते मनुष्य को उस बेचारी पर हॅसने का क्या अधिकार है? किसी दिन मेरे नाम का कोई पत्र नहीं होता, तो मै भी तो उदास हो जाता हूॅ। जैसे मेरे नाम का पत्र न आने से दो पहर को मुझे खाना नसीब ही न होगा! आये हुए पत्रो के उत्तर लिखने मे किस तरह नाक मे दम आ जाता है, यह अनुभव होते हुए भी हमारा मन हमेशा यह चिन्ता किया करता है कि अमुक का पत्र क्यों नहीं आया! इस दृष्टि से पत्र संतान की तरह होते हैं। जीवन मे यदि वे न हो, तो मनुष्य को सूना सूना-सा लगता है। जब होते हैं, तो उनका बखेड़ा एक जी का जजाल हो जाता है।

पत्र लिखने लायक मेरे अथवा मुझ जैसे लोगो के जीवन मे कुछ भी नहीं घटा करता। लेकिन मुझे हमेशा यही लगता है कि मेरी दत्तक माँ या बहन को लिखना आता होता और उनके हाथ के लिखे पत्र मुझे नियम से मिलते रहते, तो मेरे सप्ताह का आनद कितना गुना बढ जाता। हमारे यहाँ की यह पुरानी कल्पनाएँ कि किसी महीने मे बहू को ससुर का मुँह देखने की मनाही है और किसी महीने मे सास का मुँह देखने की मनाही है। (यह मनाही यदि बारहों महीने होती, तो अनेक बहुओ को

१ गौर्की . मैक्झिम गौर्की : रूसी लेखक।

बडा अच्छा लगा होता !) कम-से-कम आज के दिन तो मुझे बडी काव्यमय लगती है। इसके कारण पत्नी मायके चली जाती थी और फिर पति-पत्नी के पत्र-व्यवहार को कितना प्रोत्साहन मिलता होगा ? पर हाँ, एक बात भूल रहा था मै। पचास वर्ष पहले सिर्फ इतना ही न था कि लिख-पढ सकनेवाली पत्नी दुर्लभ थी, बल्कि उस के हाथ डाक का टिकट लगना उस से भी अधिक दुर्लभ था।

पत्र हमारे जीवन के तारे होते है, इस मे शक नहीं। यह सच है कि तारो के तेज से पृथ्वी प्रकाशित नहीं होती। लेकिन भयंकर अँधेरे मे घबड़ा गये मनुष्य के मन को वे कितना धीरज देते है और आधार होते है। मुझे ऐसा लगता है कि मनुष्य के गुप्त मन मे यह कल्पना हमेशा जागृत रहती है कि इस जग मे मैं बिलकुल अकेला हूँ। उस कल्पना से उत्पन्न होने वाली विचित्र अस्वस्थता को अपने प्रियजनों के पत्र ही दूर कर सकते है।

कोई भी रसिक यही कहेगा कि गडकरीजी[1] के काव्य और नाटको मे इतनी सुदर सुंदर कल्पनाएँ बिखरी पड़ी है कि उन मे की किसी एक ही कल्पना का उत्कृष्ट कहकर उल्लेख करना कठिन है। लेकिन मुझे ऐसा नही लगता। नभमडल मे अगणित तारे चमकते है, फिर भी शुक्र-तारे को पहचानने के लिये ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान की क्या जरूरत है? गडकरीजी के 'प्रेमसन्यास' नामक नाटक मे एक प्रसग है। जयंत लीला का एक कोरा पत्र जिसमे एक शब्द भी नहीं लिखा रहता, पढ़ रहा है। इस प्रसंग की याद, इतने साल हो गये फिर भी मै अभी तक नही भूला हूँ।

जब कुछ लोग अनेक उदाहरण देकर यह कहते है कि जग में मनुष्यता नहीं है, तब मुझे सदेह होता है कि उन्हे कोई पत्र ही न लिखता होगा और पत्रों का सग्रह न करने की अक्षम्य भूल उन्होंने की होगी। मै जब जब अपने आप पर क्रोधित होता हूँ, तब तब अपने पुराने पत्रो के संग्रह को निकालकर उनके पत्र उलटने लगता हूँ। अपनापन, आर्द्रता, सहानुभूति, स्नेह...पृथ्वी के गर्भ मे पानी कितनी ही गहराई में रहे फिर भी बोरिंग

१ गडकरी : राम गणेश गडकरी प्रसिद्ध मराठी नाटककार।

मशीन के द्वारा वह ऊपर लाया जा सकता है। पत्र भी मनुष्य की हृदय-भूमि में छिपे हुए सारे कोमल भावों को उसी प्रकार प्रकट करते हैं। कुछ दिन पहले जब मैं बीमार था उस समय मेरी एक मित्रानी द्वारा मुझे भेजा हुआ यह पत्र ही देखिये। इसके कारण डॉक्टर के इन्जेक्शन से भी मुझे अधिक अच्छा लगा।

मै यह कह तो गया कि मेरी मित्रानी का पत्र देखिये। लेकिन अशुद्ध भाषा में लिखे उस पत्र पर आप शायद हँसेगे। आप कोई उस के मित्र नहीं हैं? इसके अलावा यदि मैं उस पत्र को ज्यों का त्यों छाप दूँ तो कोई यह भी सोचेंगे कि मै अपनी तारीफ लोगो को सुना रहा हूँ। लेकिन उस पत्र की वे दो ही पंक्तियाँ – 'आप यहाँ आ जाइये। हम लोग खूब हँसेंगे। हँसी के कारण निराशा का सारा वातावरण ही हम बदल डालेंगे। आपके आने से हम मे से हरएक को कितनी प्रसन्नता होती है, यह कैसे कहूँ?' इन पंक्तियो को पढते हुए मुझे यह बिलकुल न लगा कि स्वास्थ्य की अस्वस्थता के कारण ऊबे हुए मेरे मन को एक प्रौढ मित्रानी संतोष दे रही है। बल्कि मेरी आँखों के स मने एक अलग ही चित्र खडा हो गया। दौडते दौडते एक छोटा बच्चा जमीन पर गिर पडता है और उसका घुटना फूट जाता है। अपना रोना बाहर न फैले इसलिये वह बहुत कोशिश करता है। लेकिन अन्त मे शरीर मन पर विजय प्राप्त कर लेता है। लडके के फूट फूट कर रोते ही उसकी बालसखी उसके नजदीक धीरे से आकर कहती है – 'अरे, वह देख हवाई जहाज!' वह ऊपर देखता है। हवाई जहाज तो नहीं दीखता, लेकिन अपनी सखी का भावुक हृदय उसे दिखाई देता है। उसे बुरा न लगे इसलिये वह हँस देता है और उस आनद मे घुटने का दर्द भूल जाता है। पत्रों मे प्रकट होने वाले भावो से उसमे छिपे हुए भाव ही इसी प्रकार अधिक मोहक और काव्यमय होते हैं। इस की एक बूँद मे अनेक फूलो की सुगध का सार सर्वस्व संचित रहता है। पत्र का एक एक वाक्य भी इसी प्रकार का होता है। है न?

मेरे कमरे में व्यवस्थित रूप से रखे हुए कुछ बंडलो को देखकर, कुछ

दिन पहले एक मेहमान ने मुझ से प्रश्न किया, – 'ये शायद आप के लेखन की पांडु-लिपियाँ हैं ?'

मैं सिर्फ हँसा।

उन्होने उस हँसी का यह मतलब निकाला कि मुझे अपने लेखन पर बड़ा गर्व अनुभव होता है। वे कुछ धूर्तता से ही बोले, – 'कभी खोलकर भी देखते हो इन बंडलो को ?'

मैने उत्तर दिया, – 'जी हाँ, हमेशा।'

उनके चेहरे पर आश्चर्य के भाव झलकने लगे और जब मैने उनसे यह कहा कि – 'इनके बराबर सुंदर पांडुलिपियाँ समूची दुनिया में कहीं न होंगी', तब तो मेरे इन उद्‌गारो ने उनके आश्चर्य को प्रच्छन्न तिरस्कार मे ही रूपान्तरित कर दिया। उन्होने अपने मन मे कहा होगा – 'आत्म-प्रशसा की भी तो आखिर कोई हद होती है ?'

उन्हें अधिक समय तक सशय मे रखना इष्ट न था। मैने एक बडल खोलकर उनके सामने रख दिया।

वे करीब करीब चिल्ला पडे, – 'पुराने पत्र ?'

मेरे संग्रह के इन पत्रो को कोई खुशी से पुराने कह दे। लेकिन मुझे वे हमेशा नये ही लगते है। काल के कठोर स्पर्श का भय पुष्पो को होता है, हीरे माणिको को नहीं। मेरे जीवन के कितने ही अमर क्षणो की मूर्तियाँ इस पत्र-सग्रह मे हैं। यह है मेरे बचपन के एक घनिष्ठ मित्र का पत्र! अपनी कर्मवीरता से वह लखपती हो गया है। किसी तरह मेरा पता प्राप्त कर उसके द्वारा लिखी हुई इन चार आडीटेढ़ी पंक्तियो मे मूर्तिमान स्वर्ग अवतीर्ण हो गया है। ये हैं मेरी पत्नी के पत्र! इस भय से कि चाहे जहाँ गलतियाँ निकालकर मैं उसका मजाक उड़ाऊँगा, बेचारी दस-पाँच सतरे ही लिखा करती! लेकिन अत मे सुनीत[१] का रूपान्तर खण्डकाव्य मे होता ही था। और ये हैं मेरे अपरिचित मित्रों के पत्र। इन से मेरी मुख-देखी पहचान भी नही। रेल में एक दूसरे के नजदीक बैठे हुए कदाचित एक शब्द भी न बोलकर इन मे से कितनों के ही साथ

१ एक काव्यप्रकार।

मैने सफर किया होगा और आगे भी करूँगा। लेकिन इन पत्रों मे मानवी हृदय की कितनी बडी सम्पन्नता अनायास ही प्रकट हो गयी है। यह मेरे दादाजी का पत्र है। दूसरे से लिखाया था उन्होने। परंतु कितना स्नेह भरा हुआ है उसमे! बचपन मे मै जब शरारत करता, तो जिस भावुक स्वर से वे मुझे अपने नज़दीक बुलाते और जिस वात्सल्य-भरे स्पर्श से मेरी पीठ पर हाथ फेरते, वह स्वर इस छोटे-से पत्र मे मुझे सुनाई पड रहा है, और वह स्पर्श भी मेरे शरीर को गुदगुदा रहा है। इस पत्र को देखते देखते मुझे यह भ्रम भी हो जाता है। कि अब दादाजी का कुटा हुआ पान मुझे खाने मिलेगा।

सच तो यही है कि पत्र जीवन के भावगीत हैं। श्यामकान्त[१] का अंतिम पत्र पढकर क्या हमारी भावनाएँ इस तरह नहीं उमड़ पड़तीं जैसे हम कोई अत्यन्त करुणोदात्त मधुर गीत सुन रहे हैं? जिसे अपने आप्त-जनो अथवा मित्र-मित्रानियों को पत्र लिखने का आलस आ जाये उसे निश्चित रूप से यह समझ लेना चाहिए कि वह बूढ़ा हो गया है। लेनिन[२] को मै महापुरुष मानता हूँ। लेकिन इसका सिर्फ यह एक ही कारण नहीं है कि उसने दलित वर्ग का पक्ष लिया अथवा उच्च वर्ग के लोगो ने अपने मायावी मंत्रों द्वारा पत्थर बना दी गयी जनता से उसने तेजस्वी मनुष्य का निर्माण किया। दूसरा उतना ही बड़ा एक कारण है। काम के चरखे मे घिरे रहने पर भी मित्रों को पत्र लिखना वह कभी नही भूलता था। इसी तरह का एक पत्र लिखते समय वह गौर्की से बोला, — 'मैं गॉव के अपने एक मित्र को यह पत्र लिख रहा हूँ। वहाँ उसे बहुत सूना सूना लगता है। बिलकुल ऊब उठा है बेचारा। क्या, हमे यह नहीं देखना चाहिए कि उसे कैसे अच्छा लगेगा?'

लेनिन का लिखा यह पत्र यदि मुझे भी मिल जाये तो मै उसे अपनी अलमारी मे, कालिदास, शेक्सपीअर, गाल्सवर्दी, इब्सेन और कोल्हटकर आदि अपनी प्रिय पुस्तकों के पास रखूँगा। फिर वह केवल चार ही

१ 'श्यामकान्ताचीं पत्रें' नामक एक पत्रात्मक मराठी उपन्यास का नायक।
२ लेनिन : साम्यवादी रूस का निर्माता।

पँक्तियों का क्यों न हो ? और यदि यह सच है, तो यात्रा में भी मेरे मित्रों ने मेरे पत्र की आतुरता से बाट जोही, तो क्या यह स्वाभाविक ही नहीं है ? सृष्टि और कला अमर पुष्पों से सजी हुई लताएँ है सही, लेकिन उन्हें भी तो जीवन के वृक्ष के आधार की ज़रूरत आख़िर होती ही है न ?

●●●

५

पुनर्जन्म

समाचार-पत्र दुनिया के सारे अद्भुत समाचारों का प्रसव-गृह होता है। हर रोज़ थोड़ी थोड़ी अफीम खानेवाले को जिस तरह किसी भी ज़हर का असर नहीं होता, उसी तरह दैनिक के भक्त को कोई भी समाचार नहीं डरा सकता। आज यह समाचार पढ लेने पर कि एक स्त्री के बिलटा पैदा हुआ, कल दूसरी स्त्री के बन्दर पैदा होने का समाचार पढ़कर आश्चर्य होगा भी कैसे? मनुष्यजन्म के विषय में समाचार-पत्रों ने आज तक इतनी विविधता दिखायी है कि कल आकाश से एकदम हज़ार पॉच सौ बच्चों के टपक पड़ने का समाचार छपकर आ जाये (उनके नाखून को भी धक्का न लगते हुए) तो इस चमत्कार का श्रेय मुद्राराक्षस के बदले मै भगवान् को ही दूँगा। हाँ, सतति नियमन के समर्थक इस बात का कसकर विरोध करेंगे, यह बात दूसरी है।

लेकिन चाहे जिस समाचार को हजम लेने की मेरी यह शक्ति उस दिन जरूर काम न आयी। समाचार-पत्रों ने अपना मोर्चा मनुष्य के जन्म से पुनर्जन्म की ओर मोड़ते ही, यही कहिये न कि मेरे होश ही गायब

हो गये ! देहली में एक छोटी लड़की को अपने पिछले जन्म की याद आकर वह मथुरा के पूर्वजन्म के अपने पति के विषय में अचूक जानकारी दे रही है – यह पढते ही मैं साशक मुद्रा से घर में देखने लगा। कौन ठिकाना ? हमारी श्रीमतीजी पिछले जन्म मे यूरोप के किसी देश की सच्ची रानी साहबा हों, अथवा आफ्रिका के किसी जगल की हबशिन भी होंगी ? हमारी सफेद शुभ्र बिल्ली सुलू पूर्वजन्म में बर्फमय प्रदेश में विचरण करनेवाले किसी एस्किमो की पत्नी होगी अथवा आँखें बंदकर दूध पीनेवाले किसी महाराष्ट्रीय साधु की चेली होगी ! घर में लगातार तंग करनेवाली ये मक्खियाँ – उन्हें मारे या न मारे ? चारुदत्त की तरह मुझे भी लगा कि मक्खियाँ मारनेवाला कहकर लोग मुझे अपमानित करेंगे इसकी अपेक्षा दुनिया में सर्वत्र मेरी यह बदनामी न हो कि मैंने अपने पूर्वजन्म के आप्त जनों की हत्या की है। पूर्वजन्म की स्मृति की यह लहर कहीं हमारे गाँव तक भी आ पहुँची और किसी दूकानदार ने सरे बाजार मेरा हाथ पकडकर पिछले जन्म में मुझे जो देने थे वे पाँच सौ रुपये मुझ से माँगे तो ? कोई स्त्री मुझ से आकर यह कहने लगी कि पूर्वजन्म में मैं तुम्हारी पत्नी थी तो ? यह स्त्री यदि सुंदर होगी तो मुझे क्या लगेगा, यह प्रश्न क्या मानसशास्त्रज्ञों पर ही छोड़ देना ठीक न होगा ? देहली की एक लड़की को पूर्वजन्म की स्मृति होने का यह समाचार प्रकाशित होते ही दकियानूसियो की तूफान मे फँसी नौका को तो जैसे ध्रुव तारा ही दिख गया। लेकिन करोडों हिन्दुओ को यदि अपने पिछले जन्म की बातें इसी प्रकार चटपट स्मरण होने लगे तो इस विशाल देश को पागलखाने का स्वरूप आने मे कोई अधिक समय न लगेगा।

समाचार-पत्रों के कालम और जेब भरने का काम समाप्त होने पर इस अर्थ के समाचार प्रकाशित होने लगे कि देहली के पूर्वजन्म का प्रकरण एक मानसिक विकृति है। पूर्वजन्म की मूल कल्पना ही एक विकृत भावना पर आधारित होने के कारण यदि ऐसा हो तो आश्चर्य ही क्या ? ससार की विषमता के कारणों का स्पष्टीकरण करते समय मानवी मन जब भौंचक्का हो गया, तब उसने एक कल्पना-मंदिर खड़ा किया और उसी

का नाम है पुनर्जन्म। इस मंदिर के शिल्प की कितनी ही सराहना करे फिर भी क्या किसी की भी आत्मा उसमे संतोष से रह सकेगी? बचपन मे भी इस पुनर्जन्म की कल्पना से मुझे बडी चिढ आती थी। यह ज्ञात होते ही कि वही युग, वही मनुष्य, वही बाते इन सब की पुनरावृत्ति होगी, नवीनता के लिये ललचाए हुए मेरे बालमन का सारा आनद बिलकुल कुम्हला जाता था। वर्तमान जग के डूब जाने पर फिर से जो जग शुरू होगा उसमे मै इसी तरह फिर जन्म लूॅगा। दूसरी कक्षा में वही फटा हुआ पैजामा मुझे बहुत दिन पहनना पड़ेगा, यही मॉ और उसका यही गुस्सा मेरी किस्मत में होगा, अग्रेज़ी शाला में प्रवेश करने पर फिर मेरी नाक पर क्रिकेट की गेद लगेगी और मै बेहोश होऊॅगा, हमारे ड्रिल-मास्टर साहब फिर से मुझे टांग पैकडकर यूनिवर्सिटी से निकाल देने की धमकी देंगे — इत्यादि बाते ऑखो के सामने खड़ी हो जाने पर आठ दस वर्ष के बालक को कौन सा सुख होगा?

निसर्ग की सनक की अथवा समाज में जो विषमता है उसकी मीमासा करने के बजाय पुनर्जन्म के तत्त्वज्ञान से संतोष कर लेना मानव-जाति के लिये किसी समय सभव रहा होगा। परतु पाई पाई का हिसाब रखनेवाले साहूकार की तरह परमेश्वर प्रत्येक जीव के पाप-पुण्य का खाता रख रहा है, साथ मे कुर्क-अमीन लेकर जब्ती करनेवाले लेनदार की तरह वह निर्दयता से भिन्न भिन्न घरो में घूस रहा है और मानवता की ऑखो से बह रहे ऑंसुओं से अपने विष-वृक्ष के पोषण होने का दृश्य उसे सतोष दे रहा है — यह कल्पना ही मुझे बड़ी अजीबसी लगती है। ख़ैर, पुनर्जन्म के सुख-दुःखों को निश्चित करने के लिये ईश्वर जो पूर्णतया झूठे हिसाब करता है, तो उसकी भी तो कोई हद होनी चाहिए थी। 'फुलराणी'[१] ने विश्रान्ति के लिये जिस के हृदय के सिंहासन को चुना और सध्या-तारका ने जिसकी ऑखो की भावुकता का अनुकरण किया, उस बाल कवि[२] का

१ 'फूलों की रानी।'

२ मराठी भाषा के एक प्रसिद्ध कवि जिन की 'फुलराणी' कविता अत्यंत सुंदर और लोकप्रिय है।

रेलगाडी के नीचे बलि देनेवाले ईश्वर के मानवी जीवन के बही खाते, स्वर्ग में आग लगकर यदि उस में जल जाते, तो क्या यह अच्छा न होता? शेले जैसे कविरत्न को इस हिसाब से समुद्र मे डुबा देनेवाले परमेश्वर का हृदय पत्थर का होना चाहिए, इसमें संदेह क्या है?

अध सतोष के आवेश में पहले पहल मानवजाति के ध्यान में यह बात नहीं आयी कि पुनर्जन्म के तत्त्वज्ञान के कारण हम अनजाने परमेश्वर को राक्षस का स्वरूप दे रहे हैं। किसी की कोई भी शिकायत हो, जहाँ उससे कह दिया कि उसकी जड पुनर्जन्म की गुफा मे है, तो फिर उसे सुधारने का कोई कारण नहीं। इस दृष्टि से पुनर्जन्म का तत्त्वज्ञान मनुष्य के सामाजिक विकास के पैरो में डाल दी गयी डेढ़ मन की बेडी ही है!

लेकिन ऐसा कहाँ है कि पुनर्जन्म की काव्यमय कल्पना की अनुभूति के लिये विकल मनोवृत्ति अथवा अंध तत्त्वज्ञान का आश्रय लेना ही चाहिए। तीन महीने पहले एक भयकर बीमारी से मेरा पुनर्जन्म हुआ। बुखार हट जाने पर दूसरे दिन सुबह खिड़की से सूर्य की प्रसन्न किरणें मैने देखीं और सचमुच किसी बालक की तरह मै उनकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगा। पृथ्वी पर की कीमिया का यह प्रयोग कितने ही वर्षों में मैने इतनी एकाग्रता से न देखा था। उस दिन मैं जीने की सीढियाँ चढ़ा और उतरा वह भी किसी बालक की तरह ही! नहाते समय गरम पानी बदन पर पडते ही मुझे जो आनद हुआ उसका वर्णन वर्षा की पहली झडी बदन पर लेते हुए सतोष की साँस लेनेवाली पृथ्वी ही सिर्फ कर सकेगी। और उस दिन खाये हुए भात के वे कौर — दही मे मिलाकर बनी हुई उस चटनी — 'मेतकूट' — का स्वाद मै कभी न भूलूँगा। उस समय मुझे इस बात का पता चल गया कि मराठी भाषा में 'मेतकूट' शब्द बिलकुल अंतरग के प्रेम के लिये ही क्यों उपयोग में लाते हैं। उस समय ऐसी एक खोज की कल्पना भी मेरे मन मे चमक गयी कि जिस अमृत के लिये देव और दानवों ने समुद्र मथन किया, वह बहुधा दही में सना हुआ 'मेतकूट' ही होना चाहिए।

मानवी दृष्टि की तरह सृष्टि भी इस पुनर्जन्म के आनंद मे बार बार

निमग्न होती रहती है। यदि चौबीसों घंटे सूरज आकाश में रहने लगे, तो आजकल के तंगी के जमाने मे बहुतो को वह इष्टापत्ति ही लगेगी! वे सोचेंगे, चलो, इतना ही हमारा तेल अथवा बिजली का खर्चा बचा! लेकिन फिर सूर्योदय देखने की बात तो दूर ही रही, उस पर कविता करने की इच्छा भी किसी को न होगी। हर वर्ष होनेवाली वर्षा का पुनर्जन्म भी क्या इसी प्रकार मनोहारी नहीं लगता? सफेद शुभ्र मोतियो की राशियों से लदी हुई मेघो की नौकाएँ अपने भीतर रखे मूल्यवान माल को दूसरों की दृष्टि से बचाने के लिये काले परदे से आच्छादित आकाश से गुजर रही हैं। पृथ्वी ललचाई हुई नजर से उनकी ओर देखती है। इस भय से कि मेरे हक़ की वह निधि मुझे न मिलेगी, उसका मुँह सफेद पड़ गया है। इसी समय मूर्तिमान न्यायदेवता ही लगनेवाली विद्युत् एकदम प्रकट होती है और उन नौकाओं मे जल्दी जल्दी छेद करके पृथ्वी पर मोतियों की वर्षा कर देती है। ठंड के पुनर्जन्म मे पर्जन्य वृष्टि का भव्य और रमणीय रूप नही दिखता, यह सच है। लेकिन यह थोड़े ही है कि कसकर किये हुए आलिंगन का सुख हलके चुम्बन की अपेक्षा अधिक होता है? ऐन आधी रात को जब ठंड धीरे से हमारे कमरे में प्रवेश करती है, तब निद्रा भंग न हो इसलिये हम अनजाने पैरो के नजदीक का कम्बल शरीर पर ओढ लेते है। उस समय माँ की गोद मे घुसनेवाले नन्हे बालक की तरह ही हम बर्ताव नहीं करते क्या?

यह बात कोई भी अस्वीकार न करेगा कि पुनर्जन्म की कल्पना तत्वज्ञान की दृष्टि से कृत्रिम् पर काव्य की दृष्टि से अत्यन्त रमणीय लगती है। और काव्यों के शिखर भले ही आकाश के तारो से जाकर भिड जाते हो, फिर भी उनकी स्थिरता इस कंकड़ो और पत्थरो से भरी हुई पृथ्वी पर ही अवलंबित होती है। शिशु का जन्म होते ही माँ का पुनर्जन्म होता है। शारीरिक दृष्टि से ता यह सच है ही, लेकिन मानसिक दृष्टि से भी क्या वह माँ और बाप का पुनर्जन्म नहीं होता? बच्चा होने से पहले चन्द्रमा की ओर ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से देखनेवाला रूखा मनुष्य भी अपने बच्चे के साथ चंदा मामा की बड़े ममत्व से खोज-खबर लेने लगता है। शुक्ल

पक्ष के बढ़ते हुए चन्द्रमा से भी 'भागलास का?'[1] जैसा हास्यास्पद प्रश्न पूछता है और नारियल के वन में खडे होते हुए भी उसे यह भ्रम होता है कि चन्द्रमा नीम के पेड़ के पीछे जाकर छिप गया है। मेरा ही अनुभव लीजिये न? पाँच महीने पहले जो लोग मेरे घर के सामने से गुज़रते थे, उन्हें मेरा शब्द भी सुनाई नहीं पडता था। लेकिन आजकल जो भी मेरे घर के सामने से निकलता है, वह क्षण-भर ठहरकर आगे बढ़ता है। क्योंकि 'अविराजा, सोजा सोजा' इस सयमक गीत से लेकर केवल 'हा–हा–हा' जैसे प्रयोगी अव्यय तक कुछ ना कुछ उद्‌गार ऊँचे स्वर में मैं निकालता ही रहता हूँ। घडी घड़ी इस तरह की बकबक करनेवाले को कम से कम इस से पहले तो मैं पागल ही करार दे देता। लेकिन आजकल यह पागल का पार्ट मैं ही उत्तम रीति से अदा कर रहा हूँ। अविनाश के साथ एक क्षण चिल्लाना और दूसरे ही क्षण हँसना, बिल्ली से लेकर गाय तक सारी प्राणि-सृष्टि की सहानुभूति के साथ पूछताछ करना, धूप हो अथवा चाँदनी, उसकी ओर टकटकी लगाकर आनंद से नाचना – ये सब बातें मै स्वच्छन्दता से करता हूँ और उन्हें करते समय मैं दूसरों को नहीं, बल्कि सारे जग को भूल जाता हूँ। इसका कारण मेरे पुनर्जन्म के सिवाय और दूसरा क्या होगा? प्राचीन काल में यह धारणा प्रचलित थी कि संतानहीन मनुष्य नरक में जाता है। इसका कारण कम से कम मुझे तो एक ही दिखता है – और वह यह है कि संतान के जन्म के साथ हमारा पुनर्जन्म होता है। बचपन के स्वर्ग-सुख की अनुभूति का भाग्य सतानहीनों को कहाँ से नसीब होगा?

●●●

१ 'क्या, थक गये?'

६

पहला दिन

दूध पीते-पीते मैंने आश्चर्य से कहा, – ‘ आज का दूध तो अच्छा है । ’ हमारे दूधवाले का क्या कुआँ सूख गया अथवा कुछ दिन पहले गाँव में जो सत्याग्रह हुआ था उसका उसके मन पर परिणाम हो गया ? किसी भी तरह यह पहेली मुझ से हल नहीं होती थी । हर रोज़ कुछ इस तरह कहकर कि, ‘ दूध अमृत है ज़रूर, पर वह पृथ्वी पर का अमृत है, और यह तो सच है न कि पृथ्वी का तीन चतुर्थांश भाग पानी से व्याप्त है ? फिर यदि पृथ्वी पर के अमृत में भी उतना ही पानी हो तो हर्ज़ क्या है ’, मैं अपनी विद्रोही जिव्हा को शान्त कर दिया करता था । किन्तु आज —

आज दूध पीते हुए मै इसी विचार के चिन्तन मे पूरी तरह से तल्लीन हो गया था । ‘ कितना अच्छा है आज का दूध ? ’ गिलास को नीचे रखते हुए मैंने कहा ।

मेरी पत्नी हँसते हुए बोली, – ‘ पहला ही दिन है आज का ! ’

‘ नया दूधवाला लगाया है क्या ? ’

‘ हाँ । ’ – मेरी पत्नीने कहा ।

यह सुनते ही कि आज के दूध के अच्छेपन का श्रेय गरमी के दिनो को अथवा महात्मा गाधी को न होकर पहले दिन को है, मेरी तुल्लीनता न जाने कहॉ लुप्त हो गयी। आज का पहला दिन है इसलिये दूध अच्छा मिला। कल दूसरा, परसो तीसरा! दिनों का क्या? वे ब्याज की तरह लगातार बढ़ते रहते है। लेकिन दिनों के साथ दूध का पानी भी बढ़ने लगेगा और अन्त में यह जॉच करने के लिये कि मै जो पी रहा हूँ वह दूध है या कि पानी, रसायनशास्त्रज्ञो की एक कमेटी नियुक्त करनी होगी। यह आपत्ति टाली किस तरह जाये? एक ही उपाय है। हर रोज नये ग्वाले से दूध लिया जाये। लेकिन हर रोज नया ग्वाला पाना तो गोकुल मे कृष्ण को भी नसीब न हुआ होगा। फिर मुझ जैसे की क्या कथा? हर रोज़ नयी पत्नी बनानेवाले बादशाह की वजह से दुनिया को सहस्र-रजनी चरित्र की कहानियॉ सुनने मिलीं। हर रोज नये ग्वाले की खोज करनेवाले के द्वारा भी साहित्य में इसी तरह की कुछ वृद्धि होने की सभावना है! पर मराठी साहित्य के इतने अच्छे भाग्य हैं कहॉ?

मेरी पत्नी के ये उद्‌गार कि 'पहला ही दिन है आज का', गडकरीजी[1] को सुनना चाहिए थे। क्षणभर मे उन्हें यह विश्वास हो जाता कि 'पहला बच्चा', 'पहला फूल', 'पहला चुम्बन' – तीनों में जो काव्य है वह क्षण-भगुर है! पहले बच्चे का क्या मतलब? आगामी जचकी की प्रस्तावना। पुस्तको की प्रस्तावना की तरह वह भी धोखा देने वाली ही होती है। ग्रथ पढते समय अनेक पाठक लेखक के बदले क्या प्रस्तावनाकार को ही गालियॉ नहीं देते? बच्चों के विषय मे भी वही होता है। मेरे एक बाल-बच्चेवाले मित्र है। एक साल के बाद उनके घर जाइये, तो नये कैलेडर, नये पचाग और नयी डायरी के साथ ही एक नया चेहरा भी वहॉ आपको देखने मिलेगा। यह एक नियम ही बन गया है। इस विषय में किसीने उनसे मजाक से यदि प्रश्न कर ही मारा, तो वे कहते हैं,– 'अरे भाई, सकटो के बाद सकट आयेंगे ही!' पहले लडके के द्वारा

१ राम गणेश गडकरी – मराठी भाषा के प्रसिद्ध साहित्यिक, नाटककार और कवि।

पिताजी का यह सर्टिफिकेट काव्यदेवी को अर्पण करने योग्य है, इसमें संदेह नहीं।

कम से कम मैं तो नहीं कहूँगा कि गडकरीजी की 'पहिलें चुम्बन'[१] शीर्षक कविता शृंगारिक है। यह सच है कि – 'ठेवुनि मुख सखीच्या गाली। आणिली गुलाबी लाली। त्या वरी'[२] – के समान कुछ लाल पंक्तियाँ इस कविता में है। परंतु कविता पढने के बाद उन लाल पंक्तियों के बदले करुणा की कृष्ण छाया ही मन पर छाने लगती है।

'हा खेळ एक निमिषाचा। एकदाच अनुभव त्याचा। नच पुन्हा।'[३] क्या इन पंक्तियो को बार बार गुनगुनाने की इच्छा नहीं होती? लेकिन इन पंक्तियों मे आनद के साथ ही उसकी मृत्यु का वर्णन है।

'एकदां अनुभव त्याचा। आरंभ अन्त सौख्याचा। एकदां।
आयुष्य न त्याला बळ ही। जन्म ही पुन्हा त्या नाहीं। एकदां।
मनिं चटका लावायासी। पाठवी देव जणुं त्यासी। एकदां।
निशिदिनीं। वाटतें मनीं। नित्य जन्मुनी।
मरण सोसावें!। परि पहिलें चुंबन घ्यावें। फिरुनहीं!॥'[४]

उपरोक्त कडी मे जिसे शृंगार की उन्मादकता का आभास होता हो, उसे भाग्यशाली ही कहना चाहिए! मुझे तो उसमें एक कटु सत्य का करुण आक्रंदन सुनाई पड़ता है। पहले चुम्बन की मिठास फिर कभी न

१ 'पहला चुम्बन।'

२ 'सखी के कपोलों पर मुख रखकर उन पर गुलाबी ललाई ला दी।'

३ 'यह (पहला चुम्बन) एक क्षण का खेल है जिसका एक बार ही अनुभव होता है। फिर नही होता।'

४ 'पहले चुम्बन का अनुभव एक बार ही हो सकता है। उस सुख के आरभ के साथ ही उसका अन्त है। न उसे जीवन है और न शक्ति है। न वह दुबारा जन्म लेता है। मानो दैव मन को चसका लगाने के लिये उसे एक ही बार भेजता है। दिन रात मन में ऐसा लगता है कि रोज़ जन्म लें, रोज मृत्यु सहें, पर पहला चुम्बन ले। और फिर लें।'

मिलेगी। 'एकदांच अनुभव त्याचा नच पुन्हा।'[1] एक प्रहसन की नायिका विवाह के बाद पति से कहती है,– 'हमारा विवाह तय होने से पहले तुम मेरे पास सेकड के कॉटे की गति से आया करते थे, विवाह तय होते ही तुम मिनट का कॉटा बन गये, और निर्दयी, अब विवाह हो जाने पर तो तुम्हारी गति घटे के कॉटे की तरह मन्द हो गयी है।' इस नायिका की उपमाएँ कदाचित् हास्यजनक हो, लेकिन यह कौन कहेगा कि उसका अनुभव करुण नहीं है ?

पहला दिन! उस दिन का आनंद कुछ और ही होता है। यह कितने दुःख की बात है कि दुनिया के हमारे पहले दिन का स्मरण किसी को भी नहीं होता। कॉलेज की विद्यार्थी-दशा अद्‌भुत-रम्य होती है, इसमे सन्देह नहीं। लेकिन वहाँ भी पहले दिन की बराबरी दूसरा कोई भी दिन नहीं कर सकता। शिक्षक की हैसियत से मैने प्रथम बार जिस कक्षा में कदम रखा था, वह कक्षा आज भी मेरी ऑखो के सामने बार बार खडी हो जाती है। उस कक्षा मे अथवा मुझ मे उस दिन ऐसी विशेष बात क्या थी? सरकस देखनेवाले छोटे बालक की तरह दिखनेवाले विद्यार्थियों के चेहरे और नया सिखखड़ होने के कारण मुझे लगनेवाले भय के सिवा दूसरा और क्या हो सकता था? तलाक के कानून की उत्सुकता से प्रतीक्षा करनेवाले युगल को उनकी पहली भेट का यथार्थ स्मरण करा देने वाली औषधि यदि कोई खोज निकाले, तो उनके मन भी क्षण-भर डॉवाडोल हुए बिना न रहेंगे।

पहलेपन में यह स्वर्गीय अद्‌भुत-रम्यता कहाँ से आती है? कोई भी बात जब परिचित हो जाती है, तब उसमें की मिठास थोड़ी ही क्यो न हो, कम क्यों हो जाती है? 'अतिपरिचयादवज्ञा' नियम के स्वयं का चेहरा और शराब जैसे कुछ थोडे अपवाद होंगे। परंतु कहीं भी देखिये। जहाँ तहाँ उसके उदाहरण विपुल मात्रा में मिलते हैं। घर मे एक दिन रहनेवाला मेहमान मेजवान के सौजन्य का गुणगान करता हुआ बिदा होता

१ 'एक बार ही उसका अनुभव होता है। फिर नही होता।'

है। लेकिन उसी मेहमान को महीना भर रहने दीजिये। तो वह मेजवान पर एक व्यग्य काव्य ही रच डालेगा। सन्यासी के लिये हमारे समाज में पहले बडा आदर रहा करता था। क्या, इस आदर के मूल की सभावना इसी में नहीं है कि वह एक गॉव मे तीन दिन से अधिक कभी न रहा करता था!

सच तो यही है कि पहलेपन की मिठास परिचय के अभाव में ही होती है। पहलेपन को हम मनुष्य की आशा को होने वाला सतान लाभ कह सकते हैं। आशा के गर्भ से अनुभव का जन्म होता है, यह सच है। परतु वह मॉ के सर्वनाश का कारण बनता है। पहलेपन की मिठास दूसरेपन मे नहीं है, इसका कारण यही है। आगे चलकर अनुभव कितना भी आनंदित रहने का प्रयत्न करे, फिर भी बीच ही मे उसका मातृहीन हृदय आशा को उद्देश कर करुण स्वर में गुनगुनाने लगता है —

'हे गुंतले जिवाचे। पायीं तुझ्याच धागे।
ये रागवावयाही। परि येइ येइ वेगें।'[1]

पुराने लोग कहा करते थे — 'काशीस जावे, नित्य वदावे'[2] इसका भी मर्म यही होगा। काशी जाने की बाते करने मे और कल्पना के द्वारा आगामी चित्र रगने मे जो आनद मिलता है, वह काशी जाते समय अथवा वहॉ पहुॅचकर, टिकना क्या कभी सभव है? घर मे आराम कुरसी मे अथवा बिस्तर पर पड़े पडे मॉ के साथ काशी-यात्रा का कार्य-क्रम बनाते समय मोटर फेल नहीं होती, रेलगाड़ी की भीड़ से तकलीफ नहीं होती, पडो के जाल से डर नहीं लगता और काशीजी की गलियॉ की गंदगी भी नाक में प्रवेश नहीं करती। लेकिन प्रत्यक्ष यात्रा का अवसर आने दीजिये। तब अनुभव होता है कि काशी यात्रा दूसरी कैलास यात्रा ही है!

१ 'मेरे प्राणो के धागे तुम्हारे ही चरणों में गुॅथे हुए है। चाहे मुझ पर नाराज़ होने के लिये ही आओ। परतु आओ, बहुत जल्दी आओ।'

२ 'हमेशा कहते रहना चाहिए कि हम काशी जायेंगे।'

पहलेपन की बराबरी दूसरापन नहीं कर सकता – फिर वह विवाह हो अथवा विघ्न हो। रसिक दूजवर और दूसरी बार लडाई पर जाते समय भय से ग्रस्त हुआ सिपाही दुनिया में बिरले ही मिलेंगे। चूँकि पहलेपन का जादू आगे नहीं टिकता इसी लिये तो जग इतना दुःखी हो गया है। लेकिन सवाल यह है कि दूसरेपन मे पहलेपन की मिठास लायी किस तरह जाये? लडका उत्साह से पढे इसलिये उसे हर रोज नयी नयी शाला में भेजना सभव नहीं है। यह माननेवाला युवक कि 'गडकरी' और 'यशवत'[१] ने आशाभग के गीत मुझे देखकर ही लिखे हैं, कितना ही सम्पन्न हो, फिर भी वह हर रोज नयी पत्नी थोडे ही बना सकता है। आपका दूध-वाला कितना भी ईमानदार हो यह आशा न कीजिये कि पहले दिन की तरह अच्छा दूध वह हमेशा देगा। यदि आपको अच्छे दूध की ज़रूरत है तो स्वयं गाय पालना ही सब से उत्तम उपाय है। इससे आपको गोपालन का पुण्य तो मिलेगा ही लेकिन साथ ही गोरक्षा विषयक समाचार-पत्रों में आपका नाम भी छप जायेगा। गाय को चारा देना, उसकी पीठ को प्रेम से सहलाना, उसकी गर्दन के नीचे खुजाना – सचमुच, कितने आनंद-दायक काम है ये!

परंतु एक बात अवश्य न भूलियेगा। जब तक गाय नहीं पाली है, तभी तक यह आनद है। पहले दिन आप ये सब काम बडी प्रसन्नता से करेंगे। परतु दूसरे दिन? गाय की लातें, गोबर की गदगी आदि – खैर छोडिये इसे। लेकिन दूसरा दिन कोई पहला दिन नहीं है? नाटक और उपन्यास में लेखक नायक और नायिकाओ को प्रथम दर्शन में ही प्रेम-बद्ध कर देता है इसका कारण यही है। प्रथम-दर्शन की बहती गगा में ये धूर्त लोग हाथ धो लेते है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि यह मौका यदि चूक गया तो नायक और नायिकाओ को विवाह-बद्ध कर देने की आशा नहीं होती।

पहलेपन की यह महिमा है और उसका मैं भी यथाशक्ति लाभ लेता रहता हूँ। मृत्यु का विचार मन मे आने के लिये कोई अमुक ही कारण

१ यशवंत दिनकर पेण्ढरकर : मराठी भाषा के प्रसिद्ध कवि।

लगता हो, यह बात नहीं है। सडक से गुजरते वक्त कोई मुर्दा दिखाई देता है, समाचार-पत्र पढ़ते समय किसी दुर्घटना से परिचय हो जाता है और काव्यो में तो कवि एकदम फूल पर से जो कूदता है, सो सीधा आकर चिता पर ही गिर पडता है। ऐसे समय मनुष्य का मन यदि उदास हो जावे तो अस्वाभाविक नहीं है। इस उदासीनता को हटाने के लिये मैं कहता हूँ, 'मरने से इतना क्यों डरें? मुझे याद नहीं आता कि मैंने परलोक पहले कभी देखा है। परलोक के लोगो से मेरी कदाचित यह पहली ही भेट होगी और क्या कभी ऐसा हुआ है कि पहलेपन में आनंद न हो? जब दूसरी बार मरने का मौका आयेगा तब देखा जायेगा। लेकिन पहली बार एक दफा मरने में क्या हर्ज है? इस के कारण परलोक में कम से कम पहले दिन का आनद तो लुटने मिलेगा।'

● ● ●

७

आँखें

यदि यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि ऑख, कान, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों में से 'नोबेल पुरस्कार' किसे दिया जावे, तो इसका निर्णय क्या होगा? दिन रात ऑखे मूँदकर गाना सुननेवाले अथवा सदा मिष्टान्नों की मीठी सुगंधि के साथ ऊँघने भी वाले थोडे से लोग छोड दे, तो शेष सब लोग ऑखों को ही अपना मत देंगे। नीले आकाश के अगाध समुद्र से असख्य तारिकाओं के रत्न लेकर रजनीदेवी जब प्रकट होती है, तब अत्यन्त आदर से उसका स्वागत कौन करता है? ऑखे ही न? जब विशाल सागर की असख्य लहरियों की लताएँ क्षणक्षण में इस तरह खिलने लगती हैं जैसे उन्हें वसत का स्पर्श हो गया हो, तब उन्हें देखकर आनद से कौन नाचने लगता है? हमारी ऑखे ही। रवीन्द्रनाथ की कल्पनाशक्ति ऑखों को प्राप्त हुई है। यही नहीं, किन्तु चन्द्रशेखर रमण की कल्पना-शक्ति भी उनमें वर्तमान है। लोलक में से होनेवाला सूर्य का पृथक्करण, यदि ऑखें न हों, तो कैसे दिखेगा? पृथ्वी से करोडों मील की दूरी पर अपनी ही धुन में भ्रमण करनेवाले ग्रहो की पूछताछ ऑखों के अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकेगा? कवि और वैज्ञानिक के नाते तो ऑखें नोबेल

पुरस्कार पाने की अधिकारिणी हो ही जाती है। लेकिन शान्ति की प्रस्थापिका की दृष्टि से भी उनका मूल्य बड़ा है। मच्छी बाज़ार का स्वरूप प्राप्त हुई शाला पर जब हेड-मास्टर साहब की दृष्टि पड़ जाती है, तो तुरंत ही वहाँ गभीर शान्ति छा जाती है। यह अनुभव बचपन मे किसे नहीं हुआ है?

नाक और कान की अपेक्षा आँखो को कई गुनी अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। नाक की हालत रियासती प्रजा की तरह है और कानों की ब्रिटिशाधीन मुल्कों की रियाया की तरह। लेकिन आँखो को अमेरिका और जापान की जनता के हक प्राप्त हैं। सब्जी लाने जाते समय रास्ते मे अनेक बार मरी हुई बिल्ली हमारे दृष्टिपथ मे आ जाती है। बीभत्स रस की मनुष्य को रुचि न होने के कारण हो, अथवा इस शंका के मन में उत्पन्न हो जाने के कारण हो कि उस छिन्न-भिन्न लाश की ओर देखकर गौतम बुद्ध की तरह कहीं हम भी वैराग्य के चक्कर में आकर अपनी सब्जी की झोली का रूपान्तर एकदम वैराग्य की झोली मे न कर डालें, हम उस समय दूसरी ओर देखने लगते हैं। आँखे स्वतत्र होने के कारण मरी हुई बिल्ली के आड़े आ जाने पर भी उन्हे कोई त्रास नहीं होता। परंतु गरीब बेचारी पराधीन नाक? आख़िर रियासती प्रजा जो ठहरी। जगह से हिल नहीं सकती और स्वय अपनी रक्षा करने की शक्ति भी उसमें नहीं होती। दुर्गंध से बचने के लिये उपरने का छोर अथवा रुमाल अपने पास ले जावे, तो नाक को हाथ की मदद के बिना कोई चारा नहीं रहता। अच्छा, मान लीजिये हाथ ने कुमक दे दी, फिर भी आख़िर यह आभास तो होता ही है कि रास्ता भूलकर हम नरक के नज़दीक पहुँच गये है। अगर रुमाल का अनत्याचारी मार्ग त्यागकर, चिमटी से नाक दबाने के अत्याचारी मार्ग का अवलबन करें, तो उसके भी सफल होने की सभावना नहीं। आजकल सध्या छुट गयी है। इसलिये प्राणायाम का अभ्यास भी समाप्त है। यदि क्षण-भर को साँस रोकने की कोशिश करे भी, तो किसी वक्त प्राण पखेरू ही उड़ जायें। ख़ैर, प्राण जाने का भी उतना दुःख नही। क्योंकि 'एक दिन जाना रे भाई',

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः', 'मरण प्रकृतिः शरीरिणाम्' आदि वाक्य हम बचपन से पढते आ रहे हैं। डर यही है कि लोगों में हमारी यह बदनामी हो जाएगी कि एक मरी बिल्ली की लाश देखने के धक्के से ही हमारा हार्ट फेल हो गया। जिसके हाथ पैर ठडे पड रहे है, उस मनुष्य को छोड़कर हर एक चारुदत्त की तरह यही कहता रहता है कि मुझे मृत्यु का भय नहीं, भय है बदनामी का।

मरी हुई बिल्ली के सामने मुट्ठी में नाक पकडकर जाने का मौका मनुष्य पर आ जावे, तो यह अत्यन्त अपमानजनक बात है। नाक न होती अथवा होकर स्वतंत्र होती, तो सारी सृष्टि का राजा मनुष्य, उस पर यह मानहानि का अवसर कभी न आता। हमेशा खुले रहनेवाले नथुनों के कारण नाक की दशा बिना दरवाजे की धर्मशाला की तरह हो गयी है। आँखों की वह बात नहीं। भौह के धनुष सुदर स्त्रियों के सिवा दूसरो के लिये उपयोगी न हुए, फिर भी पलकों के दरवाजों के कारण हर एक की आँखें एक सुंदर छोटे-से सुरक्षित बॅगले की तरह सुरक्षित रहती हैं। नाक की धर्मशाला में इत्र की सुगंध से लेकर ताडी की दूकान की दुर्गंध तक चाहे जो आकर बसेरा करे। नाक इस विषय में हूँ या चूँ कुछ भी नहीं कर सकती। लेकिन आँखों के बॅगले के पास धूल के कण जैसा अनिष्ट आते ही बॅगले के दरवाजे चट से मुद्रित कर दिये जाते हैं।

कान और ऑखो की तुलना करने से भी यही सिद्ध होता है। यह सच है कि किसी किसी के कान अलकारिक रीति से खोले जा सकते हैं। लेकिन वे वास्तव मे कभी भी नहीं खोले जा सकते। 'जो जगा हुआ है, उसे कौन जगाएगा?' कहावत जरा बदलकर कानों के बारे में 'खुले हुए को कौन खोलेगा?' कहकर काम में लायी जा सकती है। फिर भी कुल मिलाकर कानो की स्थिति नाक से अच्छी है। कोई व्यक्ति यदि गर्दभ राग से गाना शुरू कर दे, तो ॲगुलियों की मदद से कान उस गाने से अपना बचाव कर सकते हैं। लेकिन हाथ यदि यह मदद देने से इन्कार कर दे, तब जरूर कान की आफत है। व्याख्यान सुनते हुए

अनेक बार ऐसी दशा हो जाती है कि व्याख्याता महाशय जो जी में आता है बका करते हैं। ऐसा लगने लगता है कि उनकी बकवास सुनने से तो किसी दाँतो के डॉक्टर के यहाँ जाकर एकदम बत्तीस दाँतो को उखडवा लेना अच्छा। लेकिन सभा से उठकर चल देना शिष्टाचार के विरुद्ध हो जाता है। अगर कानों में अँगुलियाँ डालकर बैठें, तो वह भी सभ्यता के विरुद्ध होता है। चुपचाप दाँत ओंठ चबाते, हाथ मलते और व्याख्यानदाता को जन्म देनेवाले ब्रह्माजी के पुरखो का मन-ही-मन बखान करते हुए जहाँ के तहाँ बैठे रहना पडता है। कान का घेरा आँखो की पलकों से बडा होता है। लेकिन उसे खुलने और बंद होने का अधिकार न होने के कारण, स्वरक्षा की दृष्टि से वह बिलकुल ही निरुपयोगी है। टाप्स जैसे जेवरो की नुमाइश की जगह की दृष्टि से, स्त्रियों को कदाचित् कान के घेरे का महत्त्व मालूम होता होगा, लेकिन कान की 'भिकबाळी'[1] कृष्णशास्त्री चिपलूणकर[2] की पगडी की तरह ही पुरानी चीज में शुमार हो जाने के कारण, कम से कम पुरुषों के मत से उसकी और रद्दी चीज की कीमत मे विशेष अन्तर नहीं है। पडोस मे कोई मदिर हो और उसमें रात को भजन होने लगे अथवा घर के आसपास कहीं सिनेमा हो, तब तो कानो की कमजोरी मनुष्य को बडी बुरी तरह से महसूस होती है।

आँखों की श्रेष्ठता के और भी कितने ही प्रमाण दिये जा सकते है। लडकी की आँखे पसद होने के कारण वह भावी पति को पसद आ जाने के उदाहरण चाहे जितने मिल जायेंगे। लेकिन वधू के कानों पर खुश होकर उसका पाणिग्रहण करनेवाला युवक किसी प्रहसन मे भी देखने न मिलेगा! किसी व्यवहार-चतुर पुराणमतवादी ने अपनी भावी पत्नी के कान की ओर यदि ध्यान दिया हो, तो वह मन मे सौन्दर्य अथवा कर्ण-महिमा का विचार करके देता हो, यह बात बिलकुल नहीं है। वह यही नाप-जोख किया करता है कि मौका आ ही जाये, तो उसके कान का घेरा अपने हाथ की मैं आ जाने के लायक बडा है या नहीं!

सब देशों और सब भाषाओं के कवियों के सुभाषितों से लेकर महा-काव्यों तक के सारे काव्य आँखों की श्रेष्ठता के लिखित प्रमाण ही है। 'मृगाक्षी', 'मीनाक्षी', 'कमलाक्षी', मदिराक्षी' इत्यादि 'क्षी' की संस्कृत काव्यो में भीड देखी तो ऐसा लगे बिना नहीं रहता कि चराचर वस्तुओ पर ऑखों का ही शासन चलता रहा होगा। कमल की सार्वजनिक उपमा भी नाक और कान को लागू नहीं होती। फिर हरिण, मछली तथा अन्य पशु-पक्षी उनके हिस्से में कहाँ से आयेगे? बाकी चम्पक की कली को छोडकर, अभी भी कवि लोग नाक को दूसरा कोई भी उपहार नहीं देते, यह ध्यान में रखने लायक बात है।

लोकोत्तर पुरुषों का 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' वर्णन आँखों को भी लागू होता है। वल्लभ का दर्शन होते ही छुईमुई के पौधे की तरह चट से नीचे झुक जानेवाली रमणी की ऑखें क्षण-भर में उस पर कटाक्ष-बाणों की वृष्टि करने लगती है। तृतीय नेत्र को खोलकर मदन को जला देनेवाले भगवान शकर क्या उसी समय अपनी शेष दो ऑखों से वल्कल परिधान कर उनकी सेवा करती बैठी हुई पार्वती की ओर देख नहीं रथे थे? तृतीय नेत्र से अग्नि ज्वाला भड़कते हुए भी उनकी दृष्टि को वल्कल-धारिणी गिरिजा मद चन्द्रिकाओं से युक्त रजनी के समान ही प्रतीत हुई।

आँखो से जिस तरह अग्नि कणो की वर्षा होती है, उसी प्रकार जल बिंदु भी बाहर निकलते हैं। मनुष्य देह का अत्यन्त पवित्र स्थान ऑखें ही है। क्योंकि वहीं 'गगा-यमुना' का सगम हुआ दिखाई देता है। मानवी हृदय का निराकार परमेश्वर साकार रूप धारण करके अपने भक्तों को नेत्रों द्वारा दर्शन देता है। जैसा व्यक्ति वैसी भाषा के न्याय से देखने पर भी ऑखों की श्रेष्ठता सहज ही जॅच जायेगी। ऑखो की भाषा के बराबर सूचक भाषा दुनिया में दूसरी कोई भी नहीं है। ऑखों के पलक झपकते झपकते ऑख के इशारे मूकता से जो कह जाते हैं उसका वर्णन करने के लिये उत्कृष्ट उपन्यासकार को कई पन्ने खर्च करना पडेंगे। पलने के नन्हे शिशु से वत्सल माता इसी भाषा में बाते करती है, विवाहवेदी पर

वर और वधू अपना अनुपम आनद इसी भाषा में प्रकट करते हैं, सतान वियोग की अग्नि से जले हुए अभागे माँ-बाप इसी भाषा के द्वारा एक दूसरे को सतोष देते है। दूसरी कोई भी भाषा इन भावों को प्रकट करने में असमर्थ सिद्ध होती है।

दूसरे पक्ष से आनेवाले आक्षेपों का खण्डन हमारे पक्ष का समर्थन होता है। उस दृष्टि से ऑखो की श्रेष्ठता के विरुद्ध उपस्थित किये जानेवाले मुद्दों का विचार करना अनुचित न होगा। सारे कवि हमेशा नयन-महिमा वर्णन किया करते हैं। लेकिन इस न्याय से कि नियम के अपवाद होते ही है, एक कवि महाराज ने ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ऑखो की श्रेष्ठता अबाधित नहीं है। कवि यह दलील पेश करता है कि यदि कान और नाक दोनों असहयोग का डका बजा दे तो ऑखों पर से ऐनक का उच्चाटन हो जाये। ऐनक ही कमजोर ऑखोंवाले मनुष्य की ऑखें होने के कारण उसे कदाचित यह मुद्दा जॅच जाये। लेकिन ऐनक का उपयोग करनेवालो से उसका उपयोग न करनेवालों की ही सख्या अभी तक अधिक होने के कारण, नाक और कान के असहयोग की बहुत से लोग कोई परवाह न करेंगे! अलावा इसके, ऐसे ऐनकों का तो आजकल ही उपयोग हो रहा है जिन्हें कानो के सहयोग की जरूरत नहीं होती। कल ऐसा भी ऐनक निकल आयेगा जिसे नाक के सहयोग की जरूरत न होगी।

इस तरह के आक्षेपो को छोड दें, तो सारी बातें ऑखों की श्रेष्ठता के लिये ही अनुकूल हैं। ऑख जीवन के नाटक का दर्शनी परदा है। ऑखे खुलते ही नाटक शुरू होता है और उनके हमेशा के लिये बन्द हो जाने पर नाटक समाप्त हो जाता है। कहते हैं कि मनुष्य की जन्मकुडली का फल भी इसी पर अवलबित होता है कि उसमे के ग्रह एक दूसरे की ओर बछड़ों को चाटनेवाली गायों की तरह देखते है अथवा मरकनी भैंसो की तरह देखते हैं। देखे बिना इस दुनिया का कोई भी काम पूरा नहीं होता और देखना ऑखों का ही कार्य है। किसी ऑफिस में अपने लड़के को नौकरी दिला देने की प्रार्थना करने के लिये जब पिता जाता है, तब वहाँ

का बड़ा अधिकारी कहता है, – ' देखेंगे, भई '। लेकिन इन दोनो के देखने की दृष्टि जरूर भिन्न होती है। बाप सिर्फ यही देखता रहता है कि खाली जगह में मेरा लडका ही किस तरह चिपक सकता है, और अधिकारी यह देखता रहता है कि मेरा खाली जेब किस तरह भर सकता है। यह तो सभी जानते हैं कि लडाई-झगडे के वक्त मुख्य मत्र – ' ठीक है – देख लूँगा ! ' होता है। एक सुप्रसिद्ध कहावत है – ' घर बनाकर और विवाह करके देखना चाहिए '। इस कहावत की आत्मा ' देखना ' ही है। घर बनाने और विवाह करने के बारे में बिना देखे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अब यह बात दूसरी है कि घर और विवाह का खर्च मूल अन्दाज से इतना अधिक हो जाता है कि मनुष्य को यह लगने लगता है कि कोई मुझे घर की नींव मे ही दफना देता अथवा विवाह की मारपीट मे मेरे प्राण जाते रहते तो बहुत अच्छा होता ! अभी तक यह व्याख्या किसी ने नहीं की है कि मनुष्य देखनेवाला प्राणी है, लेकिन इतनी अच्छी मनुष्य प्राणी की व्याख्या दूसरी और कहीं न मिलेगी। इस व्याख्या के विषय मे यह शका ली जा सकती है कि फिर मनुष्य आखिर मरते हुए भी ऑखे क्यो बंद कर लेता है। परतु इसका उत्तर ' बिना मरे स्वर्ग नहीं दिखता ' वाली कहावत में ही है। चूँकि स्वर्ग देखने के लिये वह मरता है, इसी लिये उस समय उसकी दृष्टि उस ओर मुडी रहती है। ऑखो के रोगों को भी ' मोतिया-बिन्दु ' के समान प्रतिष्ठित नाम है, यह बात भी ऑखों की ओट नहीं की जा सकती।

कवि ने जग को नाना प्रकार की उपमाऍ दी है। कोई मृत्युलोक को मायका मानकर परमेश्वर को पति बनाता है। कोई ससार और ससुराल का सबध प्रस्थापित कर भगवान के घर को मायके का रूप देता है। रगमन्च और बाज़ार आदि की उपमाऍ इतनी पुरानी हो गयी हैं कि उपयोग करते करते घिस गये पैसे की तरह वे साहित्य के बाजार में (यहॉ फिर से बाजार आ ही गया न) चलेगी या नहीं, इसी का शक होता है। (मेरे एक मित्र की बड़ी उत्कट इच्छा थी कि जग को विश्व-विद्यालय प्रवेश परीक्षा का मंडप, बान्द्रा का कसाईखाना इत्यादि की उपमाएँ अभी तक

नयी कोरी होने के कारण, इन्हें रसिकों के सामने रखें। परतु दुर्भाग्य से हम में से कोई भी कवि न होने के कारण वे उसी तरह पडी रह गयी हैं। सच तो यही है कि यदि कच्चे माल से पक्का माल बनाने के यत्र न हो, तो देश की भयकर हानि होती है।

कवि ने जग को कैसी ही भली-बुरी उपमाएँ दी हों, फिर भी कम से कम मुझे तो हमेशा ही यह लगता है कि जीव जग को देखने के लिये आया हुआ प्रवासी है। ताजमहल देखने के लिये अमेरिका से लोग हिन्दुस्तान में आते हैं। पर्वत, नदियाँ, जलप्रपात, शहर, कारखाने आदि विविध कलाओं के सुदर रूप आदि देखने के लिये मनुष्य सदैव प्रयत्नशील रहते है। उन मे की एक एक चीज यदि मनुष्य पर जादू कर सकती है, तो अगणित सुंदर वस्तुओ से भरे हुए जग को देखने यदि जीव उस में आवे, तो आश्चर्य क्या है? हाँ, पर हमे अपने अन्तःचक्षु अवश्य खुले रखना चाहिए। सफेद शुभ्र संगमरमर के पत्थरो का भव्य ताजमहल आनददायक तो है ही, इस मे सदेह नहीं। लेकिन क्या, सुदर कल्पनाओ से सजा हुआ रवीन्द्र का काव्य मदिर उससे भी अधिक आनददायक नहीं है? कोन कहेगा कि हिमालय के शुभ्र गगनचुम्बी शिखरो से भी महात्माजी द्वारा दीनो के परित्राण के लिये फैलाए हुए पवित्र बाहु अधिक भव्य नहीं है? इस मे सदेह नहीं कि उपत्यका मे कूदकर खिलखिलाकर हँस रहे गिरिसप्पा के जलप्रपात का दृश्य अत्यन्त अद्भुत-रम्य है। परतु हँसते हँसते देश के लिये मृत्यु की उपत्यका में कूदनेवाले तरुण की मूर्ति क्या उससे भी अधिक अद्भुतरम्य प्रतीत नहीं होती?

अन्तःचक्षुओं की उज्ज्वलता के कारण मिल्टन चर्मचक्षुओ के अभाव को सह सका। जिसके अन्तरतम का दीपक बुझा नहीं है अथवा चिन्ता के कारण मन्द नहीं हुआ है, उसी का जीवन धन्य है। दुर्भाग्यवश यदि हमारे अन्तरतम का दीपक बुझ गया है, तो हमे वह दूसरे दीपक से फिर जला लेना चाहिए। इस तरह प्रत्येक अन्तःकरण का अक्षयदीप प्रकाशित होने लगे, तो एक दूसरे के सीने पर बन्दूक ताननेवाले राष्ट्र प्रगाढ आलिंगन मे निमग्न हो जायेंगे, जाति-जातियो के सबध मे रक्तपात के बदले आनदाश्रु

दिखने लगेंगे और लक्ष्मीपुत्रों के घरों में बन्दी पड़ी हुई लक्ष्मी गरीबों के घरों को अपनी चरण रज से पवित्र करेगी। यह सुख-स्वप्न कब सच होगा? कमज़ोर आँखोंवालों को ऐनक ने देखने योग्य बना दिया। कमज़ोर और मंद अन्तःचक्षुओं को दृष्टि-सामर्थ्य देनेवाले ऐनकों की खोज कब लगेगी?

● ● ●

८

वैज्ञानिक सत्यं

मैने लडकों से प्रश्न किया, 'लोग सायंकाल को ही घूमने क्यो जाते है?' किसी खास उत्तर के बदले मे बालको की विचार करने की प्रणाली देखना चाहता था। हर प्रकार के व्यावहारिक उत्तर को स्वीकार करने के लिये मैने अपने मन को तैयार कर रखा था। यदि कोई यह कहता कि दोपहर को बाहर जाने पर छाते की बला सिर पर धारण करनी पडती है, रात को घूमने जावे, तो लालटेन के बिना यह हो ही नहीं सकता, फिर भी मैं इन उत्तरो को स्वीकार कर लेता। ऐसे उत्तर वर्षा की नाचनेवाली बौछारो की तरह ही होते हैं। यदि बर्षा का पानी हमें बिलकुल आपाद-मस्तक भिगो दे, फिर भी उससे नहानें मे हमें एक प्रकार का उन्मादक आनद होता ही है।

लेकिन पानी के बदले अगर बिजली बदन पर आ गिरे, तो उसकी सराहना कौन करेगा? उन लडको के मुखिया ने बुरा भविष्य बतानेवाले ज्योतिषी की तरह चिन्ताकान्त मुद्रा बनाकर जो उत्तर दिया, वह सुनकर मैं दग ही रह गया। उत्तर के रूप में कुछ इस तरह के शब्द उसके मुँह से बाहर निकले,—'सायंकाल के समय सूर्य की किरणें लबी न होकर वक्र

होती हैं – किरणों के रंग का परिणाम – उस हवा के कारण फेफडे शुद्ध होते हैं। इसलिये मनुष्य सायंकाल को घूमने जाते है।' मै यह नहीं कहता कि उसे निद्रित बालक के स्मित की तरह आभासित होनेवाली मंद शीतल वायुलहरियो, अथवा बहुत दिनो के बाद पति से भेट होने पर उसके स्वागत के लिये इस दुविधा में, कि गुलाबी साडी पहनूँ या कि आसमानी रग का सालू पहनूँ, पडी हुई रमणी की तरह सध्यारानी का काव्यमय वर्णन करना चाहिए था। लेकिन, वृद्ध की दृष्टि की तरह क्षण-क्षण में निस्तेज होते जानेवाली और उसके कारण ही अपने कारुण्य से मन को आकर्षित करनेवाली धूप, अथवा नीड़ के आकर्षण से उडनेवाले पक्षियो के दल के दल की तरह कुछ दृश्यो का वह उल्लेख करेगा, ऐसा मैंने सोचा था। पर – पर क्या ? ऐसा लगा कि उस रट्टू विद्यार्थी ने अपने स्वास्थ्य-विज्ञान का कोर्स हाल ही मे पूरा किया था। आकाश मे चमकनेवाली चॉदनी से लेकर, पृथ्वी पर लहरा रही घास तक उसकी वैज्ञानिक दृष्टि को एक भी रमणीय चीज न दिखी। उसे सिर्फ घूमने जानेवाले लोगों के फेफड़े भर दिख रहे थे! उस समय यदि मैं उसे चिल्लाने की अनुमति दे देता, तो निश्चय ही उसने यही नारे बुलद किये होते– 'शुद्ध हवा की जय', 'फेफड़े जिंदाबाद'!

ऐसे समय यह लगने लगता है कि अज्ञान की तरह दूसरा सुख नहीं। यक्ष-गधर्वों की अद्‌भुत सृष्टि मे विचरण करने की जिन लडको की उम्र है, वे रमणीय सायकाल की प्रशसा स्वास्थ्य-विज्ञान के आधार से करें ? वैज्ञानिक दृष्टि यदि काव्यदृष्टि के लिये इतनी घातक होती हो, तो क्या वह मानवजाति के आनद मे वृद्धि कर सकेगी ? मै यह नहीं कहता कि कमजोर ऑखोवाले पिता को आनुवशिक सिद्धान्त पर विश्वास न करना चाहिए। लेकिन पहली ही सतान के समय यदि वह इस चिन्ता से ग्रसित हो जावे कि क्या वह अधी पैदा होगी, तो क्या वह विश्वास दुःखदायक ही सिद्ध न होगा ? मैंने ऐसे अनेक लोग देखे है जो डॉक्टरी पढने के कारण जन्म के रोगी हो गये हैं। उनके स्वास्थ्य में जरा भी उन्नीस-बीस हुआ कि उनके आसपास थरमामीटर, स्टेथास्कोप आदि मडली का जमघट

लग ही गया समझिए। ऐसे समय विज्ञान का मूल्य शून्य मालूम होने लगता है और यह नियम कि शून्य का कितनी ही बड़ी संख्या से गुणा करें फिर भी हाथ मे शून्य ही बचता है, बीज-गणित की तरह जीवन में भी सत्य है।

विज्ञान, नीति, ज्ञान, सत्य इत्यादि इत्यादि का मानवी जीवन में कितना महत्त्व है? लेकिन जिन तत्त्वो को हम देवता मानकर पूजते हैं, वे तत्त्व यदि छाती पर सवार होनेवाले भूतों की तरह बर्ताव करने लगें, तो क्या इन सारे देवताओ का विसर्जन कर देने मे ही हमारा कल्याण नहीं है? इब्सेन के 'वाइल्ड डक' नामक नाटक की नायिका का विवाह से पहले गुप्त प्रेम-सबध होता है। नायक को इस बात का पता नहीं रहता। विवाह-दिन से उसकी पत्नी उससे इतना उत्कट प्रेम करती रहती है कि उस शीतल हवा के कारण ही गरीबी की गरमी मे भी उसका मन नहीं जलता। आगे चलकर बहुत वर्षों के बाद उसका एक मित्र उससे मिलने आता है और उसे अपने मित्र के इस कौटुम्बिक अज्ञान पर दया आती है। वह उसकी गृहस्थी को सत्य की नींव पर खड़ी करने के लिये उसकी पत्नी का रहस्य उससे कह देता है। सत्य कैसा? सत्यानाश कर देनेवाला सुरग ही था वह। उसके कारण उस सुखी गृहस्थी-मंदिर के क्षण मे टुकडे टुकड़े हो जाते हैं।

ऐसे नग्न सत्य को लेकर क्या करना है? यही नहीं, बल्कि मुझे लगता है कि मनुष्य की तरह सत्य भी वेश-भूषा में ही अधिक आकर्षक होता है। डॉक्टर के सामने लज्जा किसी काम की नहीं, उसी तरह विज्ञान की चर्चा करते समय बिलकुल सौ नबरी सत्य का उपयोग खुशी से किया जाये। लेकिन यह बात मुझे जॅचती ही नहीं कि सुख-दुःखों की लहरों पर नाचनेवाली मानवी जीवन की नौका को ऐसे शुद्ध वैज्ञानिक सत्य की जरूरत है। डारविन साहब कहते हैं कि मनुष्य बन्दर से हुआ। ठीक है। हम बिना किसी शर्त के इस सिद्धान्त को मान लेते हैं। लेकिन यदि किसी युवक को भावी वधू चुनते समय इस वैज्ञानिक सत्य की स्मृति होने लगी, तो आजन्म ब्रह्मचारी रहे बिना उसे दूसरा चारा ही न रहेगा।

इसका मतलब यह कदापि नहीं कि विज्ञान और उसके कारण प्रकाशित होनेवाले सत्य को दुनिया के घूरे पर फेंक दिया जाये। यह मै भी समझता हूँ कि वैज्ञानिक सत्य मानवी जीवनसागर के मोती हैं। मैं यह भी मानता हूँ कि यदि मोती के टाप्स न मिलें, तो कानों के अग्रभागो को ढाकनेवाली केश-रचना का, कानों को सम्पूर्ण रूप से ढाक देने की फैशन में रूपान्तर करने का भयकर प्रसग रमणियो पर आ जायेगा। लेकिन समुद्र मे मोती भले ही हों, फिर भी गोतेखोरों को उन्हे निश्चित समय पर ही निकालना पड़ता है। जो दर्शक सागर की लहरो का गरबा नृत्य देखने गये हैं, वे यदि उन मोतियो को निकालने का हठ करने लगे, तो क्या यह पागलपन न होगा? 'कुणि गोविन्द घ्या, कुणि गोपाळ घ्या'[१] गाती हुई जब लहरें आपस मे टिपरी खेलती रहती है, उस समय उन के ताल पर खो जाना छोडकर, यदि कोई तैराक मोतियों की खोज करने लगे, तो उसके हाथ बालू के सिवा और क्या लगेगा?

तुकाराम[२] की 'सुख पाहता जवापाडे। दुःख पर्वताएवढे।'[३] पक्ति से भी स्पष्ट दिखाई देता है कि तुकाराम व्यापार मे क्यों डूब गया। मामूली सुखदुःखों का नापखोज करना भी बेचारे को ठीक से नहीं बनता था। दुःख यदि पर्वत के बराबर बड़े होते, तो उसके नीचे दब गयी हुई मानवजाति प्रलय को जल्द लाने के लिये हर तरह से कोशिश करती। क्या कहते है कि सुख जव के बराबर? हलफ उठाकर सच बोलनेवाला गवाह भी इससे अधिक झूठ और क्या कहेगा? दुनिया मे क्या ऐसा एक भी मनुष्य है जिसे श्रान्त शरीर को माता के भावुक स्पर्श की तरह भासनेवाले निद्रा के सुख का अनुभव नहीं हुआ? पहली नींद के बाद जब थोडी देर के लिये जागते है उस समय गधर्व-नगरी की तरह दिखनेवाली चाँदनी रात, प्रातःकाल अपने साथ आँखे खोलकर आनद

१ 'कोई गोविन्द लो, कोई गोपाल लो' – बच्चे के नामकरण-विधि के समय का झूला गीत।

२ एक प्राचीन महाराष्ट्रीय सत।

३ 'सुख देखो तो जव के बराबर और दुःख पहाड़ के बराबर।'

से हँसनेवाला आकाश, दोपहर को रूठे हुए पेट को संतुष्ट करनेवाली रोटी — इन में की एक एक चीज क्या सुख का फव्वारा ही नहीं है ? जनसमूह के द्वारा जयघोष के साथ किया जानेवाला भजन सुनते समय अथवा किसी छोटे बालक का चुम्बन लेते समय होनेवाले आनंद को क्या दुःख के खाते मे जमा करेंगे ? जग के सुख-दुःखों के सवाल को हल करते समय तुकाराम महाराज का उत्तर गलत हो गया। उसका कारण यही है कि उनकी दृष्टि परमार्थ की ओर लगी थी और परमार्थ उस जमाने का एकमेव वैज्ञानिक सत्य था।

मेरा यह हठ कि हमें विज्ञान दृष्टि की जरूरत है, लेकिन उसे काव्य-दृष्टि को देशनिकाला न देना चाहिए, अनेक लोगों को पागलपन मालूम होता है। वे कहते हैं, — 'एक म्यान मे क्या कभी दो तलवारे रही हैं ?' मै उन्हें उत्तर देता हूँ — 'क्या हम कभी कभी दो सौतो को परस्पर प्रेमपूर्वक रहते नहीं देखते ?' परतु जिन्हे इस वकीली उत्तर से सतोष न होगा, वे नीचे लिखे तर्क से अवश्य ही सतुष्ट हो जायेगे। वैज्ञानिक दृष्टि क्या शकरजी का तृतीय नेत्र नहीं है ? पुराणो में ऐसा लिखा है कि शकरजी का यह तृतीय नेत्र हमेशा मुद्रित ही रहा करता था। यह सच है कि जब मदन ने बहुत तग किया तब कैलाशनाथ ने उसे खोला। परंतु वह कितनी देर तक ? क्षण-भर के लिये ही। भोलानाथ के नाम से प्रसिद्ध शकर भी इतना पागल न था कि त्रिभुवन सुदरी गौरी की मूर्ति सामने खड़ी हो जाने पर अपना तृतीय नेत्र खुला रखे !

● ● ●

१

समर्पण-पत्र

मेरी कोई पुस्तक जब प्रेस में जाती है, तब मैं इस मधुर कल्पना-तरंग मे निमग्न रहता हूँ कि वह किसे समर्पण करूं। विवाह-पत्रिका की तरह समर्पण-पत्रिका भी सहज विनोद का विषय हो सकती है, यह मै भी जानता हूँ। यह बात नहीं कि न जानता होऊँ। जिन राजा महाराजाओं को कुत्तों और घोडों का शौक होता है, उन्हें अपनी पुस्तक समर्पण करते समय जब ग्रंथकार लिखता है कि 'उनकी अपूर्व रसिकता देखकर यह ग्रथ उन्हें अत्यन्त आदरपूर्वक समर्पित किया है', तब यदि पाठक न हँसे तो क्या करे? यूँ देखा जाये तो पेडे और बर्फी बनानेवाले मिठ्या को यदि कोई अपनी पुस्तक – वह खोवा पर न लिखी हुई हो फिर भी – समर्पण करे, तो अनुचित क्या है? लेकिन उस तरह का एक समर्पण पत्र पढकर मुझे स्वय ही बडी हँसी आयी थी। समर्पण-पत्र में नाम का उल्लेख करना आवश्यक है, इस में संदेह नहीं, परतु धंधे के उल्लेख की क्या आवश्यकता? और यदि वह करना जरूरी है, तो उम्र, वशवृक्ष, पत्नी, लडकों-बच्चों के नाम आदि का भी उल्लेख क्यो न किया जाये? लेकिन भावना के आवेश में कहिए, अथवा कूटनीतिज्ञतावश कहिए, समर्पण-पत्र में ऐसी

मजेदार बातें आ जाती हैं, इसमें संदेह नहीं। कोई भी किसी को जब पुस्तक समर्पण करता है, तो वह प्रेम से ही होना चाहिए लेकिन शायद यह सोचकर ही पाठकों को यह ज्ञात न होगा, अनेक ग्रथकार (उनमें मैं भी शामिल हूँ) अपने प्रेम का उल्लेख करते है। इस मे भी सप्रेम, प्रेमपूर्वक इत्यादि सूक्ष्म भेद हैं ही। अनेक समर्पण-पत्रों में एक पत्थर से अनेक पक्षियों को मारने की हिकमत भी दिखाई देती है। 'मानस मदिर की देवता के चरणों में' वाला समर्पण-पत्र क्या इसी नमूने का नहीं है? इसाप की कहानी का दो पत्नियोंवाला पति कोई सख्या लिखकर, वह '—को' समर्पण करता, तो मेरा ख्याल है कि उसका सिर इतने जल्दी गजा न होता! हर एक पत्नी को एकान्त में यह कहकर कि मैंने यह ग्रंथराज तुम्हें ही समर्पण किया है, वह दोनों पत्नियों को दीर्घ काल तक झुलाये रख सकता था। उसका यदि तीन सौ पत्नियों का भी जनानखाना होता, फिर भी '—को' की हिकमत के कारण उसके सिर के एक बाल को भी धक्का न लगता।

लेकिन जो यह आपत्ति उठाते है कि समर्पण-पत्र एक प्रकार की प्रदर्शनी है, और प्रेम कोई प्रदर्शनी में रखने लायक वस्तु नहीं है, अथवा इसी तरह के दूसरे आक्षेप लेते हैं, उनकी भूमिका जरूर मुझे मजूर नहीं। शाहजहाँ ने मुमताज पर प्रेमरस की जो वर्षा की होगी, उसका पता चन्द्रमा को भी न लगा होगा, और शाही महल की दीवालों के कान होते हुए भी उन्हें उनके प्रेमालाप सुनने न मिले होंगे! लेकिन इस मूक प्रेम का स्मारक बनाते समय उस रसिक बादशाह ने यह दक्षता ली ही कि वह अत्यन्त रमणीय और दर्शनीय हो। आखिर समर्पण-पत्र भी क्या हैं? वे प्रेम के स्मारक ही है।

हाँ, यह बात झूठ नहीं कि स्मारक शब्द में एक प्रकार का कारुण्य है। मनुष्य जब हमें सदा के लिये छोड़कर चला जाता है, तब इसलिये कि उसकी स्मृति काल के प्रचण्ड पैरो से उडनेवाली धूल से ढक न जावे, हम उसका स्मारक बनाते है। फिर अपने जीवन में सहज ही संचार करनेवाले और उसे प्रकाश देनेवाले व्यक्तियों को यदि हम पुस्तकें समर्पण

करे, तो क्या हम स्पष्ट रूप से यह स्वीकार नहीं कर लेते कि उनका और हमारा प्रेम समाप्त हो गया है ? इस प्रश्न का विस्तारपूर्वक उत्तर न देकर मै इतना ही कहूँगा कि मानवी मन चचल है – भुलक्कड़ है – कृतघ्न है ! समर्पण-पत्र को जो इतना महत्त्व प्राप्त हुआ है वह इस कारण से ही !

जो लोग बचपन से हमारे जीवन में आये हैं और हमें सुख देकर चुपचाप चले गये हैं, उनके नाम हमारे पास कहाँ लिखे रहते है ? मनुष्य के मन को स्वर्णाक्षरों मे कुछ भी लिखते नहीं आता। वह सारी बातें धूलाक्षर में लिखा करता है। एक वर्षा आयी और पिछले सब अक्षर धुलकर साफ हो गये। अनेक बार हमें ऐसा लगने लगता है कि किन्हीं खास खास मनुष्यों के बिना हमारा जीना असंभव है। लेकिन थोड़ा-सा समय बीत जाने पर हम उन व्यक्तियों को पूर्ण रूप से भूल जाते है। कहते है कि समय मन के घावो को भर देता है। लेकिन मुझे लगता है कि मन में खिली हुई कोमल भावनाओं का फुलेरा भी वह झुलसा देता है। बड़े होने पर जरा जरा सी बातों के लिये माँ पर क्रोध करनेवाले मनुष्य को उस क्षण यदि यह स्मरण हो जावे, कि बचपन मे बादलों की गडगडाहट सुनकर मै किस तरह डर गया था, माँ से लिपटकर उस गडगडाहट को बद कर देने के लिये मैने अपनी तोतली बोली में किस तरह कहा था, और जब उसने मुझे हृदय से कसकर चिपका लिया था, तब मेरा भय किस तरह भाग गया था, तो – परतु वैसा कहाँ होता है ? मन की चलनी से कृतज्ञता की सुगध कभी की निकल चुकी होती है। लेकिन दुःख के आडेटेढे काँटे अवश्य उसमे ऊपर अटके रहते है।

लडके लडकियाँ को मै यह शानदार उपदेश कभी नहीं देता कि – ‘ बरें सत्य बोला यथातथ्य चाला –’[१] – मै उनसे केवल एक बात कहता हूँ। उन्हें डायरी की तरह एक छोटी नोट-बुक रखनी चाहिए। इस नोट-बुक में अपने अनुभूत प्रत्येक भावुक प्रसग को लिखना न भूलना चाहिए। फिर उस प्रेम का स्वरूप कितना ही छोटा क्यो न हो। आगे चलकर दुनिया के कटु अनुभवो से जब मुँह का स्वाद बिगड़ने का मौका

१ ‘ हमेशा सच बोलो और उसी के अनुसार वर्तन करो।’

आता है, उस समय यह पुराना शहद बडा काम देता है। जब व्यवहार की आँच से भावनाएँ सूखने लगती है, तब उन्हें इस प्रकार की भावुक स्मृतियाँ गीलापन देने लगती हैं। जब मैंने यह सुना कि एक व्यक्ति जो किसी समय मेरा अत्यन्त घनिष्ठ मित्र था, कुछ दिन से जब भी उसे मौका मिलता है, मेरी निन्दा करने लगता है, तब उसकी निंदा करने का मोह मैं भी सवरण न कर सका। लेकिन जीवन के एक अत्यन्त निराशापूर्ण अवसर पर उसने बडे भाई की तरह मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए यह कहकर कि 'तू पागल है! इतना बडा हाथी निकल गया, अब उसकी सिर्फ दुम रह गयी है, तब उससे इतना डरने की क्या ज़रूरत है?' मुझे हिम्मत बधाई, उसे मैं आज तक नहीं भूला हूँ। प्रतिक्रिया के रूप में जब मुझे उसके विरुद्ध बोलने की इच्छा हुई उस समय ठीक यही प्रसंग मेरे मन ने अपने सामने खड़ा किया और तुरंत ही मेरे मुँह पर ताला पड गया।

सुगध की तरह हवा मे उड जानेवाली कृतज्ञता को शब्दो के बधनो में इत्र की तरह बंदकर रखने का प्रयत्न ही समर्पण-पत्र है। मनुष्य अन्य सब बाते भूल जायेगा, लेकिन अहंभाव के कारण वह अपनी पुस्तकों को कभी भी नहीं भूल सकेगा। शुक्राचार्य के पेट में प्रवेश कर कच ने जिस तरह सजीवनी विद्या प्राप्त की, उसी तरह समर्पण-पत्र भी लेखक की पुस्तक में प्रवेश कर उसकी विस्मृति पर, अथवा कृतज्ञता के अभाव पर विजय प्राप्त करते है।

पुस्तक बहुधा एक ही व्यक्ति को समर्पित की जाती है। लेकिन हर बार यह मधुर पहेली सुलझाने मे कि वह किसे समर्पण करूँ, मैं अपने जीवन का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने लगता हूँ। यह देखकर कि जमा की तरफ जो छोटी-मोटी रकमे हैं वे कहाँ से आयी हैं, मेरा मन गद्गद् हो जाता है। अनपढ नौकरानी का मातृप्रेम, मुझ से उम्र में बहुत कम युवक का बधु-प्रेम, केवल सयोग से प्राप्त हुआ भगिनी-प्रेम, और तो क्या, विषमज्वर के कारण बेहोशी की हालत मे 'माँ आ गयी क्या?' के पीछे 'मास्टर जी आ गये क्या?' प्रश्न में व्यक्त हुआ शिष्य-प्रेम –

प्रेम के इतने विविध और विलक्षण स्वरूप ऐसे समय प्रतीत होते हैं कि जीवन की यात्रा में पैरों में चुभे काँटों का विस्मरण हो जाता है, ऐसा आभास होता है जैसे हमने एक सुगधमयी नयी सृष्टि में प्रवेश किया है। मनुष्य के हृदय की श्रेष्ठता पर की श्रद्धा द्विगुणित होती है और ऐसा लगने लगता है कि हम कितनी ही पुस्तकें क्यों न लिखें फिर भी हमें इस विवचना में कभी न पड़ना पड़ेगा कि हम उन्हे किसे समर्पित करें! इस लंबी चौडी सूची में मेरी बर्फ जैसी सफेद शुभ्र बिल्ली गुल्लू तो है ही! लेकिन मेरे घर के सामने की टेकडी पर का एक पत्थर भी है! जेरोम के. जेरोम ने क्या अपनी एक पुस्तक अपनी चिलम को ही नहीं समर्पित की है?

● ● ●

१०

आत्महत्या

समाचार-पत्र मे मोटे अक्षरों से छपा हुआ 'एक युवक की आत्महत्या' शीर्षक देखकर मेरे मन में विचारों का तूफ़ान उठ खडा हुआ। इस लोक में नौकरी कहीं न मिलने के कारण उसकी खोज में बेचारा परलोक गया होगा। कदाचित् प्रेम-भग के कारण भी उसने आत्महत्या की होगी! चूँकि शकरजी ने उसे जला दिया था इसलिये इसका बदला मदन दुर्बल मनुष्यो से हमेशा ही लिया करता है! मदन के बराबर दुष्ट देवता दुनिया में कोई न होगा। वह एक हाथ से लोहे के पास लोह-चुम्बक ले जाता है और दूसरे हाथ से उन दोनों के बीच रुकावट का परदा पैदा कर देता है। भ्रमरों को वह सुंदर सुगधित फूल दिखाता है, लेकिन ज्यो ही वे उसके पास पहुँचते हैं, त्यों ही अपने जादू से वह उन फूलो को कलियाँ बना डालता है। संस्कृत कवियों का यह कथन है कि मदन के पाँच बाण फूलो के होते हैं। वे बाण फूलों के भले ही हो, परंतु उनके सिरे काँटेदार होते हैं। यही नहीं, बल्कि कभी कभी तो वह उन्हें विष मे बुझाकर रखने से भी बाज़ नहीं आता।

मेरा मन इस तरह मदन की निन्दा कर रहा था (इस निन्दा का

कारण कोई प्रेम-ब्रेम नहीं था। मेरे द्वारा उसे दी जानेवाली गालियाँ पूर्णतया निःस्वार्थी थीं।) तभी मेरी आँखों ने आत्महत्या का वह समाचार पढा। उसे पढते समय आधी रात को घर के बाहर आवाज सुनकर इस कल्पना से कि चोर होगे सब लोग एक दूसरे को हिम्मत बधाते हुए डंडे ले लेकर बाहर जावे और उनकी आहट पाते ही दीवाल से कानाफूसी करनेवाली घूस सिर पर पैर रखकर भाग जाये, उस तरह मेरी स्थिति हो गयी। वह युवक बेकार नहीं था और उसका प्रेम-भग भी नहीं हुआ था। इसके विपरीत आत्महत्या के दो दिन पहले ही उसका विवाह हुआ था। मदन के राज्य में प्रवेश करते ही इतनी जल्दी यमराज की सीमा में पहुँच जाने का कारण बिलकुल साधारण था। कहते हैं कि उसने अपने लिये जो पत्नी पसंद की थी वह रूप की दृष्टि से दूसरों को पसंद न थी! उसके समान युवक 'बूढ़ा और उसका गदहा' की कहानी की तरह बर्ताव करे, यह तरुण पीढ़ी के लिये शोभा नहीं देता।

उसकी पत्नी का रूप दूसरो को पसंद न था न? बहुत उत्तम! 'पुण्यप्रभाव'[१] का सुदाम यदि उसकी जगह होता, तो अन्य जनों का यह मत सुनकर, उसके बदन पर मुट्ठी भर मास चढकर उसका कृश शरीर कम से कम थोडा भरा हुआ हो जाता। अपनी पत्नी का रूप दूसरो को पसंद नहीं है, तो क्या इसलिये कोई आत्महत्या कर ले? हम जो औषधि ले रहे है, उसकी बास हमारे निकट बैठे हुए मनुष्य को अजीब-सी लगती है, इसलिये क्या उस औषधि को फेक देना बुद्धिमानी होगी? दूसरों के मतों को यदि इतना मन पर लिया जाये, तो बहुत से ग्रथ प्रकाशित होते ही चिराग़ अली के हवाले कर देना पडेंगे और निन्नानबे फी सदी लडको को ब्रह्माजी के हात से लेकर यमराज के सुपुर्द कर देना ही उचित होगा।

इस युवक की यह आवश्यकता से अधिक कोमल मनोवृत्ति अन्य कुछ लोगों के हिस्से में पड़ जाये, तो अवश्य जग का लाभ होने की सभावना है। स्वय अपनी पसंद की लड़की अथवा लडका अपने लडके-लड़कियों के गले में बाँध देनेवाले माँ-बापों के शरीर में इस तरुण के विचारों की

१ एक मराठी नाटक।

हवा का सचार हो जाये, अथवा प्रजा को निचोड़कर, उसके खून से होली खेलनेवाले जुल्मी शासकों को, ऐसी अनोखी सनक आ जाये, तो क्या ही अच्छा होगा? श्रोताओ के माथे पर पड़े बलों की ओर तनिक भी ध्यान न देकर, अपना गाना गाये जानेवाले गवैये, ग्राहकों के सकोच से लाभ उठाकर, उनके पल्ले रद्दी माल बाँध देनेवाले व्यापारी, गिरगट की तरह प्रति दिन रग बदलनेवाले देशभक्त इत्यादि लोग भी इस आत्महत्या विशारद युवक को अपना गुरु बना लें तो अनुचित न होगा।

युद्ध की तरह आत्महत्याएँ भी अनेक बार मामूली कारणों से हो जाती हैं। सर्विया के राजकुमार को गोली मार दी गयी। उस गोली ने छः वर्ष तक दुनिया में आग लगा दी। आत्म-हत्या करनेवाले इस युवक के विषय में भी यही हुआ। मजाक से कहिए अथवा खिल्ली उडाने की गरज़ से कहिए, लोगों ने उसकी पत्नी के रूप की हँसी उडायी। उडायी तो उड़ायी! यदि किसी ने यह कह दिया कि तुम्हारी पत्नी शूर्पनखा है, तो प्राण दे देना कोई इस आलोचना का उचित उत्तर नहीं है। या तो यह सोचकर संतोष मान लेना चाहिए, कि शूर्पनखा रावण की बहन होने के कारण, अपनी ससुराल सोने की लका मे है, अथवा कम से कम आलोचक की पत्नी को ही कुब्जा सिद्ध कर देना चाहिए। दुनिया हमारे मार्ग में काँटे बिछाने के लिये तुली बैठी ही है। यदि इन काँटों से बच सकते हों, तो उत्तम ही है—लेकिन दुर्भाग्यवश यदि उसमें का एकाध अपने पैर में चुभ ही गया, तो यह भूल जाने से काम नहीं चलेगा कि काँटा काँटे से ही निकलता है।

लेकिन विकार के आवेश में युवकों को इसका विस्मरण हो जाता है। (आत्महत्या करनेवाले हमेशा युवक ही होते हैं। आत्महत्या करनेवाला वृद्ध वदतो व्याघात का उत्तम उदाहरण माना जा सकेगा।) कोई फेल हो जाने के कारण अफीम का भरपूर डोज़ खा जाता है, कोई परीक्षा में पहला नबर न आने के कारण गले पर उस्तरा चला देता है। बेचारों के ध्यान में भी नहीं आता कि 'यूनिवरसिटी', 'टेक्स्ट्', 'रिजल्ट्', 'क्लास', 'सर्टिफिकेट', 'ऐप्लिकेशन' आदि शब्दों के अर्थ स्वर्ग

के बृहस्पतिजी को भी मालूम नहीं है। फिर अन्य देवताओं की बात तो दूर ही रही !

आत्महत्या करनेवाले की मनोदशा क्या होती है इस विषय में अनुभव के दो शब्द कहने का अधिकार मुझे बिलकुल नहीं है। मैंने आज तक जो भी अफीम खायी होगी वह बिलकुल बचपन मे अपनी माँ के हाथ से ही। उस समय अफीम का अर्थ समझना भी मेरे लिये सभव न था। लेकिन मै किरकिर करनेवाला होने के कारण, बचपन मे मुझे अफीम का स्वाद चखना पडता था, यह अवश्य सच है। मै जब इतना बडा हो गया कि मुझे दाढी निकलने लगी, तब मै खुद अपने गले पर उस्तरा चलाने लगा, लेकिन अभी तक मेरा सारा झुकाव ठुड्डी के नीचे की घाटी में छिपे हुए बालो पर ही है। उस घाटी के नीचेवाले पाताल मे जाने की मेरे हाथ ने कभी भी कोशिश न की। गले मे फॉसी लगानेकी केवल कल्पना ही मुझे भयकर लगती है। भवसागर मे मनुष्य को एक दिन आप ही आप डूबना है। फिर व्यर्थ ही रस्सी की फॉसी बनाकर उसे गले में अटकाना और खडखड करते हुए जीवन का रहट एकदम छोड़ देना – यह झंझट कोन करे ? मैने अभी तक जहर नहीं खाया। इसका कारण यह नहीं कि मेरे पास जहर खाने को भी पैसे नहीं है। बल्कि जहर खाने की इच्छा ही आज तक मेरे मन मे उत्पन्न न हुई, तो इसके लिये मै भी क्या करूँ ?

मेरे इन उद्‌गारों को सुनकर आत्महत्या करनेवालों के भूत दॉत-ओंठ चबाकर मुझ पर टूट पडेगे, और मुझ से पूछेगे, – 'सुख मे लोटनेवाला आत्म-हत्या क्यो करेगा ?' बेचारो को यदि मेरे चरित्र का पता चल गया तो – तो निःसदेह वे यमराज से मृत्युलोक मे फिर से वापस जाने की इजाजत मॉगेगे। लेकिन नाटक मडली के विज्ञापना के इस नियम की तरह कि 'एक बार खरीदा हुआ टिकट किसी कारण से वापस नहीं लिया जायेगा', यमराज भी अपने कोड का नियम दिखाकर उन्हें निराश कर देगा। लेकिन इस के लिये कोई क्या कर सकता है ?

आत्महत्या मरण की अर्धांगिनी है। पत्नी की झक सम्हालने के लिये

विवाह का मुख्य हेतु प्रजोत्पादन था और नयी बस्तियाँ बसाने के लिये जितने मनुष्य मिल सके उतने आवश्यक ही थे, उस समय आत्महत्या की पाप में गिनती होना स्वाभाविक था। लेकिन जिस तरह आज ऐसा जमाना आ गया है कि विवाह होने के बाद ही यदि सतति-नियमन का अभ्यास आरभ किया तभी सुखी गृहस्थी संभव है, उसी तरह आत्महत्या को महापुण्य मानने का जमाना भी कभी न कभी पृथ्वी पर आयेगा, कौन कह सकता है कि नहीं आयेगा ?

अत्महत्या का प्रयत्न करनेवाले को कानून सजा देता है। विकारो के आवेश में प्राण देने का प्रयत्न करनेवाले दुर्बलों को दण्ड देनेवाला कानून शरीर के परदे की ओट में चल रही आत्महत्याएँ कहाँ देखता है ? बाप-दादाओ के द्वारा भले-बुरे उपायो से प्राप्त की जमीनो मे, किसानो के गाढ़े पसीने से पैदा होनेवाले सुवर्ण को, पलग पर लेटे लेटे हडप कर लेनेवाले मनुष्यो की आत्माएँ क्या जिंदा होती हैं ? समाचार-पत्रों मे जिनके बारे में कभी एक शब्द भी नहीं छपता, लेकिन चित्रगुप्त के खाते मे जिनके विषय मे विशेष उल्लेख होता होगा, ऐसी आत्महत्याएँ यदि देखनी हों, तो राजाओ के सिंहासन, मिल-मालिको के बॅगले और जमींदारो की बैक-बुकें देखना चाहिए। इन आत्महत्याओ को रोकने का कानून कब बनेगा ?

● ● ●

११

तीसरे दरजे का सफर

बेलगॉव स्टेशन पर मै जब रेल गाडी के डिब्बे मे बैठता हूँ, तो कुछ क्षण के लिये चकरा जाता हूँ। लेकिन यह बात नहीं है कि उसमे लिखे हुए यह जतानेवाले अक्षरों से कि यह डिब्बा उन्नीस फौजी सिपाहियो और अडतीस दूसरे मुसाफिरो के लिये है, मैं डर जाता हूँ। एक फौजी सिपाही कम से कम दो आदमियो के बराबर तो होना ही चाहिए। वरना लडाई में वह किस काम का? इसलिये इस फौजी सारिणी को देखकर, मेरा मन अस्थिर हो जाता है, ऐसी कोई बात नहीं है। इसके विपरीत मेरे मन में यह विचार झॉक जाता है कि इस के साथ ही कम्पनी यदि यह भी स्पष्ट कर देती कि इस डिब्बे मे मोटे आदमी कितने बैठें और पहलवानों की सख्या की मर्यादा क्या है, तो अच्छा होता! क्योकि धर्म का तत्त्वज्ञान जिस तरह केवल प्रवचन तक ही है, उस प्रकार ऐसे नियम भी सिर्फ लिखने के ही काम के हैं! उनका लाभ यदि किसी को होता हो तो उन्हें लिखने के कारण जिसे मजदूरी मिलती है, सिर्फ उस मनुष्य को ही होता है।

उस दिन का ही अनुभव देखिए। उस दिन रेल्वे कम्पनी ने जैसे यह

परीक्षा ही लेने का निश्चय कर लिया था कि डिब्बे के सारे मुसाफिर सौ तक गिनती गिन सकते हैं या नहीं। वर्षा की एक झडी खुलते खुलते ही उसी से लगी दूसरी झड़ी आ जावे, ठीक इस तरह हो रहा था उस दिन। हाथ मे गठरी लिये छुटभैया डिब्बे के भीतर दाखिल होने के बाद दरवाज़ा बद करने की कोशिश करते, तभी ट्रक से कोकणी झाडू और बिस्तर में कटहल बाँधे एक बडे भैया भीतर घुस पडते। आसमान ही जब फट जावे, तो उसे सूजी धागे से सीने की झझट इद्रादि तेतीस करोड़ देवताओ के कपडे सीनेवाला दरजी भी न करेगा। परकोटे मे एक बड़ा छेद कर देने पर शत्रु से किले की रक्षा करें भी कैसे? मैं और डिब्बे के मेरे सहप्रवासी हताश मुद्रा से हर एक नये मुसाफिर की ओर और रेल्वे उपनिषद् के इस महामत्र की ओर कि 'थाबवाया आगगाड़ी! बाबा, साखळी रे ओढी'[1] बारी बारी से देख रहे थे। जजीर खींचने के लिये इस असीम भीड मे से जजीर तक पहुँचे कैसे, इसका वहाँ कोई स्पष्टीकरण न था। और एक दृष्टि से वह ठीक ही था। धर्म के उदात्त तत्त्वज्ञान को व्यवहार मे किस तरह उतारा जावे, यह धर्मग्रथ में थोडे ही लिखा रहता है! हमारे डिब्बे के नजदीक से अगर गार्ड साहब गुजरे होते, तो मै उनसे सिर्फ एक ही अर्ज करता — 'हुजूर, कम से कम 'हाउस फुल' का बोर्ड ही लगा दीजिए हमारे डिब्बे पर।'

अन्त मे रेल्वे की घडी हर मिनट मे एक मिनट आगे बढने के कारण, हमारी गाडी किसी तरह छूटी। दम घोटनेवाले डिब्बे मे बाहर की शुद्ध हवा का झोंका आया। और क्या चमत्कार कहूँ! उसने सारे प्रवासियों की चित्तशुद्धि कर दी। हम सब एक ही डिब्बे मे है (यह कहने की जरूरत नहीं कि इन शब्दों मे ॲंग्रेज़ी की 'We are in the same boat' कहावत का कितना अर्थ उतर आया है!) यह ज्ञान ही इस क्रान्ति का मूल कारण होगा। कदाचित् सतोष की इस भावना से, कि दौड रहे डिब्बे में अब कोई भी भीतर न घुस सकेगा, घडी-भर पहले के सारे शत्रु मित्र हो गये होंगे। यह अनुभव किसे नहीं है, कि संकट में जो काम आता है,

१ 'गाड़ी खड़ी करने के लिये जजीर खीचो।'

वही सच्चा मित्र होता है । और हर एक के लिये यह एक बडा संकट ही होता है कि ऐसी भीड में रेल के डिब्बे मे अपना समय कैसे काटें । वाग्देवता की सब कवियों ने इतनी स्तुति क्यों की है, व्यर्थ की पूछताछ की जड मे खोज का कितना उच्च हेतु हेता है, 'मूकं करोति वाचालम्' वाला वर्णन परमेश्वर की अपेक्षा ठसाठस भरे हुए किसी रेल के डिब्बे का ही होना अधिक संभव क्यो लगता है आदि बाते ऐसे समय क्षणार्ध मे जॅच जाती हैं । बेलगाँव के स्टेशन पर एक दूसरे की ओर मरकही भैंस की तरह देखनेवाले मुसाफिर, सुलेभावी स्टेशन आने के भीतर ही, बछडे को चाटनेवाली गाय की तरह एक दूसरे की ओर देखने लगे । उन दस पन्द्रह मिनटो में मेरा विश्वास हो गया, कि प्रवास के लाभों मे, विश्वबधुत्व की गणना अवश्य करनी चाहिए ।

रेलगाडी की चर्पटपजरी का प्रारभ शंकराचार्य के 'कस्य त्व वा कुत आयातः' वाले श्लोक से हो, तो अस्वाभाविक क्या है ? वशवृक्षो से बात-की बात में सब लोग जलवायु की बात पर कूद पडे । शाम हो रही थी इसलिये हो, अथवा 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' वाला गीता का वाक्य याद आ जाने के कारण हो, धीरे धीरे हर एक यह प्रश्न करने लगा कि आप कहाँ उतरेंगे ? सब का उत्तर एक था – 'बम्बई !' हम महाराष्ट्रीयो मे ऐसा मतैक्य क्वचित् ही दिखाई देता है । अरण्य मे सीताराम की रात्रि समाप्त हो जाती थी, परंतु बाते समाप्त नहीं होती थीं । मुझे लगा कि हमारा डिब्बा भूलकर यदि उत्तर ध्रुव पर भी चला जावे, फिर भी हमारे पास गप्पों की इतनी पूंजी है कि छः महीने की रात समाप्त होने पर भी बचेगी ।

लेकिन हर एक ने जब कहना शुरू किया कि बम्बई क्यों जा रहा हूँ, तब मुझे भ्रम हुआ कि उस एक डिब्बे में हजारों भिन्न जग एकत्रित है । एक वृद्ध महाशय अपने भतीजे की शादी के लिये जा रहे थे, उन्हीं के नज़दीक बैठा हुआ दूसरा मनुष्य विषमज्वर से पीडित अपने पुत्र को देखने दौड़ा जा रहा था । एक युवक था 'लडकी' देखनेवाला, तो दूसरा था 'बम्बई' देखनेवाला । एक हज़रत नौकरी की तलाश में थे,

लेकिन उनके पास बैठी हुई एक प्रौढा अपने लापता हुए पति को खोजने जा रही थी। कोई बम्बई की मिल में पेट भरनेवाला, तो कोई पडिताई करके जीवन यापन करनेवाला। यह विलक्षण वैचित्र्य देखकर कुछ समय के पहले की मतैक्यता पर मुझे अपने आप ही हँसी आयी।

मुझे एकदम दो दिन पहले की याद हो आयी। एक ही डाक से एक ही शहर कें मुझे सात-आठ पत्र मिले थे। वे जिन्होने भेजे थे, वे सभी मनुष्य मुझे प्रिय थे। लेकिन हर एक के खत का मजमून कितना भिन्न था! मेरी तेरह वर्ष की भतीजी ने यह वर्णन किया था कि वह कौन कौन से गीत अच्छी तरह से गा सकती है, उस से दो साल बडे उसके भाई ने बड़े मनोरजक ढग से यह लिखा था कि क्रिकेट के मैच में उसने चार-छः टोले कैसे लगाये। दोनो पत्रों में विजय का आनंद पूर्ण रूप से नाच रहा था। परतु इन दोनो नृत्यो का स्वरूप कितना भिन्न था! एक था सुरपन्नाग का फूल, तो दूसरा डेजी का!

तीसरा पत्र मेरे एक मित्र का था जिसने हाल ही मे एक नाटक कपनी खोली थी। उस पत्र मे उसने बड़े मनोरजक ढग से यह वर्णन किया था कि उसके नाटक मे किस तरह अपार भीड होती है, कौन कौन बडे लोग देखने आते है, किन किन प्रसगों पर थिएटर तालियों की कडकडाहट से गूँज उठता है। इसके बाद ही मैने जो पत्र पढा वह मेरी एक मित्रानी का था। उसके नवजात शिशु की नामकरण-विधि कितनी धूमधाम से मनाई गयी थी, दावत में कौन कौन लोग आये थे, क्या क्या खाना पका था, बच्चे को देखकर हर एक का इस विषय का मत कि वह किस पर पडा है, क्या था, उसकी एक सहेली ने जो किसी रियासत की रानी है बच्चे के लिये उपहार में क्या भेजा है – हर एक बात उसने बडी प्रसन्नता से लिखी थी। फिर से मेरे मन में आया कि इन दोनों पत्रो में आनंद बिलकुल उमडकर बह रहा है। परतु इस आनद के क्षेत्र कितने भिन्न हैं! लगता है जैसे भिन्न भिन्न ग्रहो पर ही ये दो व्यक्ति रह रहे हो।

जो बात आनंद की वही दुःख की! मेरी फ्रॉक पहननेवाली भॉजी के बड़े बडे अक्षरों में लिखे हुए अशुद्ध पत्र में शिकायत थी कि उसकी

गुडिया की शादी रामू नौकर की बेटी के रद्दी गुड्डे से कर दी गयी है, तो मेरी बहन के बारीक अक्षरोंवाले शुद्ध पत्र मे शिकायत थी कि हमने जिस लडके को वर के रूप मे निश्चित किया था वह लडका मेरी बड़ी बेटी को पसंद नहीं है !

इन पत्रों को पढ़ते हुए मेरे मन मे विचार आया था – सच यही है कि प्रत्येक मनुष्य का जग बिलकुल स्वतन्त्र है ! मूसलधार वर्षा की ओर किसान इस भय से देखता है कि उसकी फसले बरबाद हो जायेगी, और खाता-पीता संपन्न खेल का शौकीन व्यक्ति इस विचार से कि उसका टेनिस का खेल जाता रहेगा, ऐसे समय माथे पर बल ले आता है। मायके मे रहने के लिये आयी दो बहनो मे से एक के घर में पलना न होने के कारण वह उदास रहे और दूसरी के घर हर साल पलना झूलने के कारण वह परेशान रहे – क्या, ऐसे उदाहरण हमें हर घडी दिखाई नहीं देते ? 'एखाद्याचे नशीब'[1] कविता लिखने के लिये ज्वालामुखी पहाड से लेकर लाश पर चढाये जानेवाले फूलो तक गडकरीजी की कल्पना का घूमना पडा। इतनी पॉवपिटाई करने के बदले यदि वह रेल गाडी के किसी तीसरे दरजे के डिब्बे मे प्रवेश करती, तो दो-चार चरणोंकी कविता की जगह वह सहज ही चार हजार पंक्तियो का खडकाव्य (क्योंकि जानकारो का मत है कि यह समय महाकाव्य के लिये अनुकूल नहीं है।) लिख डालती।

मनुष्य समाजप्रिय प्राणी है ! किन्तु समाजप्रियता की अपेक्षा भी आत्म-प्रीति उसमें अधिक है, इसमें सदेह नहीं। हर एक स्वीकार करता है कि पृथ्वी गोल है। लेकिन दुनिया में जितने मनुष्य हैं उतने इस गोल के मध्य-बिन्दु होते है। सिंक्लेअर लुईस के 'Main Street' की नायिका को यह लगता रहता है कि अपने गॉव के सुधार के लिये मै कोई अपूर्व कार्य कर रही हूँ। लेकिन गाँव के अन्य लोगो को इस विलक्षण कार्य का कभी भी पता नहीं चलता। इसका रहस्य यही नहीं है क्या ? विख्यात कवि रौबर्ट ब्राउनिंग ने वसत के आगमन पर एक छोटीसी कविता लिखी

१ 'किसी किसी का भाग्य।'

है। ओस-बिन्दुओं के मोतियों से अलकृत हुई पृथ्वी, समुद्र में गीत गाते गाते नौका चलानेवाले मछुवे की तरह आकाश में उड़नेवाला चण्डोल, इत्यादि के दर्शन से प्रसन्न हुआ उसका कवि-मन एकदम उद्गार निकालता है —

'God's in His Heaven,
All's right with the world

ईश्वर के अस्तित्व की, और यह कल्पना कि जग के राज का शासन ठीक चल रहा है, सौन्दर्य से बोझिल हुए कविमन को जॅच जाये तो आश्चर्य नहीं। इसी चण्डोल के बदले किसी खोखले में छिपे बैठे हुए उल्लू की ओर यदि उसका ध्यान जाता तो? ओस की बूँदों से सुशोभित गिरिप्रदेश के बदले रूखी मरुभूमि उसके सामने फैली हुई होती, तो क्या उसके मुख से यही उद्गार निकलते? कदापि नहीं! कवि ईश्वर को स्वर्ग के राज्यपद से तुरत ही पदच्युत कर देता!

जग का प्रत्येक मनुष्य कविता भले ही न लिखता हो (अनेक विनोदी लेखको की राय है कि इसी लिये दुनिया ठीक से चल रही है।), फिर भी उसका मन कवि का ही होता है। जैसी उसकी दृष्टि वैसी उसकी सृष्टि! नैसर्गिक आवश्यकताओं अथवा सामाजिक बंधनो के कारण, मनुष्य के आचार-विचारो मे कितनी ही एकरूपता आ जावे, फिर भी बिलकुल अन्तरतम मे वह सारे जग से भिन्न ही होता है। उबा देनेवाले भाषण के समय प्रत्येक श्रोता के मन मे उठनेवाले विचारों को नोट करनेवाली मशीन यदि कल निकल आये, तो सिर्फ इस एक विचार को छोडकर कि भाषणकर्ता के मुँह पर ताला लगा दिया जाये, उनके मनों में कहीं भी साम्य दिखाई नहीं देगा। किसी का मन इस चिन्ता में निमग्न होगा कि होटल मे कम से कम शाम का खाना तो अच्छा मिलेगा और दूसरे का मन किसी मुखचन्द्र के चिन्तन में खोया हुआ होगा।

इस आत्मप्रीति के विरुद्ध कोई कितनी ही नाक सिकोडे, पर जीवन-रथ के पहिये उसके कारण ही किर्रकिर्र न करके चल सकते हैं। समुद्र किनारे घूमने जानेवालों को छोटे केंकड़ों की तरह दिखनेवाले कुरली नामके कीडे

हमेशा मिलते हैं। वे अपने भक्ष्य की खोज में इतस्ततः नाचते रहते हैं। लेकिन कहीं ज़रा भी आहट हुई तो वे बात-की-बात में बालू में बने अपने छोटे बिलों में लुप्त हो जाते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि प्रत्येक मनुष्य इस कुरली कीड़े की तरह है। सुख की खोज में वह लगातार समाज में विचरण करता है। परंतु उसका सच्चा आश्रय-स्थान उसका वैयक्तिक जग है! जग के अन्य दुःख उसके इस निजी जग मे किसी तरह भी नहीं आ सकते। 'अहं ब्रह्मास्मि' वाले वेदान्त वचन का भी आखिर और दूसरा क्या अर्थ है? जग की विषमता का बहुतसा भाग भले ही कृत्रिम हो, फिर भी जहाँ वैचित्र्य है, वहाँ हर एक के विकास को अवसर मिलना ही चाहिए।

जब कोई यह कहता है कि समाज से एकरस होकर भी प्रत्येक मनुष्य का जग भिन्न होता है, तो कई एक आश्चर्य से, और कई एक भीति से ग्रस्त हो जाते है! उन्हें लगता है कि इन करोड़ों जगों की कहीं न कहीं टक्कर हुए बिना न रहेगी। उन्हें यह बात शायद सच ही न लगती हो कि अनत अन्तराल में ग्रहो को नियम से घुमानेवाला सूर्य है, यही नहीं, बल्कि ऐसे अगणित सूर्यों को अपनी कक्षा में रखनेवाला महासूर्य भी है। उस महासूर्य का तेज कितना विलक्षण होगा, उसकी आकर्षण शक्ति—

गोकाक स्टेशन आ गया था। हमारे ठसाठस भरे हुए डिब्बे में चढ़ने के लिये एक मुसाफिर आया। मैंने प्रसन्न मुख से द्वार खोलकर उसे भीतर ले लिया!

● ● ●

१२

दो चित्र

शेक्सपीअर ने जीवन को रगमच की उपमा दी है । मेरे एक गभीर स्नेही हमेशा कहा करते हैं कि जीवन एक पाठशाला है । लेकिन मुझे इन दोनो के मत नहीं जॅचते । मुझे लगता है कि जीवन एक खेल है । किन्तु वह कैरम का खेल नहीं, बल्कि क्रिकेट का खेल है । जीवन-पथ के चढाव-उतार, मोड़, गढ़े आदि को ध्यान में रखकर, मैं यही कहूँगा कि यह उपमा ठीक है । यह तो आप भी मानेंगे कि क्रिकेट सयोग का खेल है । जीवन भी क्या उसी तरह नहीं है ? हम रेल का सफर कर रहे है, इस सफर मे हम बिलकुल ऊब गये हैं, इसी समय हमे अचानक हमारा एक बालमित्र मिल जाता है, अथवा किसी खास व्यक्ति को टालने के लिये हम दूसरी सड़क से आगे जाने लगें, और वही व्यक्ति अचानक हमारे सामने आकर एकदम खड़ा हो जावे – ऐसे अनुभव किसे नहीं हुए हैं ? अभी तक मुझे दो बार सॉप काट चुका । पहली बार जब हम आठ लोग कतार से ॲधेरे मे जा रहे थे और मैं सब के पीछे था, और दूसरी बार चार लोगों के साथ सब से आगे था । संयोग के सिवाय दूसरी किस रीति से ऐसी आपत्ति की उपपत्ति होगी ? और इसी लिये ज्योतिष

पर विश्वास न होते हुए भी मुझे कभी कभी ऐसा लगता है कि दैव को मनुष्य के दैनिक जीवन के साथ खेलने में भी आनद आता होगा। जिस तरह कभी कभी बिल्ली चूहे के साथ खेलती है, उसी तरह दैव भी मनुष्य के साथ क्रूरता से बर्ताव करता है और कभी कभी जिस तरह छोटा लडका लुका-छिपी खेलता है, उसी तरह देव भी अपने इस खेल में मजे से रंग जाता है।

परसों की बात ही लीजिए। जब मै कोल्हापुर आया, तब मुझे यह कोई कल्पना न थी कि मुझे कौनसी फिल्म देखने मिलेगी। लेकिन दैवयोग से May Time उस समय लगी और मुझे देखने मिल गयी। फिल्मी दुनिया का टेम्पो, मिक्सेस, फेड आउट इत्यादि अनेक शब्द मेरे परिचय के भले ही हो गये हों और उनके मराठी प्रतिशब्द बनाकर अपनी विद्वत्ता सिद्ध करने का मार्ग मुझे भले ही लोभित करता हो, फिर भी वह चित्र देखकर मुझे क्या लगा इसका वर्णन 'वासतिक धुदी घोटाळे अजुनी डोळ्यांत'[१] पंक्ति से करना ही मुझे अच्छा लगता है। वह फिल्म मैंने देखी। उस दिन मुझे लगा कि इतने आकर्षक दृश्य अब कितने ही दिन मुझे फिर देखने न मिलेगे। लेकिन नटखट दैव चुप थोडे ही बेठता है? दूसरे ही दिन Mutiny on the Bounty फिल्म देखने का सयोग प्राप्त हुआ। 'मे टाइम' से इस फिल्म का रत्ती भर भी साम्य न था। कहाँ मेपोल के आसपास का अबाल-वृद्धों का आनद-नृत्य, और कहाँ तूफ़ान के राक्षसी जबडे में भय से थरथर कॉपनेवाली नौका मे बैठे मनुष्यो की दौड़-धूप! मे टाइम मे सगीत की मोहिनी के द्वारा एकत्र हुए कलाकारों की करुण प्रेमकथा थी, और 'म्यूटिनी ऑन दि बाउटी' मे घर से दूर हुए मल्लाह और सयोग से किसी द्वीप में मिली वनतरुणी के बीच ही प्रेम का अस्पष्टसा दर्शन होता है। जिसने मृतकों को भी कोडे लगाने का हुक्म दे दिया था वह बाउटी का कैप्टन, और यह किसी को न दिखे कि वह मत्सर की ज्वाला से भडका हुआ है, इसलिये पीठ फेरकर खडा होकर पिस्तोल का विचार करनेवाला मे टाइम की नायिका

१ 'वसंत का नशा अब भी आँखों में छाया हुआ है।'

का पति – इनमें क्या थोड़ा अन्तर है ? एक चित्र अणुरेणु को खिलानेवाले फूलों का था, तो दूसरा अन्तराल को ग्रस लेने के लिये आतुर पर्वतमय तरंगों का था।

लेकिन यह दूसरी फिल्म देखकर घर लौटते समय पिछले दिन के बराबर ही मेरा मन प्रफुल्लित हुआ। आँखों में समाया बासतिक उन्माद उतरने से पहले ही वर्षाकाल का नशा वहाँ छाने लगा। मेरे मन में आया कि फेन क्या लहरों के फूल ही नहीं है ? मेपोल और जहाज के पाल में कितना साम्य है ! लहरों पर हिचकोले खानेवाली नौका आकाश में न टंगा हुआ एक झोला ही नहीं तो क्या है ? मुझे ऐसा आभास होने लगा कि दोनो फिल्मों की अनेक बातों में बाह्यतः विरोध हो भी, फिर भी अन्तरतम में दोनो में साम्य है। और मुझे लगा कि 'यह चित्र देखो और वह चित्र देखो' कहनेवाले शेक्सपीअर ने सचमुच गलती कर दी। पिता और चाचा के चित्रों की ओर अँगुली दिखाकर, माँ की भर्त्सना करते समय हैमलेट उपरोक्त उद्‌गार निकालता है। हैमलेट की माँ ने पति को जहर देने के काम में देवर को मदद देकर बाद में उससे शादी कर ली। यह बात मानवी भावनाओं की दृष्टि से घृणास्पद है, यह तो सच है ही। लेकिन शेक्सपीअर ने हैमलेट के मुँह से अपने चाचा के रूप की जो निंदा कराई है, वह उसके कारण कोई ठीक सिद्ध नहीं होती। वह यदि एक कुरूप कौआ होता तो वह हसनी उसके प्रेम के लिये इतनी पागल कभी होती ही नहीं। यह निश्चित करते ही कि हैमलेट के पिता को शूर, सुंदर और धीरगभीर कहकर वर्णन करना है, शेक्सपीअर ने उसके चाचा को दुनिया की सारी कुरूपता बहाल कर दी। जैसे कुछ अन्तरग का विलक्षण विरोध होकर भी, दो चित्र सुदर हो ही नहीं सकते।

यूँ देखा जाये तो शेक्सपीअर को दोष देने में कोई अर्थ नहीं। मनुष्य-स्वभाव ही वैसा है। हमें अपनी प्रिय वस्तु सुदर दिखती है। इतना ही नहीं, किन्तु जो चीजें उनसे भिन्न होती है, वे हमे बुरी दिखाई देने लगती है। 'हमारा बेटा मुन्ना और दूसरो का कलुआ' वाली कहावत सिर्फ माँ

के अधप्रेम के कारण ही नहीं जन्मी है। उसकी जड सारे जग को अपने मन के बराबर सकुचित कर लेनेवाली मानवी मनोवृत्ति मे है। मेरे बचपन में विद्यार्थियों के बीच तिलक-गोखले वाद बडे जोरों से चला करता था। उस समय तिलकभक्त गोखले पर जो कीचड उछाला करते और गोखले के अनुयायी तिलक पर जो शोले फेका करते, उसकी याद आती है, तो मनुष्य इतना मूर्ख कैसे होता है इसका अब मुझे आश्चर्य होने लगता है।

परतु यह आश्चर्य शीघ्र ही जाता रहता है। न जाने मनुष्य का मन क्या ईसापनीति के मेढ़क की तरह है! उस मेढ़क ने बैल की तरह बडा होने की कोशिश की। उसने पेट फुलाया जो अन्त में फट गया और उसे जान से हाथ धो बैठना पडा। मानवी मन जग के बराबर व्यापक होने की कोशिश करने लगे फिर भी उसकी शक्ति बीच ही में कही भी समाप्त हो जाती है। हाल ही मे मेरे एक चित्रकार मित्र ने एक चित्र बनाया जिस मे सुरगी फूलो की मालाएँ लिये रास्तेसे जानेवाली एक लड़की का चित्र बनाया। वह मुझे बहुत अच्छा लगा। उस चित्र की प्रशसा करते हुए मैंने कहा, – 'इन सुकुमार फूलो के कारण इस चित्र को कितना सौन्दर्य प्राप्त हो गया है!'

'फूलो से यहॉ क्या सबध है?' – उसने प्रश्न किया।

'आपका मतलब?' – मैंने पूछा।

'फूलों की जगह दूसरी चीज़ को रंगकर भी चित्र इतना ही सुदर होता!'

मैं ठहरा फूलों का शौकीन। मुझे उसकी बात जॅचती ही न थी। अन्त मे मामला शर्त तक पहुॅचा। और चार दिन के बाद में शर्त हार गया। मेरे मित्र ने दूसरे चित्र मे भी हू-बहू उसी तरह की लडकी बनायी थी। सिर्फ उसके हाथ मे फूलों की मालाओं के बजाय मछली पकडने के जाल दे दिये थे। उन चित्रों में से अधिक सुदर कौन सा चित्र है, इसका निर्णय मै आज भी नहीं कर सकता।

जग भी एक ऐसा चित्र-मन्दिर है जिसका न आदि है और न अन्त। इस मदिर का सपूर्ण आनद, एक चित्र मे रगकर दूसरे चित्र की ओर ढूककर भी न देखनेवाले को, कभी भी नहीं मिलता। गाधीजी के सत्य के प्रयोग पढ़ने में आनद है और क्या ठगवृत्तान्तमाला पढने में कोई मजा नहीं है? छोटे बच्चे का चुम्बन लेते समय ओठो में जो मिठास उत्पन्न होती है, उससे बीमार माँ के पैर दाबते समय होनेवाले सुख की तुलना करना, क्या सर्वस्व में भूल होगी? मेरे दो मित्र है। उनमें के एक इतने बातूनी हैं कि मुझे यही समझ में ही नहीं आता कि उनके मुँह पर लगाने के लिये ताला कहाँ से लाऊँ? दूसरे इतने अबोले हैं कि उनके मुँह को उनके स्वभाव ने जो ताला लगा दिया है उसे खोलने के लिये कौनसी ताली काम आयेगी, यह रहस्य मुझ से कभी सुलझता ही नहीं है। लेकिन दोनों ही मेरे अत्यन्त घनिष्ठ मित्र हैं, इस में शक नहीं।

जब जब मैं उनके इस स्नेहभाव के बारे मे सोचता हूँ तब तब मुझे ऐसा लगता है कि जग के अनेक दुःख मनुष्य के एकागीपन से ही निर्मित हुए हैं। कई एकों को वसंत ऋतु बहुत पसद होती है, लेकिन वर्षा से उन्हें इतनी नफरत होती कि कुछ न पूछिये। उन बेचारों के यह ध्यान में भी नहीं आता कि वसत मे सिर्फ पेड़ों को ही नव-पल्लव फूटते होंगे। परंतु वर्षाकाल मे पत्थर भी पझर जाते है। सूर्योदय की तरह क्या सूर्यास्त भी सुदर नहीं होता? गाल पर पडे गड्ढे और चेहरे की शिकनो का महत्त्व चित्रकार की दृष्टि से एक सा ही है। और इसी लिये शेक्सपीअर की प्रतिमा के विषय में अत्यन्त आदर होते हुए भी उसकी 'यह चित्र देखो और वह चित्र देखो' वाली सुप्रसिद्ध उक्ति में, मै एक अक्षर का बदल जरूर सूचित करूँगा। मैं कहूँगा, – 'यह चित्र देखो और यह चित्र भी देखो!'

• • • •

१३

उपमा

मुझ से हँसी नहीं रुकती थी ।

मेरे समीप ही मेरे मित्र पडे पडे कुछ पढ रहे थे । वे सब मेरी ओर टकटकी लगाकर देखने लगे । प्रोफेसर मधुकर और देव मास्टर की मुद्राओं से ऐसा दिख रहा था जैसे उन्हे यह शक हो रहा हो कि मै पागल हो गया हूँ । ' क्यों, ऐसा क्या हो गया है ? ' – प्रोफेसर साहब ने अपने उपन्यास में, जिस पर सुदर स्त्री के चित्र का कवर था, उँगली डालकर बद करते हुए पूछा ।

' मोटा होने के लिये हँस रहे हैं वे ? ' – देव मास्टर ' स्त्रियाँ और देवता ' नामक एक बडा निबध एक ओर रखते हुए बोले ।

उन्हें सतोष देने के लिये मैंने कहा, – ' कुछ नहीं । ये हास्य के चुटकुले पढ़ रहा था ! '

' अच्छा, तो लगता है यह उस हास्य की ही प्रतिध्वनि हुई है ! पहाड़ में तो यह खूब ही गूँजी, भई ! ' – किसी ने ताना कसा ।

मैं कैफियतें देने लगा, – ' स्त्रियों के बारे में बडे मजेदार —'

प्रोफेसर मधुकर की मुद्रा भिल्लनी का नृत्य देखने मे खोये शकर की तरह हो गयी। लेकिन देव मास्टर ने अवश्य प्रलय का रुद्रावतार धारण किया।

मास्टर बोले, —' स्त्रियों के बारे में मज़ेदार क्या? होगी कोई वाहियात बात!'

प्रोफेसर बोले, —' अजी, पहले सुन तो लेने दीजिये! मास्टर, तुम तो भई, किसी से थोड़ी रसिकता उधार ले आओ! इसके लिये ब्याज मे यदि ' स्त्रियॉ और देवता ' का यह पौधा भी देना पडे, तो कोई हर्ज नहीं।'

प्रोफेसर और मास्टर की अलंकारिक कुश्ती आरभ न हो जावे इसलिये मैं पढने लगा —

' एक हास्यरस की पुस्तक में एक चुटकुला दिया है। किसी ने पूछा, ' घडियो और स्त्रियों मे क्या फर्क है?' एक समस्यापूर्ति करनेवाला श्लेषबाज उसका उत्तर देता है, ' घडी की ओर देखने से हमारी समझ मे आ जाता है कि हमने कितना काल खो दिया। इसके विपरीत स्त्रियो के मुख की ओर देखने से हमारा काल का भान ही जाता रहता है। ''

' उँः! इस मे इतना हँसने लायक क्या है?' — प्रोफेसर साहब ने आलोचना की। वे बहुत ही अधिक निराश हो गये थे। यह सुनकर कि स्त्रियों के बारे मे कुछ मजेदार है उनकी शायद यह कल्पना हो गयी होगी कि अब हमे कुछ रगीन बाते सुनने मिलेगी। कहानी की नायिका का अचल स्कध से कितने अश का कोन बनाकर पीठ पर झूल रहा था, उसके ब्लाउज का कपडा विलायत के किस शहर में बना था, उसने जब अँगडाई ली, तो नायक को वह कितनी मोहक लगी, ' हुश ' कहते समय उसके गाल पर जो रग खिला, वह उसके मूल रंग से (या कि पाउडर से) कितना सुसंगत था, इत्यादि बाते पढने मे वे हमेशा निमग्न हो जाते थे। खून की चाट लगे हुए बाघ को यह मामूली जल कैसे अच्छा लगेगा? देव मास्टर की जरूर कली खिल गयी। वे बोले, — ' अन्तिम वाक्य बडा सुंदर है। स्त्रियों के मुख की ओर देखने से हमारा काल का भान ही जाता रहता है।'

'या कि ऐसा लगता है जैसे मूर्तिमान काल ही सामने आकर खडा हो गया है ?'—प्रोफेसर ने व्यग्य के स्वर में प्रश्न किया। देव मास्टर की पत्नी चार साधारण स्त्रियों जैसी—यानी साँवली थी। प्रोफेसर का कटाक्ष था उस बात पर !

मैंने बीच ही में कहा,—'इस चुटकुले के बदले मुझे हँसी आयी दूसरी ही बात पर ! कहता है—'घडियो और स्त्रियों मे क्या फर्क है ?' मै कहता हूँ—'कुछ भी नहीं है।''

देव मास्टर राक्षस का अवतार धारण कर चिल्लाए,—'स्त्रियों और घड़ियों मे कोई फर्क नहीं है ? वाह ! घडी निर्जीव वस्तु है। तुम हिन्दु लोग स्त्रियो के साथ एक तो खिलौने जैसा व्यवहार करते हो सो तो करते ही हो, और ऊपर से अब निर्लज्जता से यह भी कहते हो कि 'स्त्रियों ओर घड़ियों मे कोई फर्क नहीं है ?''

लेकिन प्रोफेसर साहब जरूर वरदान देने के लिये प्रकट हुए देव की तरह दिख रहे थे। वे बोले,—'ठीक कहा आपने, भाऊराव ! स्त्रियॉ घडियॉ ही हैं। घडी का कॉच स्त्रियो के गौर वर्ण की तरह ही मोहक होता है। घडियो की तरह स्त्रियो का भी सारा लक्ष हाथों पर ही होता है। है न ?'

मैंने कहा,—'एक की टिकटिक और दूसरी की किटकिट लगातार चलती रहती है। दोनों दूसरो के बारह बजा देने मे कुशल होती है।'

देव साहब ने बीच ही में नाक घुसेडी,—'हट्ट ! घडियो के भीतर के यत्र और स्त्रियो के हृदयो की भावनाएँ किसी को भी नहीं दिखतीं !'

प्रोफेसर साहब चिल्लाए,—'प्रेम ही स्त्रियों के जीवन का स्प्रिंग है।'

तुलना की इस महामारी ने मुफे भी पूरी तरह पछाडा। मैंने कहा,—'दो घडियॉ लीजिए अथवा दो स्त्रियॉ लीजिए। उनका कभी नहीं पटेगा।'

इस श्लेष को सुनकर, देव मास्टर को किंचित् हँसी आ गयी। लेकिन उनका स्त्री-दाक्षिण्य तुरत जागृत हो गया और वे बोले,—'वाह ! स्त्रियों को आप बिलकुल तलवार ही समझ रहे है। एक म्यान में दो कभी भी न रहेंगी !'

'देखा —' ताश के खेल मे इष्ट पत्ता हाथ मे आ जाने से जो आनद होता है, उसे दर्शाता हुआ मैं बोला, – 'मैंने स्त्रियो को घड़ियों की उपमा दी, तो आप का पारा चढ गया। पर आपने तो उनकी तलवार से तुलना कर दी। देखिये, उपमा का यह जौहर है! 'व्यापुनि विश्वा दशागुली उरली'[१]। बातो की पकड मे आ जाने के कारण देव का पारा थोडा उतरा। समझौते के स्वर में वह बोले, – 'खैर, आइए, थोडी देर के लिये यह मान ले कि उपमा के बिना दुनिया का काम नहीं चलता। तो क्या इस का यह मतलब होता है कि जो मुँह में आ जाये वही उपमा दे दें? मैंने यदि कहा कि दुनिया एक फुटबॉल है —'

'सो तो है ही!' – प्रोफेसर साहब चिल्लाए, – 'हवा निकालकर देखिये, क्षण-भर में दोनो मर जाओगे!'

देव साहब की स्फूर्ति क्रोध के कारण और भी अधिक भड़क गयी। वे बोले, – 'प्रोफेसर हैं फूँकनी! आरपार बिलकुल पोली।'

विनोदप्रिय प्रोफेसर साहब ने उत्तर दिया, – 'लेकिन भात पकाने में काम आती है फूँकनी!'

देव ने उनकी ओर कोई ध्यान न देकर अपना व्याख्यान शुरू किया —

'स्त्रियो को घड़ियाँ कहना क्या उनका अपमान करने सरीखा नहीं है? घडियो में अलार्म की, कलाई पर बाँधने की, जजीर से लटकाकर जेब मे रखने की, इमारत पर लगाने की आदि हजारों किस्मे होती हैं।'

मेरी कल्पना शक्ति को पख फूटने लगे। मैंने कहा, – 'स्त्रियो में भी वैसी हजारों किस्मे होती है। मेरी चाची थी एक कोकण मे। बिलकुल अलार्म घडी थी। सुबह उठकर जब वह प्रभाती कहने लगती, तो हमारा सारा बाडा जाग जाता था। आजकल की कुछ लड़कियाँ कलाई पर बाँधने की घडियाँ है! पति से हाथ भर भी दूर रहने के लिये वे तैयार नहीं। उनकी कलाइयो को इस तरह मज़बूत पकड़कर रखती हैं कि उनके हाथ से घडी देखने के सिवा और कुछ होना ही संभव नहीं है। रूप सुकुमार, लेकिन मूल्य अधिक। जंजीर बाँधकर जेब में रखने की घडियाँ

१ 'सारे विश्व को व्याप कर दस अँगुल बच गयी।'

यानी 'सिंधु' छाप की आर्य पतिव्रता। कभी कभी परदे मे भी रखना पडता है ऐसी घडियों को! पुरानी पद्धति के लोग व्यवहार के लिये जितना आवश्यक होता है उतनी ही अपनी पत्नियों से बातें करते हैं। उसी तरह जब समय देखना होता है तभी घडी का मालिक इस घड़ी का मुँह देखता है। इसके आगे की सीढी है इमारतो पर लगाई जानेवाली घडियॉ। ये हैं देवियाँ – झॉसी की लक्ष्मीबाई और इदौर की अहिल्याबाई, शिवाजी की माता जिजाबाई और —'

प्रोफेसर साहब किसी समाचार-पत्र का अक दिखाते हुए बीच ही में बोले, – 'यह देखिये, और एक उपमा है। स्त्रियॉ यानी समाचार-पत्र।'

'दैनिक या साप्ताहिक?' – देव ने चिढ़कर पूछा।

'दैनिक ही, लेकिन दिन में जिस के तीन सस्करण निकलते है। सुबह का रूप अलग, दोपहर का रूप अलग —'

'मुँह मे आयी सो उपमा दे मारी कि बस हो गया! अरे बाबा, उन दोनो मे कुछ साम्य भी तो होना चाहिये या नहीं?'

मैने कहा, – 'पॉच मिनट देता हूँ मै आपको। मुझे ऐसी दो चीजे बता दीजिए जिनमे बिलकुल साम्य नहीं है। मै यह सिद्ध करके दिखा देता हूँ कि उनमें की एक की उपमा दूसरे को दी जा सकती है।'

देव मास्टर विचारमग्न हो गये। मेरे भी मन में आया कि बहस के जोश मे मैने यूँ ही एक चुनौती दे दी है। चाहे जिन चीजों मे कुछ न कुछ साम्य दिखाना क्या इतना सरल है? घडियों और स्त्रियों के विषय के उस चुटकुले से बहते-बहते हम कितने दूर आ गये! उपमा कोई देवता नहीं है। निरी अप्सरा है वह। उसके रूप पर ठगाकर मनुष्य मार्ग-भ्रष्ट हो जाता है इसमें सदेह नहीं। चाहे जिन दो बातों में साम्य दिखाया कैसे जाये? दो ध्रुवों की ही बात लीजिये। उनके बीच कितना बडा अन्तर होता है? इस विचार के मन में आते ही कल्पना गुनगुनाई, – 'पर उनमें साम्य भी बहुत होता है। भूगोल खोलकर देखो जरा।'

सचमुच, उपमा देवता है या अप्सरा? कालिदास से लेकर ठाकुर तक सब की उस पर इतनी भक्ति क्यों होनी चाहिये? वल्कल पहनी हुई

शकुन्तला की काल्पनिक मूर्ति देखकर कालिदास को काई से लिपटे हुए कमल की याद आती है। दुनिया की ओर नजर जाते ही शेक्सपीअर कहता है, – 'यह एक रगमच है।' ठाकूर कहते है, – 'युग फूल की तरह खिलते हैं और मुरझा जाते है।' सभी उपमा के भक्त है। कवियों को छोडकर विनोदी लेखको की ओर मुडे तब भी वही अनुभव होता है। ऑस्कर वाइल्ड एक नाटक मे ऑस्ट्रेलिया का वर्णन करते हुए कहता है,– What a curious shape it is! Just like a large packing-case'[१] कोल्हटकर[२] का तर्क-कर्कश प्रतोद सरोजिनी[३] के सौंदर्य के विषय में कहते हुए भी उपमा का ही अवलंबन करता है, – 'कवि मुख को चन्द्रमा की उपमा देते है। मै उसमें थोडा सुधार सूचित करता हूँ। ऐसा न कहकर कि किसी सुदरी का मुख चन्द्रमा की तरह है, यह कहना चाहिये कि वह गणेश चौथ के चन्द्रमा के समान है।'

मनुष्य की प्रतिभा पर उपमा का इतना जबरदस्त सिक्का क्यो जमना चाहिये? क्या इसी लिये कि उपमा साम्य खोजती रहती है? तत्वज्ञान के गिरिशिखर तक पहुँचनेवाले लोग कहते है, – 'सर्व भूतो मे तुम्हीं हो' उपमा भी सुदर रीति से क्या यही उपदेश नहीं करती है? जग की विषमता की कैंची का एक फलक निसर्ग और दूसरा समाज है। इन फलको के बीच फँसे हुए मनुष्य की आत्मा हमेशा साम्य खोजती रहती है। चिलचिलाती धूप मे नगे पैर चलनेवाले मनुष्य को ठडी हवा का झोका अथवा निर्झर का कलकल स्वर भी आनद दे सकना है। एकता के आनद के लिये ललचाई हुई मानवी आत्मा को उपमा अनजाने क्या यही सतोष नहीं देती? ऊँचे पर्वत और गहरी घाटी के अन्तर को दूर करने के लिये मानवी मन कहता है – 'यह घाटी वनश्री का भण्डार है और क्या यह पर्वत उस भण्डार पर खडा पहरा करनेवाला प्रहरी ही नहीं है?' आकाश के तारे

१ 'कितना विलक्षण आकार है इस देश का जैसे कोई सामान रखने का बडा सदूक हो!'

२ श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर : मराठी भाषा के एक प्रसिद्ध नाटककार और साहित्यिक।

३ एक नाटक के पात्र।

मृत्युलोक को प्राप्त होना संभव नहीं है, इसलिये सुंदर युवतियों अथवा सुदर बालकों की ऑखों में हम उन्हें प्रस्थापित करते हैं। युवक का मोहक रग देखकर उसे स्पर्श करने की अरोक इच्छा मन को होती है। परतु वह संभव कहॉ है? इसलिये कविमन प्रेयसी के गालो पर उसकी छटा देखता है और उसमे रग जाता है। राजा और रक दोनो में व्यावहारिक दृष्टि से क्या कोई साम्य है? लेकिन जब कवि किसी मवेशी चरानेवाले चरवाहे के अथवा हल चलानेवाले किसान के मुँह में इस अर्थ का कि 'मैं राजा हूॅ' गीत रख देता है, तब क्या उसके इस कल्पनाविलास की हम सहृदयता से सराहना ही नहीं करते? इस दृष्टि से उपमा को यदि कोई उपमा देनी हो, तो वह आकाश और पृथ्वी को जोड़नेवाले क्षितिज की ही देनी होगी। क्षितिज काल्पनिक होता है, लेकिन वही पर उषा और संध्या हर रोज 'भातुकली'[१] का खेल खेलती हैं और आकाश और पृथ्वी दोनो हाथ में हाथ डाले नृत्य करते रहते हैं।

यह विचार कि उपमा साम्यवाद की देवता ही है। इस प्रकार मेरे मन मे आया ही था, तभी देव मास्टर विजयी स्वर में चिल्लाए, – 'हॅ, लीजिए ये दो बाते! पुरुष और स्त्री! बताइये कि एक की उपमा दूसरे को किस तरह दी जा सकती है?'

'उसमे मुश्किल क्या है? पुरुष को स्त्री की और स्त्री का पुरुष की उपमा देनी चाहिये!'

'अजी, पर समानता क्या है इन दोनों में?'

'समानता? हृदय की समानता।'

स्त्री को देवता माननेवाले देव महाशय आगे कुछ भी न बोले। स्त्री को सुदर खिलौना समझनेवाले प्रोफेसर साहब भी गूॅगे हो गये।

मेरी उपमा में सौंदर्य भले ही न हो, फिर भी सत्य अवश्य था!

● ● ●

१ लड़कियों का एक खेल।

१४

एक तप ![1]

उस पत्र को पढकर मुझे ऐसा विलक्षण आनद हुआ कि कुछ न पूछिये ! उसे विलक्षण ही नहीं, तो और क्या कहूँ ? आनद में भी फूलो की तरह बिलकुल विस्मयजनक वैचित्र्य होता है। यह देखकर कि लॉटरी के रिजल्ट मे मेरा पहला नबर आया है जिसे आनद न होगा वह – लेकिन जिसे ऐसे समय आनद न हो, ऐसा मनुष्य दुनिया मे होना सभव भी है क्या ? अगर हुआ भी तो अँग्रेजी कवि स्कॉट ने ' Breathes there the man with soul so dead ' आदि पक्तियों में उसको पहले से ही निपटा दिया है ! तथापि, लॉटरी के इनाम का आनद और अपना प्रिय व्यक्ति घातक रोग से अच्छा हो जाने के कारण होनेवाला आनंद – इनकी तुलना केसे की जाये ? किसी भी वृद्ध से पूछिये वह यही कहेगा कि विवाह-वेदी पर अन्तरपाट दूर हो जाने के बाद हुआ आनद, नातियो को देखने के आनद से बिलकुल ही भिन्न होता है। जीवन के इतने उत्कट प्रसंगो की ही बात क्यों ले ? सुबह काम करने से पहले हुई

१ ' बारह वर्ष ! '

चाय की मिठास, और शाम को थके-माँदे घर लौटने पर ली हुई चाय की लज्जत – इन दोनों का अन्तर कोई भी सहज कह सकेगा।

सौभद्र नाटक देखते समय मुझे हमेशा ही आनद होता आया है। लेकिन बचपन में घटोत्कच और विदूषक मेरे जिगरी दोस्त थे। जब मै बीस वर्ष का था तब 'बघुनि उपवना विरहाग्नीची ज्वाला भडके उरीं'[1] गीत पर मैं बेहद खुश होता और अब मुझे वह प्रसग सब से अच्छा लगता है जब यह गप्प लगाकर कि सुभद्रा की शादी दुर्योधन से तय हो गयी है, रुक्मिणी अर्जुन की फजीहत करती है। वसंत ऋतु में बाजार जाने पर मै बड़ी गड़बडी मे पड़ जाता हूँ। एक तरफ सुरपन्नान के फूल रहते हैं और दूसरी तरफ सोनचम्पा के। यह निश्चित ही नहीं किया जा सकता कि किसकी सुगंध अधिक मुग्धमधुर है। गुलाब गिनने लगता हूँ तो दूसरी तरफ रखे साल कटसरई के फूल प्रसन्न मुद्रा से मुझे अपनी ओर बुलाने लगते है। उनके उस आकर्षक रग को देखकर क्षण-भर के लिये हाथ मे रखे गुलाबोंका होश ही नहीं रहता मुझे। क्या जीवन के अगणित आनदक्षण इसी प्रकार विविध रगो और सुगधो से सजे हुए नहीं रहते? आनद के ये अनन्त रूप भक्ति को ब्रह्मानद कहकर सबोधित करनेवाले साधु-सतो के ध्यान में भी न आये होंगे।

इसी लिये उस पत्र से मुझे जो आनद हुआ उसे मैने विलक्षण कहा। वह पूर्ण रूप से अपूर्व ही था! एक विद्वान महाशय के द्वारा मुझे भेजा हुआ पत्र था वह! मैं जब उसे दुबारा पढ रहा था उस समय दरजी यदि मेरे कोट का नाप लेता, तो वह कोट आगे चलकर मुझे जरूर ढीला हो जाता। अभी तक मेरी यह धारणा थी कि दुनिया मे जिनके पारायण होते हैं ऐसे पत्र दो ही प्रकार के होते हैं – प्रेमपत्र और मृत्युपत्र[2]। परतु इस पत्र ने मेरी यह धारणा बिलकुल झूठी सिद्ध कर दी। यह तो कोई भी नहीं कहेगा कि वे विद्वान महाशय मुझ से प्रेम करते थे। कहते है वे तो स्वयं अपनी पत्नी से भी प्रेम नहीं करते थे। उनका सच्चा विवाह

१ 'उपवन को देखकर विरहाग्नि की ज्वाला भडक उठती है।'

२ वसीयतनामा।

पुस्तकों से ही हुआ था। और विद्वानों को 'मृत्यु-पत्र' लिखने का मौका कभी ही नहीं आता। इसलिये यह स्पष्ट ही है कि मृत्यु-पत्र का आकर्षण उनके पत्र में न था। इसके बावजूद उस पत्र को दो बार पढ़ने पर भी मुझे संतोष न हुआ। उसका तीसरी बार पारायण शुरू हुआ। मैने बारह वर्ष पहले एक लेख लिखा था। वह किसी काम के लिये उपरोक्त महाशय ने मँगाया था।

उस लेख में क्या था यह स्वयं मुझे ही स्मरण न हो रहा था। स्मरण-शक्ति यदि इतनी तीव्र होती तो प्रत्येक परीक्षा में क्या मेरा पहला नम्बर न आता? सिर खुजाने की मैने पराकाष्ठा कर दी। अन्त में सिर्फ इतना ही स्मरण हुआ कि जब वह लेख छपकर आया था, तब उसे बार बार पढकर मैंने स्वयं ही अपनी पीठ खूब ठोक ली थी। नये सिक्खड लेखक का यह विश्वास होता ही है कि मेरा एक एक अक्षर साहित्य की वृद्धि करेगा। इसके कारण उसे मैने काटकर भी रख लिया है। यहाँ तक मेरी स्मरण-शक्ति ने लबी छलॉग मारी। वापसी डाक से उस विद्वान महाशय को यह लिखकर कि वह लेख सेवा में शीघ्र ही भेज रहा हूँ, मै उसकी कतरन खोजने लगा।

जब मै स्वय अपने पुराने कागज-पत्र खोजने लगता हूँ, उस समय राजवाडे, खरे आदि अन्वेषको के प्रति मेरा आदर द्विगुणित होता है। यही नहीं, बल्कि ऐसे समय यदि इतिहास-अन्वेषण-समिति का कोई प्रचारक मेरे पास आ जावे, तो मै उस समिति का शायद आजन्म सभासद भी हो जाऊँगा। पुरानी पुस्तको की दूकान में कोई अप्राप्य पुस्तक भी निश्चितपूर्वक मिल जायेगी। लेकिन मेरे पुराने कागजों में (मेरी श्रीमतीजी इस ढेर को रद्दी ही कहा करती हैं। अभी मुझे जो पत्र मिला है वह दिखाना चाहिए उन्हे!) मनचाहा कागज तुरत मिल जाये इस के लिये ग्रहो की ही कृपा होनी चाहिये। उस लेख को खोजने से पहले आज के समाचार-पत्र को उठाकर उसमें अपनी राशि का भविष्य देखने का जबरदस्त मोह मुझे हुआ। लेकिन ज्योतिष की खिल्ली उडानेवाला एक लेख कल ही मैंने पढा था, इसलिये इस मोह पर मैने विजय प्राप्त की।

क्रिकेट के खेल मे 'लगा तीर नहीं तो तुक्का' वाले कुछ खिलाड़ी होते हैं न? उन्हीं का अनुकरण मैंने किया। मेरे शुभ ग्रहों की मदद के लिये उपरोक्त विद्वान महाशय के हर्शल सहित सारे ग्रह दौड आने के कारण हो, या और किसी कारण से हो, उस लेख का कटिंग शीघ्र ही मुझे मिल गया। शिवाजी महाराज के असली पत्र को भी अन्वेषक जितनी उत्कठा से न पढेगा उतने उत्साह से मैं वह लेख पढने लगा।

परतु यह उत्साह का पारा तुरत ही जल्दी नीचे खिसकने लगा। लेख समाप्त होने पर तो मैं बिलकुल ठंडा ही हो गया। मुझे यह शक भी हुआ कि मैंने कहीं किसी दूसरे का लेख तो नहीं पढ डाला। जानबूझकर मैंने लेख के नीचे नाम देखा। वहाँ मेरा ही नाम छपा था। मुझे लगा कि मुद्रक को शैतान कहते हैं, यह झूठ नहीं। छाप दिया होगा उसने कहीं भी मेरा नाम! लेकिन जागृत हुई स्मरण-शक्ति सो कैसे जायेगी? गडकरी[1] के गोकुल[2] के भाग्य से मुझे ईर्षा हुई। भाषा, विचार, कल्पना, ऐसी कोई भी विशेष बात उस लेख में मुझे दिखाई न दी। और इसी लेख को लिखने के गर्व मे बारह वर्ष पहले मै चूर हो गया था! बारह वर्ष पहले की ही बात क्यो लेते है? एक घटा पहले उन विद्वान महाशय का पत्र मिलने के कारण कितना फूल गया था मै!

बारह वर्ष! एक 'तप'! बारह वर्ष की अवधि को 'तप' क्यो कहते हैं, इसका मतलब अब मेरी समझ में आया। जीवन अधिकाधिक शुद्ध हो, इसलिये प्राचीन काल के ऋषि गिरि-कंदराओं में बैठकर तपस्या करते थे। साधारण मनुष्य के जीवन में क्या समय भी वही काम नहीं करता? गिरिगह्वरों के एकान्तवास में रहनेवाले मनुष्यों के मन का अहंकार सचमुच ही गल जाता होगा। गगनचुम्बी शिखरों और पर्वतो के कंधों और शरीर पर खेलनेवाली वृक्ष-लताओं के आगे यदि उन्हे अपनी पर्णकुटी तृणवत् मालूम हुई, तो आश्चर्य क्या है? यह देखकर कि

१ राम गणेश गडकरी मराठी भाषा के एक प्रसिद्ध नाटककार और कवि।
२ गडकरीजी के एक नाटक का पात्र जो अत्यन्त भुलक्कड़ चित्रित किया गया है।

प्रातःकाल पृथ्वी के शरीर को पुष्प सुगंधो का उपटन लगाकर उषा के स्वर्णरस से सृष्टि माता उसे नहला रही है, दुनिया के उत्कृष्ट स्नानगृहों का क्या मूल्य रहेगा ? मुझे यह सच ही नहीं लगता कि वनदेवताओं के मधुर स्पर्श से जिन्हे अमृत प्राप्त हुआ ऐसे पके हुए फलों की बराबरी रबडी अथवा और कोई भी पकवान कर सकेगा । और दुःखों से दग्ध हुए जीवन को सजीवनी देनेवाला वह सृष्टि सौन्दर्य ! ऋषि मुनियों द्वारा तपस्या के लिये चुने गये स्थान क्या सौन्दर्य-देवताओं के जन्म-स्थान ही नहीं हैं ! सुबह शाम विहंगों के पार्श्व-सगीत से युक्त आकाश में दिखाई जानेवाली विविध रगीन फ़िल्म – उसकी सानी की एक भी फिल्म क्या मनुष्य कभी बना सकेगा ? मलबार हिल के बॅगले का वासी, पैरिस से अपने कपडे धुलवाकर मॅगानेवाला और यह तत्त्व अमल में लाकर कि संध्यारंग मदिरापान के लिये अनुकूल पार्श्व-भूमि है, अर्ध-नग्न परियों की नृत्य-पूर्ण फिल्मो को जानेवाला कोई आधुनिक ययाति मेरी ऊपर लिखी बात स्वीकार न करेगा, यह सच है । लेकिन यह तो उसे भी मानना ही होगा कि मनुष्य का अहकार समाज मे ही बढता है । अरण्य में यदि कोई सम्राट मृत हो जाये, तो फूल हँसते ही रहेगे और पक्षियो का मधुर सगीत एक क्षण के लिये भी खण्डित न होगा ।

लेकिन वनवास कोई साधारण मनुष्य के मनःशुद्धि का मार्ग नहीं है । सिंह गुफ़ा मे रह सकता है । लेकिन हरिणों को दल बनाये बगैर चारा नहीं रहता । मनुष्य की इस समाज-प्रियता के कारण मानव-जाति की जिस तरह प्रगति हुई उस तरह व्यक्ति के मनोविकार भी उलझते गये । मेरी ही बात लीजिये । बारह वर्ष पहले लिखे हुए उस लेख पर अकारण कितना अभिमान अनुभव हुआ मुझे ! इसके विपरीत वेद रचनेवाले ऋषियों ने अपना नाम और ठिकाना भी उनमे ठीक तरह से नहीं लिखा है ।

•

इस प्रकार के अहकार को अनेक बार यदि बिलकुल हास्यास्पद स्वरूप आ जाता है, तो आश्चर्य काहे का ? चेखब की एक कहानी है । उसका नायक दुर्घटना का शिकार हो जाता है । उसके मॉ-बाप बडी चिन्ता में

पड जाते है। लेकिन दूसरे दिन वह लगडे हज़रत समाचार-पत्र का एक अक-हाथ में लिये आनंद से नाचने लगते हैं। अमुक व्यक्ति दुर्घटना का शिकार हो गया, इसलिये उसका नाम उसमें छपता है! समाचार-पत्र में मोटे अक्षरों में नाम छपकर आवे इसलिये आत्महत्या करने से भी न चूकेंगे ऐसे लोग! 'तेवढंच ज्ञानप्रकाशा[1]त'[2] नामक दिवाकर की एक नाट्यछटा है। उसके पडित महाशय एक ख्यातनामा महिला की श्मशान-यात्रा मे जाने के लिये तैयार होते हैं। क्यों? तो सिर्फ इसलिये कि दूसरे दिन ज्ञानप्रकाश में अपना नाम छपकर आ जाये। बेचारे को यह भी पता नहीं रहता कि एक दो दिन के बाद बनिया की दूकान से उसके घर आनेवाला पिंडखजूर उसी पत्र में बँधकर आनेवाला है!

जीवन के बारह वर्ष का महत्त्व इस दृष्टि से बहुत बडा है। बारह वर्ष के बाद हम स्वयं ही अपनी ओर इतनी दूर से देखते रहते हैं कि कभी कभी स्वयं अपने आपको पहचान भी नहीं पाते। बहता हुआ पानी आप ही आप शुद्ध होता है। उसी तरह अहंकार से गदला हुआ मन भी काल-प्रवाह में शुद्ध हो जाता है। मेरे एक लेखक मित्र को अपने लेखन की एक एक पंक्ति पर बडा गर्व अनुभव हुआ करता था। उसकी यह कल्पना थी कि मेरे लेख बिलकुल अजरामर साहित्य है। बबई जाने पर हम दोनो एक दिन सहज पुरानी पुस्तकों की दूकान में गये। रद्दी के भाव से दे देने के लिये दूकानदार ने जिन पुस्तको को निकाला उन्हें मेरे मित्र ने देखा ही था कि मुझे लगा कि क्या उसकी हृदय-क्रिया वहीं एकदम बन्द तो नहीं पड़ जाती! उसके अजरामर साहित्य ने उस रद्दी को बढ़ाने में बडी मदद की थी। 'अशि कशी मस्तींत चालली मुली?'[3] प्रश्न जिससे पूछने की इच्छा होती है ऐसी कम से कम एक तरुणी तो प्रत्येक के परिचय की होगी। वह पुरुष के हृदय को कचकडे का खिलौना समझती है। फिर बारह वर्ष के बाद उसे देखिये। मस्ती के साथ उसकी

१ 'ज्ञानप्रकाश' मराठी भाषा का एक समाचार-पत्र है।

२ 'ज्ञानप्रकाश में इतना ही आ जाये।'

३ 'इस तरह मस्ती लिये हुए क्यो जा रही रहो, लड़की?'

मुद्रा भी उतरी हुई दिखेगी। यही नहीं, बल्कि अनेक पुरुषों के हृदयों को पैरों तले रौंदनेवाली वह युवती इस चिन्ता मे पडी हुई दिखेगी कि अपने पति के मन को मुट्ठी मे किस तरह रखूँ।

सचमुच ! बारह वर्ष के बाद जीवन की ओर देखने की हमारी दृष्टि कितनी बदल जाती है। जिस दिन मैंने जन्म लिया था उस दिन इसके परे कि माँ का दूध पीने मिले मेरी और कोई इच्छा न होगी। परतु बारहवें वर्ष मे ? कक्षा मे पहला नबर रहूँ इसलिये सुबह थोडा बहुत पढता तो था ही, लेकिन शाम को दत्त के दर्शन को जानेका मेरा नियम भी बहुधा कभी नहीं चूकता था। जब चौबीसवें वर्ष में पदार्पण किया तब इस बात पर मुझे स्वय हँसी आने लगी थी। परीक्षा ? अँः ! निरी रटन्त ! और भगवान ? दुनिया मे यदि भगवान होता, तो हजारों निरपराधी लोगो को (यह कहने की जरूरत नहीं कि इस सूची मे मेरा नाम सब से पहले रहा करता था।) क्या इतने विलक्षण दुःख भोगने पडते ? बस ! कुछ दिन पहले ही मैंने पढा है कि धर्म अफीम है ! तब भगवान गाजा होना चाहिये ! अब लेखक होकर समाजसेवा करना ही मेरा ध्येय होगा। लेकिन इस ध्येय को सिद्ध करने के लिये दो महाशयों की मदद जरूर चाहिये। एक तो मेरे इन लेखों को छापनेवाला सम्पादक और दूसरा अपनी शकुन्तला मुझे देनेवाला कोई कण्व मुनि। समाज सुधार के लिये जो लेखन किया जाये, वह ललित ही होना चाहिये ! और लालित्य की कली सुन्दर तरुणी के सहवास के बिना खिलना क्या सभव भी है ? भीष्म को ललित लेखक नहीं होना था इसलिये वह आजन्म ब्रह्मचारी रह सका। इस प्रकार उस समय मेरा निश्चित मत हो गया था।

और बारह वर्ष निकल गये। उस वर्ष की दिवाली मुझे एक बडा संकट-सी ही लगी। इसलिये नहीं कि कच्चों-बच्चों के लिये बहुत सी आतशबाजी लानी पडती ! इस विषय में भगवान ने मुझ पर कृपा की थी। हमारे घर के पलने पर अनावृष्टि न थी, उस तरह अतिवृष्टि भी न थी। लेकिन आप ही बताइये कि आख़िर मैं कितने सपादको की माँगे

पूरी करता ? दिवाली मे मेरे लेखन से पाठकों को कितना आनद होता होगा, कौन जाने ! लेकिन आजकल दिवाली से पहले एक महीने तक मुझे पूरी तरह कडी कैद की सजा हो जाती है। ये सम्पादक लोग ऐसी गप्प मार देते है कि समाज को आपके लेख बडे उपयोगी होते हैं। इस तरह साहित्य से यदि समाज सुधार होता, तो मृच्छकटिक नाटक के बाद इस भरतखण्ड में वैश्याओ के वर्ग का अस्तित्व ही न होता !

अब लिखना तो है अवश्य ! लेकिन वह लिखना है अमर होने के लिये !

अमर ? बारह वर्ष पहले का यह लेख मैंने कितनी स्पर्धा से लिखा था ! परतु अब वह स्वय मुझ से भी नहीं पढा जाता। फिर आज का मेरा लेखन और बारह वर्षों के बाद कम से कम मुझे भी पसद होगा इसका क्या ठिकाना ? और बारह वर्ष ! – अडतालीसवॉ वर्ष ! शौक से फूल चुनें और जब कुम्हला जावे तो उन्हे फेक दे – यही क्या मानवी जीवन का अर्थ है ? क्षुद्र अहंकार का निर्मूलन करने की दृष्टि से जीवन की हर बारह वर्ष की अवधि अत्यन्त उपयुक्त होगी। परतु हृदय की वाटिका के उग्र फूलोवाले इन पौधो को उखाड डालने पर आगे क्या होगा ? क्या बैठे हुए सिर्फ मिट्टी ही देखते रहे ? इससे तो नन्हे गधहीन फूलो को लेकर नाचनेवाली घास की पत्ती भी यदि उसमे डोलती रहे तो अच्छा। क्या भूमि को और क्या हृदय को हरियाली के बिना शोभा नहीं। ऐसी हरियाली —

मैंने अन्तरमुख होकर अपने जीवन के छत्तीस वर्षो की ओर दृष्टिपात किया। दूर से जानेवाली विविध पुष्पो की मिश्रित सुगधि कितनी सुखकारक लगी मुझे ! यह रामभाऊ – मेरे जीवन का बकुल का पेड ! बचपन मे हम दोनों मित्रो ने जमीन के लिये एक काली पेंसिल का टुकडा और कुरसी के लिये एक पूरी सफेद पेंसिल – इस तरह टिकट के रेट लगाकर बालदर्शको के लिये नाटक किये थे। नाटको की उन मधुर स्मृतियों की तरह ही मेरे जीवन के अत्यन्त कठिन प्रसग पर मेरा पता लगाकर उसके द्वारा भेजी गयी वह आर्थिक सहायता ! कितने दिन हो गये इस बात को ! लेकिन बकुल के फूलों की सुगध को समय भी नष्ट नहीं कर सकता।

बाग की दूसरी तरफ मैं देखने लगा। जुही के फूल ? छिः ! यह मेरी बहन। उस समय भयकर लगनेवाले भविष्य मे मेरे साथ कितने शौक से कूद पडी थी वह ! उसके नजदीक ही मेरी पत्नी खडी है। जैसे जीवन के लोनपाट के खेल में मेरी बहिन के द्वारा पहुँचाई हुई जीत को लेकर ही वह आगे बढ रही है। खेल मे विजयी होने की उसकी महत्त्वाकांक्षा देखकर, घिरी हुई जगह में फँसे हुए मेरे मन को आजकल कितनी हिम्मत आ रही है।

यह हरसिंगार का पेड ! गरमी हो, बरसात रहे, उसकी बहार में कभी रुकावट नहीं होती। फूलों का सिंचाव हो जाता है उसके नीचे। कोई चुनकर चाहे भगवान को चढाए और चाहे तो पैरों तले रौंद दे ! श्वेत पुष्प, लाल डठुल, प्रसन्न मुद्रा, उसके पार्श्व में निर्मल प्रेम ! मेरे जीवन मे दादा के इस उत्कट प्रेम की यदि मुझे पहले अनुभूति हो जाती तो— खैर, जाने दीजिये। क्या, यह ही कोई छोटा लाभ हुआ कि ये फूल हमारे हिस्से में आये। काल-पुरुष अपने बारह दाँतों के हथियार से मेरी बगिया के अहकार जैसे सैकडो पौधे खुशी से काट डाले। इन पुष्प वृक्षों के आगे उनका स्मरण भी नहीं होगा मुझे !

हाँ, पर इस लेख को उस विद्वान महाशय के पास भेजना तो मै भूल ही रहा था। यदि न भेजूँ तो वे नाराज हो जायेंगे ! उन जैसे बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति का क्रोध—

उन के क्रोध के भय के कारण हो अथवा अपने अहकार के कारण हो, वह लेख मैने उन्हें भेज दिया। लेकिन उसके साथ जब मैने इस आशय का पत्र भेजा कि यह लेख मामूली हे और मै नहीं सोचता कि वह आपके काम का होगा, तभी मुझे सतोष हुआ।

स्वय अपने विषय में इतना प्रामाणिक मत व्यक्त करनेवाले दुनिया में कितने लोग होंगे ? क्या मजा है देखिये ! मुझे इस प्रामाणिक पत्र पर ही गर्व होने लगा ! होने दीजिये। और बारह वर्ष के बाद इस पत्र के विषय मे मुझे क्या लगेगा, यह आप आज भी कह सकेंगे।

● ● ●

१५

एक पैसा

मुझे अपने मित्र का वह लेख वापसी डाक से भेजना था। इसलिये मैंने उसे तुरत पढ डाला और बुक-पोस्ट से भेजने के लिये उसका पैकट बनाने लगा। उस पर जो कागज लिपटकर आया था वह आधा-सा फटा हुआ नजदीक ही पडा था। मैंने उसे सहज उठाकर देखा। तीन पैसे का टिकट लगा था उस पर!

लेख का पैकट बनाते बनाते खिडकी से सहज ही मैंने बाहर देखा। मूसलधार वर्षा हो रही थी। आकाश का चेहरा बार बार काला पड जाता और ताव ताव से दी जानेवाली गालियो की तरह बारिश की झडी लगी थी। क्षण-भर के लिये यह भी भ्रम हो जाता कि जनाब का गुस्सा अब ठडा हो गया है। लेकिन फिर वही रफ्तार जो पहले थी। वही काले काले बादल और वही तडातड शब्द!

लगता है किसी भी अलौकिक दृश्य मे मनुष्य को कवि बनाने की सुप्त सामर्थ्य होती होगी! वरना छोटे से धागे से दो कागज लपेटते बैठे हुए मेरे मन में यह कल्पना क्यो आयी कि पर्जन्य के रजत रज्जुओं से स्वर्ग पृथ्वी को अपनी ओर खींच रहा है। रुद्र को प्रलय की अधिदेवता

माननेवाले पौराणिक सकेत का सौंदर्य भी इसी समय मुझे अनुभूत हुआ। कभी काला, कभी सफेद दिखनेवाला आकाश नहीं था वह। भस्मचर्चित कृष्ण जटाओं से अलकृत भगवान शकर के मस्तक का आभास हो रहा था वहाँ। छि! शकर के द्वारा कठ मे धारण किये सर्प की मालाएँ ही होंगी वे। उनमे चम से चमक जानेवाली वह बिजली! शकर के तृतीय नेत्र का बार बार खोलना और बन्द करना इसी तरह का रहता होगा!

लेकिन इस दुनिया में काव्य को बात की बात मे व्यवहार की दीठ लग जाती है। ऐसा हमेशा ही होता है कि नववधू जेठे-बडो की ऑख बचाकर, पान देने के लिये पति के पास जावे और हजरत मुँह बनाकर यह शिकायत करे कि आज दाल मे तुमने नमक अधिक छोड दिया। इस समय भी वही हुआ। मै जो लेख भेज रहा हूँ वह यदि इस वर्षा से भीग गया तो? एकदम यह प्रश्न मेरे सामने खडा हो गया। मुझे यह बात जॅच गयी कि ऐसी वर्षा मे, पतले कागज के मलमल के कुरते के साथ ही उसके शरीर पर और भी कुछ होना आवश्यक है। एक पुराना अखबार उठाकर उसका ओवरकोट ही चढा दिया मैने उसके शरीर पर!

लेख का पैकट बध चुका। लेकिन एक शका मन मे खडी हो गयी। अब इस बुक-पोस्ट के लिये क्या तीन पैसे का टिकट काफी हो जायेगा? घर मे तोलने के लिये कॉटा न था। इतवार होने के कारण डाकखाने मे भी तोलने का मौका न था। इस ओवरकोट के कारण इस पैकट का वजन तो जरूर बढा ही होगा। इसलिये तीन पैसे के बदले चार पैसे का टिकट लगाकर ही इसे डाक मे छोड देना चाहिये। व्यर्थ ही एक पैसे के लिये —

एक पैसे के लिये मै कितनी देर तक विचार करता रहा था, यह बात दूसरों को तो सच लगेगी ही नहीं, परतु स्वय मुझे भी अपनी इस मनः-स्थिति पर आश्चर्य होता है। लेकिन एक तीन पैसे का टिकट और एक चार पैसे का टिकट – दोनो को सामने रखकर 'जिऊँ या मरूँ' का विचार करनेवाले हैमलेट की तरह मे बहुत देर तक उनकी ओर देख रहा था, यह ज़रूर सच है। अत में जौहर करनेवाली राजपूतानियो के आवेश से

मैने उस बुक-पोस्ट पर तीन पैसे का टिकट लगाकर, उसे तुरत डाक में छोडने के लिये भेज दिया।

आप कहेंगे, ये महाशय अपनी कंजूसी का इतना रसभीना वर्णन क्यो कर रहे है? लेकिन मैं कजूस नहीं हूँ यही तो इसमे रहस्य है। जिसके पास वह लेख भेजना था वह मित्र यदि मेरे घर आया होता, तो उसकी मेहमानी में पाँच छोडकर दस रुपये भी खर्च करने के लिये मै आगापीछा न देखता। यद्यपि मैंने यह हिकमत जान ली थी कि बारीक अक्षर लिखने से लिफाफे का मजमून कार्ड में समा सकता है, फिर भी उसका अवलबन मैंने अभी तक कभी न किया था। ऐसे पत्र लिखना क्या अपने मित्र को सूक्ष्मदर्शक यंत्र खरीदने के खर्च में डालना ही नहीं है? जहाँ पत्र से काम हो सकता है, वहाँ मै तार भेज दिया करता हूँ। इतना फ़जूलखर्ची स्वभाव है मेरा। लेकिन उस दिन जरूर उस एक आने के टिकट को लगाने के लिये मेरा हाथ आगे न बढा।

मुझे लगता है, जिसे हम मनुष्य का स्वभाव कहते हैं वह इस तरह एकरूप होता है, यह कल्पना ही मूल मे थोडी गलत है! शेषनाग के हजार सिर है और वह अपने सहस्र मस्तको पर पृथ्वी धारण करता है— इस पुरानी कल्पना मे क्या अर्थ भरा है, यह मैं नहीं जानता। शायद वह मनुष्य के मन पर रचा गया रूपक ही हो! आप ही देखे, मनुष्य का भी एक मन है कहाँ? समुद्र की लहरो की तरह उसमे भी हजारो मन लगातार आँखमिचौली का खेल खेलते रहते है।

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में एक मनोरजक उपन्यास लिख सकेगा— यह कहने का भी अर्थ यही नहीं है क्या? सिर पर पत्तों का छाता ओढे मूसलधार पानी मे खेत मे काम करनेवाली अनपढ स्त्री का जीवन, अथवा काला गाउन पहने सैकडो विद्यार्थियों के सामने घर से रटकर लाये हुए प्रवचन पढनेवाले पडितों का जीवन बाह्यतः कितना रूखा— बिलकुल स्थायी रूप के ढले साँचे का दिखता है। यदि मनुष्य का मन क्षण-क्षण में बदलनेवाला, आनद से खिलनेवाला, किसी को कल्पना भी न हो ऐसी छलाँगे भरनेवाला न होता, तो ऐसे मनुष्य का जीवन यंत्रशास्त्र का एक

ग्रथ हो जाता। लेकिन किसान की झोपडी मे भी नवरस नाचते हैं और प्रोफेसर के काले गाउन मे से भी तितलियो के दल बाहर निकलते हैं। मनुष्य के बहुरूपी मन की ही यह कीमिया है। है न?

और इसी लिये जब कोई मुझे शान्त स्वभाव का प्रमाणपत्र देता है, तो मुझे मन ही-मन हँसी आती है! बचपन में यह पता लगते ही कि बडे भैया अपने साथ मुझे गॉव नहीं ले जा रहे है, मैं कूएँ की किनार पर भीतर पैर डालकर बैठा था, यह उस बेचारे को कहॉ मालूम रहता है? बचपन की ही बात क्यों ले? सन् १९३७ की ही बात लीजिये। यह लेख लिखने बैठा उसके एक घडी-भर पहले घटित प्रसग ही देखिये न। मैंने अपने कमरे मे आकर दरवाजा लगा लिया। इसी समय बाहर से किसी ने मुझे चाय पी लेने की याद दिलायी। मैंने एकदम उत्तर दिया,—'अब मुझे चाय नहीं चाहिये!' यह क्या कोई शान्ति का लक्षण था? सुप्त ज्वालामुखी की ऑच पृथ्वी को ही महसूस होती है, उसके पृष्ठ-भाग पर लगे अँगूर के बाग मे विचरण करनेवाले मनुष्यो के मुँह मीठे होने मे कोई अड़चन नहीं होती, यह बात मनुष्यों के विषय मे भी हमेशा ही अनुभूत होती है।

इन अनेक मनों के कारण ही किसी भी मनुष्य के विषय की हमारी कल्पना थोडी बहुत गलत ही सिद्ध होती है! सिर पर कर्ज का पहाड होते हुए गरदन को जरा भी न झुकानेवाले और अहित करनेवालो के वाग्बाणो से आनदित होनेवाले एक महाशय मुझे कुछ समय पहले ही मिले। सहज ही पिछली बातो के सिलसिले में वे बोले,—'मैं एक बार आत्महत्या करने के लिये गया था।' मैंने कहा,—'स्वप्न मे चाहे जो दिखाई देता है।' वे बोले,—'अजी साहब, स्वप्न नहीं, बिलकुल सत्यकथा है यह! सौतेली मॉ ने मुझ पर पॉच रुपये की चोरी का आरोप लगाया। किसी भी तरह उस रात को मुझे नींद नहीं आती थी। आत्म-हत्या के लिये आधी रात को नदी पर गया —'

साधारण मनुष्य का जीवन भी उपन्यास की तरह इस प्रकार रँगने लगता है! यह सच है कि मानवी संस्कृति और जीवन के अनुभवो की

विविध तहें जम जाने के कारण, प्रत्येक मनुष्य हमे विशिष्ट स्वभाव का लगता है। लेकिन प्रत्येक के जीवन में कुछ क्षण ऐसे आते हैं कि उस समय सुधार के सुदर वस्त्र दूर हट जाते हैं और मनुष्य का सच्चा स्वाभाविक रूप प्रकट होता है। यह कहने की जरूरत ही नहीं कि यह रूप जॅगली होता है। वरना फिल्म देखने अथवा प्रवास करने मे चार मित्रों के बिना जिसे आनद नहीं आता, वह मनुष्य डाक के टिकटो में एक पैसा बचाने की कोशिश क्यो करता?

एक बड सत्यनिष्ठ महाशय है। यदि मराठी भाषा का शब्दकोश तैयार करने का काम उन्हे सोप दिया जाये, तो सत्य, ध्येय, तत्त्व, शास्त्र, तर्क, बुद्धिवाद इत्यादि शब्दो से ही वे उसे भर देंगे। लक्ष्मी को पसद होनेवाले धधे मे पडने के कारण तो उनकी तत्त्वनिष्ठा और भी अधिक खुलकर दिखती है। कुछ दिन पहले इन महाशय को किसी शाला के स्नेह-सम्मेलन में भाषण देने का मौका आया। वह शाला चार-पॉच महाशयो ने स्थापित की थी। उन सस्थापकों के मुखिया से किसी कारण-वश इनका मनमुटाव हो गया था। बचे हुओ मे से एक इनके घनिष्ठ मित्र थे। बाकी लोगों से इनका साधारण परिचय था। भाषण मे शाला के संस्थापको का उल्लेख करने का समय आया। तब इस आधुनिक युधिष्ठिर ने उस प्रमुख महाशय के नाम का उल्लेख ही न किया जिनसे इनका मनमुटाव था। अपने मित्र के नाम का बडे अभिमान के साथ उल्लेख किया और पक्षपात का आरोप न हो, इसलिये उस नाम के आगे वगैरह शब्द भी जोड दिया। जग में सत्यनिष्ठ लोगो से ही सत्य की कितने अनायास ही विडम्बना हो सकती है! मनुष्य के जॅगली मन ने थोडी सी हलचल की कि सुधार के बहुत से महीन वस्त्र बात-की बात मे फट जाते हैं, यही सच है।

पॉच पतिव्रताओं में गिनी जानेवाली सीता-द्रौपदी की कथाएँ भी क्या यही नहीं दर्शातीं? मायावी राक्षस की पुकारें सुनकर भी लक्ष्मण नहीं जा रहे थे, तब सीता ने उनके विषय मे व्यर्थ का संशय प्रकट किया, अथवा द्रौपदी के मन में कर्ण के विषय में अभिलाषा उत्पन्न हुई – इत्यादि वर्णन

मानवी मन का यथार्थ स्वरूप चित्रित करते हैं। मनुष्य का मन अनत नदियो का सागर है। वह चित्रविचित्र रगो से रगा हुआ चित्र है! विक्टर ह्यूगो के Les Miserables उपन्यास के नायक की तरह वह पेट के लिये डबल रोटी के टुकडो की चोरी करेगा, सजा भुगतते हुए प्राणो की परवाह न कर जेल से भाग जायेगा, सकट मे आश्रय देनेवाले व्यक्ति के घर चोरी करेगा और अपनी चोरी की ओर भी माँ की भावुक दृष्टि से देखनेवाला हृदय देखते ही उसे पश्चात्ताप होगा और फिर वह इतना त्याग करेगा कि उसे देखकर साधु-सत भी आश्चर्यचकित हो जाये।

इसका मतलब यह नहीं कि मानवी मन निरा सनकी है। उसमे के देव-दानव किस तरह जाग्रत होते है, उनके तुमुल युद्ध मे अनेक बार दानवो की ही जीत क्यो होती है, यही नहीं, बल्कि मानवी मन के दानव का निर्मूलन करने की कल्पना व्यवहार की अपेक्षा काव्य मे ही अधिक शोभा देनेवाली है अथवा नहीं, इत्यादि प्रश्नो के उत्तर समाज-विज्ञान और मानस-विज्ञान के जानकार ही दे तो अच्छा!

टिकट लगाने मे एक पैसे की बचत करनेवाला मेरा मन असली दानव कुल का न होगा! लेकिन उसे कम से कम किसी सातवे या आठवें नबर के भूत ने जरूर पछाडा होगा, इस में सदेह नहीं!

लेकिन यह बात नहीं कि वैज्ञानिक दृष्टि से मेरी इस क्षणिक क्षुद्रता का समर्थन ही न हो सके। मै कजूस भले ही न होऊँ! लेकिन मेरे परदादा के परदादा इतने कजूस होगे कि वे तिमार्जा नायक[1] के परात्पर गुरु शोभा दें। मेरी वह आनुवशिकता कहीं उस क्षण जागृत तो न हो गयी हो? उस दिन वर्षा के कारण मेरा घूमना रह गया था। उस ऊबी हुई मनःस्थिति के कारण भी मुझे उस एक पैसे का मोह उत्पन्न हो गया होगा। कौन कह सकता है कि न हुआ हो। कदाचित् – छि! बहुधा – मेरे सुप्त मन में उस मित्र के विषय का कोई क्रोध, हरियाली में छिपकर बैठनेवाले सर्प की तरह छिपा बैठा होगा!

---

१ महान् कजूस का एक प्रतीक।

अरे हाँ ! अब सब याद आया ! कुछ समय पहले मैं बबई गया था, तब बदर पर आना स्वीकार करके भी हज़रत ने मुझे चकमा दे दिया था ! उसका बदला —

जॅगली मनुष्य को बाणो का उपयोग किये बगैर किसी से भी बदला लेना संभव न था। परतु आज बीसवीं सदी मे जग इतना सुधर गया है कि बाणों का काम, न लगाया गया एक पैसे का टिकट भी कर सकता है।

लेकिन यह एक पैसे का प्रश्न भी क्यो पैदा हुआ ? मेरे मित्र का लेख वर्षा में न भींगे, यह सद्भावना ही क्या उसकी जड़ मे न थी ?

● ● ●

१६

झोंका

बिलकुल ऊब गया था मै ! और उन पत्रो के उत्तर तो वापसी डाक से भेजना अत्यन्त आवश्यक था । एक विद्यार्थी को पकडा और बिठा दिया लिखने को । लेटे लेटे मै पत्रों के मजमून कह रहा था । उसे कहते हुए कहीं कुछ भूला-भूला-सा लग रहा था मुझे, इसमे सदेह नहीं । टेलिफोन से पति-पत्नी का प्रेम-सवाद कितनी ही देर तक चलता रहे, फिर भी प्रत्यक्ष भेट के समय के मूक सवाद का आनद उसमें कैसे निर्मित होगा ? प्रिय जनो को लिखे जानेवाले पत्र दूसरो से लिखवाने मे इसी प्रकार की अतृप्ति का अनुभव होता है । लेकिन दूध की प्यास को चाय पर ही बुझा लेने के सिवाय मुझे कोई चारा ही न था ! गणेशजी मिल गये थे, तभी तो व्यासजी महाभारत लिख सके !

हस्ताक्षर करने के लिये उन ढेर भर पत्रो को मैं उलटने लगा । तब एक क्षण मे मुझे इस बात का पता चल गया कि कुछ समय पहले मुझे कुछ भूला-भूला-सा क्यो लग रहा था । हमारे 'गजानन महाराज' ने प्रत्येक पत्र पर १-५-३७ के बदले १-४-३७ तारीख डाल दी थी । 'ध' का 'मा' करने जैसी ही बात थी यह ! मई की पहली तारीख श्रमिक-

विचार-ब्रह्म में इस कदर लीन हो जाते कि शरीर की भी सुध न रहती। कई बरसों तक जिस मकान में ये रहे थे, उसे इन हजरत ने जिस दिन छोडा, उस दिन एक खासा प्रहसन ही हो गया। अँधेरा होने पर विचार-तद्रा में हजरत के कदम पुराने मकान की तरफ (जिसे छोड चुके थे) मुड गये! हात ने द्वार पर लगी बिजली की घटी का बटन दबाया, कानों को भीतर के कच्चे-बच्चों की किलकारियाँ सुनाई दीं और दरवाज़ा खुलते ही भीतर प्रवेश कर एक बच्चे को उठाकर 'बाब्या' कहते हुए उसे चूम भी लिया उस भावुक पिता ने। लेकिन पहले बाब्या के चेहरे की ओर और फिर उस बाब्या की माँ के मुखमडल की ओर दृष्टि जाते ही अपनी भयकर भूल को महसूस कर, वे वहाँ से तुरत ही नौ दो ग्यारह हो गये — इतने वेग से भागे कि यदि उस वेग को घटा-भर तक टिका सकने की उनमें शक्ति होती, तो आलेम्पिक मैचों मे भी वे दौड की प्रतियोगिता में पहला नंबर आये होते! यह प्रसग जब याद आता है, तब शेक्सपीअर का Comedy of Errors और गोल्डस्मिथ का She Stoops to Conquer ये दोनों नाटक मेरी आँखों के सामने एकदम खडे हो जाते हैं!

लेकिन उसी अकेले पर हमें नहीं हँसना चाहिये। सगति से उत्पन्न होनेवाली आदत के और परिचय के कारण निर्मित होनेवाले प्रेम के हम सभी दास हैं। सन १९११ के दिल्ली दरबार के दिन मैने अपनी चुटैया को सदा के लिये छुट्टी देने का समारोह सम्पन्न किया। लेकिन फाँसी की सजा पाया हुआ मनुष्य भी जितना विचार न करेगा, उतना विचार करके मै इस सुधार के लिये प्रवृत्त हुआ था। यदि कोई पूछता कि चुटैया कैसे गायब हो गयी, तो मैं यह कहने से भी कभी न चूकता था कि एक दिन मै बाल कटवा रहा था, मेरा एक मित्र मेरे पीछे खडा हो गया और उसके नाई को इशारा कर देने से मेरी चोटी काट दी गयी। यदि यह कहें कि उस वक्त मै लडका था, तो आगे करीब चौबीस साल के उपरान्त मूँछों पर वही प्रयोग करते समय मेरी उसी तरह की करुणाजनक स्थिति हो गयी! फर्क अगर था तो सिर्फ इस सबध में लोगों को दी जानेवाली गप्पों के

स्वरूप में था। पैजामा और डबल-ब्रेस्ट का कोट जब प्रथम बार मेरे अग ले‍ते गये, तब मेरे मन में कितने ही बार यह शका आयी कि मेरा नाप लेते लेते दरजीबाबा चोरी चोरी मन्द मुस्कान के साथ कहीं मेरी ओर देख तो नहीं रहे हैं। मामूली नयी बातों को अगीकार करते समय जब पुरुषों की ऐसी दशा हो जाती है, तब स्त्रियों की बात तो कुछ पूछना ही नहीं है। यहॉ भी वे गज गति से ही चलती हैं। क्या, आप सोचते है कि पीठ पर लटकाई हुई वेणी और बिना कांछ[१] की साडी पहनने की फैशन प्रौढ स्त्रियों को मन से पसन्द नहीं आती? बस, यह न पूछिये। पर —

पर लोग क्या कहेंगे? पुराना छोड़कर नये को अगीकार करते समय मन में यह प्रश्न खडा होना कि लोग क्या कहेंगे, स्वाभाविक है। लेकिन ये सिर्फ दिखाने के दॉत हुए। वास्तव में देखा जाये तो मन से लोगों की कोई भी परवाह नहीं करता! और क्षण-भर के लिये यह मान भी लें कि लोकमत का बडा महत्त्व है, फिर भी अपने घर में तो अपना ही राज्य होता है न? फिर किसी भी प्रौढा को पीठ पर सुदर वेणी लटका-कर शीशे के सामने अथवा अपने पति के सामने खडे रहने मे क्या आपत्ति है? वैसे हज़ार काम करने के लिये उसे वक्त रहता है। लेकिन मन में होते हुए भी इस काम को करने के लिये उसका मन कभी तैयार ही न होगा।

लेकिन इसके लिये मै उसे दोष अवश्य न दूॅगा। कहते हैं केंचुली छोडते समय सॉप की प्राणातक दशा हो जाती है। जिन बातों की आदत हो जाती है, उन्हें छोडते हुए साधारण मनुष्य का मन भी इसी तरह भौचक्का हो जाता है। हमारे नगर में घूमने जाने योग्य कितने ही रमणीय स्थान हैं। लेकिन टेकडी अथवा समुद्र छोडकर, अगर मैं अन्य स्थानों मे घूमने जाऊॅ, तो मुझे घूमने का संतोष ही प्राप्त नहीं होता। 'शिव-लीलामृत' का ग्यारहवॉ अध्याय ही मुझे अधिक पसद है, आखिर इसका

१ महाराष्ट्र में ९ गजी के बदले ५ गजी साडी पहनने का रिवाज़ चल पडा है। उस तरफ यह लक्ष है।

भी दूसरा क्या कारण है ? सच पूछा जाये तो उस में के महानदा के आख्यान की अपेक्षा आगे का श्रियाल-चागुणा का आख्यान अधिक रसभीना है । लेकिन बहन को पढकर सुनाने के निमित्त ग्यारहवाँ अध्याय इतनी बार मेरी नजरों के सामने से गुज़रा है कि ' हरहर शिव म्हणून । उडी निःशक घातली '[१] पंक्तियो का स्मरण होते ही चिता की भड़कती हुई ज्वाला को भी लज्जित करनेवाला महानदा के मुख का तेज, उसके मुँह से निकले हुए ' हर हर शिव ' उद्गार सुनते ही उन ज्वालाओं को भी छूटनेवाली कॅपकॅपी – सब कुछ किसी कुशल चित्रकार के द्वारा रगे गये चित्र की तरह आँखों को दिखने लगता है । चिलिया के आख्यान से मेरा उतना घनिष्ठ परिचय नहीं हुआ । इस लिये उसमें के चित्र अधिक रसपूर्ण होने पर भी वे मुझे इतनी स्पष्टता से नहीं दिखते ।

मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करूँगा कि सगति से उत्पन्न होनेवाली यह भावना कुछ अश में अधी होती है । लेकिन इस अध भावना ने ही जग के असंख्य घरों में और समाज के कितने ही तबकों मे आज तक शान्ति की प्रस्थापना की होगी । परिचय के गर्भ से यदि प्रेम का जन्म न होता, तो पचास की झकोर लगते ही तलाक माँगनेवाले दम्पतियो की सख्या विपुल दिखाई देती – और मित्रता शब्द का जग में ही नहीं, बल्कि शब्दकोश में भी कोई अर्थ नहीं रह जाता । स्वर्गीय ताबेजी[२] की ' नववधू प्रिया मी बावरतें ' यह सुदर कविता शृगारिक हो अथवा पारमार्थिक हो, पर सगति के कारण प्रिय हुई बातो के विषय में मानवी मन का आकर्षण उसमें कितनी सुदर रीति से चित्रित किया है !

उस विद्यार्थी के द्वारा लिखे पत्रो की तारीखें सुधारते सुधारते ऊब गये हुए मेरे मन ने कहा, – ' मै जान गया कि मनुष्य स्थिति-प्रिय और दक़ियानूसी क्यों हो जाता है ! परंतु क्या उसके कारण प्रगति में रुकावट नहीं होती ? इस लड़के ने सिर्फ पुरानी तारीख ही लिखी । दूसरे लोग पुरानी बेकार

---

१ ' हर हर शिव कहकर । निर्भयता से कूद पड़ी । '

२ मराठी भाषा के एक आधुनिक कवि ।

बातों को हृदय से चिपकाए बैठे रहते हैं। क्या यह इसी तरह चलने दिया जाये?' बिलकुल नहीं। लेकिन मनुष्य का मन इतना लचीला होना ही चाहिये कि वह नये को, चाहे थोडी देर से ही क्यो न हो, स्वीकार कर सके। जब लड़कों और लडकियों की बाढ हो रही हो, तब उन्हें रूस की तरह यदि नवीन सस्कारों की शाला में भरती कर दिया जाये, तो वे पागल की तरह पुरानी चिंधियॉ कभी भी इकट्ठा करते नहीं बैठेंगी। यह झूठ नहीं कि परिचित की ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। परंतु विवाह के समय मायका छोडते हुए यदि लडकी को रोना आ गया, तो क्या वह सुसराल मे रोती ही रहती है? पहले दिन ससुराल उसे इतनी अपरिचित लगती है कि यदि कोई यक्षगधर्व उसे वहॉ से उठाकर मायके मे उसकी मॉ के पलग के पास रख देने के लिये स्वीकार कर ले, तो क्षण भर का भी विचार न करके वह उसके साथ जाने के लिये तैयार हो जायेगी। वहॉ के ऑंगन की तुलसी और गौथान का बछडा देखकर उसकी मायके की स्मृतियॉं ही जागृत होगी। उस दिन स्वप्न में भी झूले पर बैठकर 'झोंका घेऊ या, झोंका देऊ या'[१] गुनगुनाती हुई वह मायके जाने का ही विचार करेगी।

लेकिन थोड़े दिनो के बाद उसे मायके ले जाने के लिये तैयार होनेवाले यक्षगधर्वों को वह दूर से ही प्रणाम करेगी, ऑगन की तुलसी और गौथान का बछडा देखकर उसे अपनी गृहस्थी के ही चित्र दिखने लगेगे और स्वप्न में झूले पर बैठकर वह गुनगुनाने लगेगी —

'दार वाजलें, उठुनि धांवलें
पाहिलें परंतु नाहिं कोणि पातलें'[२]

शीघ्र ही वह मॉ बनेगी और अपनी मॉ को भूल जायेगी।

---

१ 'आओ झूली ले और झूला दें।'

२ 'दरवाजा बजा, तो उठकर दौडी
और देखा – पर कोई नही आया था।'

आप कहेंगे — कल अथवा परसों पत्र लिखनेवाला वह विद्यार्थी भी मई के बदले अप्रैल का ऑकड़ा नहीं डालेगा। लेकिन जून की पहली तारीख को वह फिर महीना भर पीछे हट जायेगा न ? मंजूर ! पर यह एक या दो दिन ही तो होगा। यह तो अब आप भी मानेंगे कि इस तरह का पीछे जाना, झूले के पीछे के झोंके की तरह होता है जिससे झूला आगे खूब ऊपर जावे।

● ● ●

१७

गालियाँ

आजकल सुबह उठते ही सामनेवाली पहाडी का जब तक एक चक्कर न लगा आऊँ, मुझे चैन ही नहीं पडती। विरही युवको को जिस तरह डाक आने का समय बेचैन कर देता है, उसी तरह बूढे पेन्शनरो को सुबह का समय। इस समय घर से बाहर निकले बिना उन्हे अच्छा ही नहीं लगता। घर की सुबह की हवा इतनी दूषित लगने लायक मेरी उम्र न होने के कारण, प्रभात फेरी का व्रत धारण करने की बारी मुझ पर अभी तक नहीं आयी है। इसलिये यदि यह कहूँ कि केवल घूमने का शौक पूरा करने के लिये मै पहाडी का चक्कर लगाता हूँ, तो इसे कौन सच मानेगा?

यह सच है कि वहाँ से दिखनेवाले सागर का नील विस्तार देखकर, क्षण भर के लिये यह आभास होता है कि कहीं हम सृष्टि-चक्र को चलानेवाली महाशक्ति का विशाल अन्तःकरण ही तो नही देख रहे है? लेकिन जब सध्यादेवी सूर्य के सुवर्णकलश से अभिषेक कर उस पर चित्रविचित्र मेघमालाओ की पुष्प-राशियाँ चढाती है, उस समय जो अद्भुतरम्य दृश्य दृष्टिगोचर होता है उसकी बराबरी सुबह का दृश्य कैसे कर सकता है?

इन दिनों में पहाडी पर जानबूझकर जाता हूँ सो काजू के पेडो के लिये। बसत की अधिदेवी को आम्रपुष्प अधिक अच्छे लगते होगे शायद। लेकिन उसके आगमन का एलान करते हुए काजू के पेडो पर दीपोत्सव करनेवाली लाल पीली बोडियॉ ही मुझे अधिक अच्छी लगती है। जब यह अधिदेवी सिंहासन पर विराजमान होती है, तब कहीं आम्रवृक्षों के उपहार आगे आते है। काजुओ मे यह व्यवहारिक दूर दृष्टि नहीं है। बसतदेवी की तनिक भी आहट मिलते ही उनके अग पुलकित हो जाते हैं। मुझे लगता है कि फलों के रूप में वे अपने हृदय की बात प्रकट करते हैं। वरना बोडियॉ पर इतनी विलक्षण मोहक ललाई दिखती ही नहीं। थोडे भोथरे भले ही हों, फिर भी वे मदन के ही बाण हैं। है न?

इसी लिये जब मै काजू के वृक्षों से भरी पहाडी पर घूमता हूँ, तब मेरा मन आनद से पूर्णतया भर जाता है। हरे हरे झाड-फानूसो मे चमकनेवाली दीपज्योति की तरह, हरे पत्तों मे से लटक रही पीली बोंडियॉ को देखते समय, तुलसी मंजरी का भी स्मरण नहीं होता। इन पेडों के कोमल पत्ते कितने सुकुमार होते है। जैसे जग मे प्रवेश करनेवाले बालजीव के हाथ की स्निग्ध हथेलियॉ ही हों। किसी सुखी परिवार में रहने आये मेहमान को, उससे विशेष बाते न करे फिर भी क्या मुग्ध आनद का लाभ नहीं होता? काजू के वन मे घूमते हुए मुझे भी वही अनुभव होता है। कितनी सूक्ष्म मधुर सुवास सारे वातावरण मे छाई रहती है इस समय। जैसे किसी प्रणयिनी के अस्पष्ट उद्‌गार 'हुत' की माधुरी ही हो। काजू के पेड का एकाध पत्ता बीच ही मे तोडकर हमारा हाथ उसे मसलने लगे, तो किंचित उग्र परतु मोहक सुगध का ही लाभ होता है। सारे इत्र रद्दी लगते हैं मुझे इस सुगध के आगे।

परतु आज जरूर पहाडी पर घूमते हुए मुझे आनद न आया। रात को एक जासूसी कहानी पढ रहा था इसलिये देर से सोया था। अतएव दूसरे दिन में जल्दी न उठा, यह जानने के लिये उस दिन का मेरी राशि का भविष्य-फल पढ़ने की आप को जरूरत ही नहीं है। सुबह होते ही

पहाड़ी पर चक्कर लगा आने के मेरे नित्य के कार्य-क्रम में नागा हो गया। लेकिन मन मे लगातार कुछ खटक-सी लगने लगी। इसलिये अन्त मे धूप काफी चढ गयी थी, फिर भी मेरे कदम उस ओर मुड ही गये। पहाडी चढना मैंने आरभ किया ही था कि—' बड़ी बडी आवाजे मेरे कानो मे पडने लगीं। आगे बढकर देखता हूँ तो दो कृषक स्त्रियॉ काजू के नीचे खडी हुई जोर जोर से लड रही थीं। शायद धर्म-युद्ध होगा वह। क्योकि मुँह के तोपखाने के सिवाय और किसी भी शस्त्र का वे उपयोग नहीं कर रहीं थीं! अपने काजू चुराने का वे एक दूसरे पर आरोप कर रही थीं। यदि कोई कट्टर मार्क्सवादी मेरे साथ होता, तो इस झगड़े की जड मे जो आर्थिक प्रश्न है उस पर उसने एकदम विदारक प्रकाश डाला होता, इस मे सदेह नहीं। परतु मेरा ध्यान उनकी गालियाँ की ओर ही गया। वे असली गालियाँ दे रही थीं। सहज मे जिन शब्दों को मुँह से निकालने मे उन्हे लज्जा मालूम होती, उन्हीं गन्दे शब्दो का भगवान के नाम की तरह अथवा किसी रणगर्जना की तरह वे बडी बहादुरी से बार बार उच्चारण कर रही थीं!

मेरे भीतर का इतिहास अन्वेषक एकदम जागृत हो गया। गदी गालियॉ का जो विशाल मराठी साहित्य है उसमें मॉ ही नायिका होने का कारण 'न मातुः परदैवतम्।' ही होना चाहिये क्या? मनुष्यों की भावनाओ पर किया सतत आक्रमण उसके देवों, धर्मों और पूज्य व्यक्तियो पर ही किया जाता है। 'जल गया', 'मरा' इत्यादि मामूली शब्दो की उत्पत्ति लगाना सरल था! परंतु 'शिरा पडला त्येच्या घरावर' इस कोकणी वाक्य के मूल की खोज के लिये कोई राजवाडे ही चाहिये, यह मेरे मन ने निश्चय किया। गालियॉ के विषय मे कोशकार, लेखक इत्यादि लोग पाठको पर बडा अन्याय करते हैं। बचपन मे बार बार सुनी किसी चुनिंदा गाली का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये मैंने अपने एक आनेवाले क्षणभगुर अग्रेजी कोश से लेकर अमरकोश तक सारी भाषाओ के कोशो के पन्ने उलट मारे। परतु सभी बेटे पक्षपाती निकले! व्यवहार में जीवन भर भी जिनका कोई उच्चारण नहीं करता ऐसे शब्दों

का आदर-सत्कार उन्होने बडी तत्परता से किया था। लेकिन जिन शब्दो की हर रोज़ सैकडो लोगों को जरूरत पडती है उन शब्दो के लिये अवश्य उनके घर में पूर्ण मनाही थी। दुनिया के उल्टे न्याय का बचपन मे ही ऐसा विलक्षण कटु अनुभव हो गया था मुझे।

कहते हैं किसी राज-परिवार मे एक इतना बडा हीरा है कि उसका बीमा करने के लिये दुनिया की एक भी कम्पनी तैयार नहीं है। सारे कोशो की अपनी अपनी भाषाओ की असली चुनिदा गालियाँ के बारे में कदाचित यही भावना होगी। किसी सभ्य कोशकार को शायद यह भी डर लगता हो कि इन शब्दों की सुहबत से कोश के दूसरे पवित्र शब्द भी भ्रष्ट हो जायेगे। अन्वेषक की हवा कम होते ही मेरी भी थोडी इसी तरह की दशा हो गयी। जिस रम्य काव्य का आस्वाद लेने के लिये मै पहाडी पर आया करता था, उससे वे बीभत्स गालियाँ कितनी असगत थीं। अजी, आखिर गालियाँ के लिये भी तो कोई समय होता है। ठड मे जब घना कोहरा छाया था, निष्पर्ण वृक्षो पर कौए काव काव कर रहे थे क्या उस समय भी उन वृक्षो के नीचे खडे होकर इन औरतो को लडना चाहिये था? परतु ऐसे रमणीय समय में जब कि गद्य-प्रिय मनुष्य के मुँह से भी 'वसत ऋतु आयी आयी' पक्ति बाहर निकलती है, क्या गदी गालियाँ देते रहे? और वे भी सीधी-सादी नहीं, बिलकुल असली? वर्डस्वर्थ जो यह कहता है, वह झूठ नहीं – 'मनुष्य ने ही दुनिया की इन्सानियत को मार डाला है'। कोई बन्दर अपने हाथ मे रखे रत्न को बेकार समझकर दूर फेक दे, उसी तरह अपने आसपास फैले हुए मधुर काव्य की ओर मनुष्य प्राणी जानबूझकर ध्यान नहीं देता और दुःखी होता है।

'क्या, गालियाँ काव्य नहीं है?' – मैने कभी नहीं सोचा था कि मेरे मन में इतना विचित्र प्रश्न खडा हो जायेगा! लेकिन मनुष्य के दो मनों में से जो नटखट है, उसे कभी कभी इस तरह की कोई बात पूछने की सनक जरूर आ ही जाती है। न जाने स्वच्छद और असभ्य मन को ही क्या नीति-वेत्ता सदसद्विवेकबुद्धि कहते है? लेकिन मेरे स्वच्छद मन का यह प्रश्न

विलक्षण भले ही हो, फिर भी पागलपन का निःसदेह न था। काव्य का अर्थ होता है उत्कट भावनाओ का प्रदर्शन! गालियाँ का भी आखिर दूसरा और क्या मतलब है? क्रोध का पारा जब बताता है कि मन जाकोबाबाद हो गया, क्या तभी असली गालियाँ मुँह से नहीं निकलतीं? चाय पीते वक्त, टेनिस खेलते समय, मोटर से सफर करते समय मन के विरुद्ध कुछ हो जाय, तो उस समय एक सौम्य-सी गाली सभ्य मनुष्य के मुँह से कभी कभी बाहर निकल पडती है। लेकिन कभी कभी अच्छा गवैया भी जरा बेसुरा हो जाता, उसी तरह की बात है यह। गालियों की मूसलधार वर्षा होने के लिये, मनुष्य के मन पर पहले ग्रीष्म ऋतु छा ही जानी चाहिये, यह निसर्ग का नियम है। और उसी तरह देखा जाय, तो क्या गालियों मे ही वीररस का उद्गम नहीं है? हम पर हुए अन्यायों का खुल्लमखुल्ला प्रतिकार करने का पहला मार्ग दूसरों को गालियाँ देना है।

यह सब होते हुए भी बचपन से बालको को 'गाली कबहुँ न दीजिये' सिखाया जाता है। पहाडी पर मेरी सौन्दर्यसमाधि को भग करनेवाली उन मुँहफट औरतों पर मुझे जो क्रोध आया, उसका कारण बचपन मे मेरे मन पर पडे ये सस्कार ही थे! लेकिन गालियाँ न देकर गुस्से को मन-ही-मन पी जाना भी क्या अच्छी बात है? जब लोग कहते है कि अमुक मनुष्य बडा शान्त है, तब तो मुझे उससे भय ही लगता है। इस बाहर से सुदर दिखनेवाली हरियाली के नीचे कितना बडा ज्वालामुखी जल रहा होगा और उसका कब विस्फोट हो जायेगा, इसे कौन कह सकता है? यह देखकर कि मेरे एक सुशिक्षित मित्र अपनी पत्नी पर जरा भी नाराज नहीं होते, मुझे बडा आश्चर्य हुआ करता। ऐसा देवतापुरुष — देवतापुरुष कहना भी उसका अपमान करने जैसा था! क्योंकि अपनी पत्नी को किसी न किसी रूप में जिसने तग नहीं किया अथवा उस पर अपने स्वामित्व का शासन नहीं चलाया, ऐसा देवो में भी कौन है? एक दिन उसकी पत्नी मेरी पत्नी से आयोडीन माँगने आयी, तब मुझ से उस शान्त सागर मित्र की पहेली हल हो गयी। यह सच है कि इस सागर को खड़खडाहट पसद न

थी ! परंतु उसकी वसूली वह नौका को अचूक चट्टान पर टकराकर कर लेता था। मेरे ये मित्रमहाशय स्वामी रामदासजी के भक्त है। इसलिये ' क्रियेवीण वाचाळता व्यर्थ आहे '[१] वाली उक्ति को आचरण मे लाना वे घर से ही प्रारभ करें, तो आश्चर्य क्या है ? दान की तरह तत्त्वज्ञान को भी अपने घर से क्रियान्वित करना ही प्रामाणिकता का लक्षण है।

मेरे मित्र आधुनिक मनुष्य होने के कारण, हम उनकी बात छोड दे और देखे कि पूर्व-काल के हमारे ऋषि जिनके शान्तिब्रह्म होने की बडी प्रसिद्धि थी, वे भी आखिर क्या करते थे ! आजकल के कईएक अखबारों की दूसरे की बदनामी करके बिना शर्त माफी मॉगने की जिस तरह आदत पड गयी है, उस तरह पुराने जमाने मे अनेक ऋषियो को शाप और उःशाप देने के आगे परमेश्वर का स्मरण भी न होता था। शाकुन्तल के दुर्वासा की ही बात लीजिये। हजरत भिक्षा मॉगने के लिये कण्व के आश्रम मे आये। गोया एकादशी के घर शिवरात्रि आयी। खैर, जब शकुन्तला का ध्यान उनकी ओर न गया, तो यह सोचकर कि लडकी बहरी होगी, उन्हे कम से कम जरा जोर से चिल्लाना तो था। बहुत ही होता तो उसके समीप जाकर उसे सस्कृत में दो गालियॉ सुना देते ! लेकिन अरण्य में तपस्या करते समय भीतर-ही भीतर पी लिए हुए ऋषि के क्रोध को इतना भान रहे कहॉ से ? मारा जनाब ने एक शाप और चल दिये अपना कमडल उठाकर !

यह दिखाने के लिये कि मराठी भाषा कितनी सूक्ष्म है, उसका ' शिव्याशाप '[२] उदाहरण के स्वरूप सचमुच पेश करने लायक है। शाप का अर्थ क्या देवभाषा में दी गयी भयकर गालियाँ ही नहीं होता ? और शाप देनेवाले ऋषियों के प्रति हमारा आदर यदि कम नहीं होता, तो गालियाँ देनेवाले मनुष्य की ओर हमारा तुच्छता से देखना क्या उचित होगा ? ' गरजता है, वह बरसता नहीं है ' वाली कहावत पर अगर हम विचार

१ ' बिना क्रिया के बकबक करना व्यर्थ है।'

२ गालियों के लिये शब्द।

करे, तो हमे सहज ही यह दिखाई देगा कि गालियॉ देने को उत्तेजन प्राप्त होना ही आवश्यक है। गालियो के रूप में मन की उष्णता बाहर निकल जाने पर ज्वर के बाद जिस तरह तबीअत ठीक हो जाती है उसी तरह मनुष्य का मन भी शान्त नहीं, बल्कि प्रसन्न हो जाता है। कुछ लोगो में तो यह प्रतिक्रिया इतनी विलक्षण होती है कि दूसरो को गालियॉ देने के लिये तुरत ही ये लोग स्वय अपने को ही गालियॉ देने लगते हैं। न्युमोनिया का ज्वर उतरते समय नॉर्मल के नीचे जाता है न? उसी तरह है यह!

'गाली कबहुँ न दीजिये' का तत्त्वज्ञान यदि दुनिया सचमुच अमल मे ले आती, तो प्रत्येक देश में हत्याओ की संख्या सौगुनी बढ जाती। यही नहीं, बल्कि एक महायुद्ध समाप्त होने से पहले ही दूसरा महायुद्ध आरभ होता रहता। प्रेम से रहनेवाले परिवारो और प्रेम मे रग जानेवाले दम्पतियॉ के सुख का अधिकाश श्रेय उच्चारित और अनुच्चारित गालियॉ को ही देना पडेगा। यदि कल एक ऐसे लाउडस्पीकर की खोज हो जाये जो मन में लगकर मन की बात खोल सके और उसे रिस के कारण मौन पति पत्नी के अथवा पिता-पुत्र के मन में लगाया जाय, तो उनके कानों मे पडनेवाले परस्पर उद्गारों को सुनकर उन लोगो के होश गायब हो जायेंगे। उसी तरह यह कहने की ज़रूरत नहीं कि यदि वह लाउडस्पीकर पत्नी अथवा पुत्र के हाथ पड जाय, तो उन्हे भी ठीक वही अनुभव होगा! मुझे लगता है, इस अनुभव की पहली खुराक भले ही कडुई हो, पर आखिरी खुराक मीठी ही होती होगी। मनुष्य-देह की दृष्टि से जग आज इक्यासी करोडो का समावेश करने योग्य विशाल भले ही हो गया हो, फिर भी मनुष्य-स्वभाव की दृष्टि से एक से अधिक मनुष्य के लिये पृथ्वी अपर्याप्त ही होती है। नौ महीने तक एक जीव मॉ-बेटे मे, अथवा मधुर मिलन के कारण एकजीव हुए प्रेमी दम्पति मे भी कालान्तर मे असगतता उत्पन्न हो ही जाती है! बर्तन से बर्तन टकरावे, तो आवाज होगी ही अथवा पत्थर से पत्थर घिस जाय, तो चिनगारियाँ निकलेगी ही। फिर अगणित भिन्न स्वभावोवाले जग मे यदि मनुष्य के मुँह से कभी एकाध बार गालियॉ निकल पड़े, तो क्या यह स्वाभाविक ही नहीं है?

मनुष्य को सुसस्कृत करने के उद्देश्य से जिन अनेक निषेधों का जन्म हुआ है उनमें 'गाली कबहुँ न दीजिये' भी एक है, यह मैं भी मानता हूँ। परतु क्या इस निषेध की मर्यादा, लक्ष्मण ने सीता के लिये जो मर्यादा की रेखा खींच दी थी, उसके बराबर सकुचित होना इष्ट है? गुलाब के पेड से कॉटे हटाकर बिना कॉटेवाले गुलाबों की इच्छा करनेवाले के पल्ले क्या पडेगा, यह तो एक छोटा बालक भी कह सकेगा। क्या, काम-क्रोधादि विकारों के विषय में हमारे सामाजिक और वैयक्तिक निषेध इसी तरह नहीं है? काम-क्रोधादि विकार हमारे षड्रिपु है। मुझे लगता है वे हमारे मित्र ही हैं। इन छ: मित्रो में इतना ही दोष है कि उनमे से हरएक स्वच्छद है। लेकिन गवैया, कवि, चित्रकार इत्यादि कलाकार, अथवा वायुलहरियाँ, पक्षी, बालक इत्यादि निसर्गदेवी के लाडले बच्चे, स्वच्छन्द और सनकी होते है, तो क्या उन्हे कोई दूर भगा देता है? इसके विपरीत उनकी सगति के लिये हम बिलकुल ललचाये ही रहते हैं। हैं न?

काम-क्रोधादि को मैने मनुष्यो के मित्रो मे शामिल कर दिया है, इसलिये अनेक नीति-भक्त मेरी ओर सशक दृष्टि से देखने लगेगे। इन लोगो का यही ख्याल होगा कि 'मन को रोको', 'सयम रखो' आदि मत्रो के पुराने छाप के बडे बडे विज्ञापन यदि जीवन के हर मोड पर न लगा दिये जाये, तो मनुष्य की पशुवृत्ति प्रोत्साहित होगी और प्रत्येक देश को दण्डकारण्य का स्वरूप प्राप्त हो जायेगा। उनके दिमाग मे कभी यह कल्पना भी आ गयी होगी कि आकाश में घूमनेवाले ग्रहो की एक दूसरे से टक्कर न हो जाय, इसलिये उन्हे जजीर से बॉधकर रखना चाहिये। उन बेचारो की समझ मे यह भी नहीं आता कि स्वच्छन्दता के बिना सयम का कोई मतलब ही नहीं है। मोटर स्टार्ट हुई है तभी उसे ब्रेक लगानेवाले को सफर की झझट मे ही न पडना चाहिये। 'गाली कबहुँ न दीजिये' वाले हितोपदेश से लेकर, 'परायी स्त्री की ओर न देखो' वाले उपनिषद तक इतने नकार मनुष्य के कानो मे पडते रहते है कि वह यह समझने लगता है कि दुनिया के ग्रथ में नन्ना के पहाडे को छोड़कर और

कुछ है ही नहीं। नकारो के इतने घाव खाकर तैयार हुए कृत्रिम देव से नैसर्गिक मनुष्य ही क्या अधिक आनददायक नहीं है?

मैं यह जानता हूँ कि इस ख्याल से कि अब मै देव पर ही फिसल गया हूँ, नकारवाले नीति-भक्त मुझे एक ही नमूने कि गालियाँ देने लगेगे। उनकी गालियों का मै प्रेमपूर्वक स्वागत करता हूँ। उन गालियो के कारण ही मेरा यह विश्वास है कि मेरी उनसे जब आमने-सामने भेट होगी, तब मुझे मार नहीं पडेगी।

● ● ●

१८

दो मेहमान

'क्यों, भाऊ?'

आरामकुरसी से मैंने मुड़कर देखा। दस साल पहले का एक जिगरी दोस्त मेरा पता लगाता हुआ इस गॉव मे आया था। उसे देखते ही क्षण-भर मुझे इतना आनद हुआ कि कुछ न पूछिये। जैसे किसी खिलाडी लडकी की गुमी हुई गुडिया ही उसे मिल गयी थी।

दस वर्षों का एक दूसरे का हाल पॉच मिनट की पूछताछ मे समाप्त हो गया, और रमणीय सायकाल की चहक के बाद भयानक रात की शान्ति आ जावे, उस तरह हमारा सभाषण एकदम बद हो गया। किसी को भी यह नहीं सूझता था कि आगे क्या कहे। हम दोनों दस वर्ष पहले एक दूसरे के गले मे बाहे डालकर घूमनेवाले मित्र थे। हमारी भेट के बाद दस बारिशें आकर चली गयी थीं! वैसे देखा जाये तो हमे यह कहने का मौका आना था कि रात खत्म हो गयी, पर हमारी बाते खत्म न हुई। लेकिन—

लेकिन क्या? यौवन के दस वर्ष यानी कोई सहारा की मरुभूमि का प्रवास नहीं है। आकाक्षाओं के हिमाच्छादित पर्वत, आशा की रमणीय

वनश्री, और कर्तृत्व के फलपुष्पों से सजे हुए प्रदेश का वह पर्यटन — इसके बावजूद हमारे सभाषण की अडी हुई मोटर आगे न बढती थी। जल और वायु के बिना मनुष्य जिंदा नहीं रह सकता, इस सत्य का अनुभव मनुष्य को इसी समय होता है। परतु जलवायु की बाते भी करें, तो आखिर करेगे कितनी देर? यदि रटा हुआ पूरा स्वास्थ्य-विज्ञान भी सुना डाले फिर भी दो घटे से अधिक समय न लगेगा। मेरा मन एक अजीब-सी घुटन मे पड गया। क्षण-भर लगा—

गत दस वर्षो मे मैने किया क्या? बारिशो की क्या बात, उन्हें तो मेढक भी देखते है, लेकिन फसले किसान ही काटते हैं! क्या, मनुष्य का जीवन स्वप्न के समान ही नहीं है? स्वप्न देखते समय हम उसमे कितने खो जाते है। लेकिन जागे कि बस खत्म! सारा इन्द्रजाल! जैसे इन्द्रधनुष्य गल जाय, उसी तरह वह स्वप्न लुप्त हो जाता है; बहुत ही हुआ तो उसकी धुँधली-सी याद बनी रहती है। मै अपने काम में इतना निमग्न रहनेवाला मनुष्य हूँ कि मुझे इसका पता ही नहीं रहता कि दिन कब निकला और कब डूब गया! और मेरे सामने यह समस्या खड़ी हो जावे कि दस वर्ष के बाद मिलनेवाले अपने मित्र से क्या बाते करूँ?

सच तो यही है कि मानवी जीवन एक दैनिक समाचार-पत्र है। प्रत्येक नया दिन उसका एक ताजा अक है। उसे उत्सुकता से खोलना और उलटना—पलटना! दूसरा दिन निकलने पर पहला अक चला बनिया की रद्दी में! चार दिनो के बाद यह बताने के लिये कि उसमे क्या था कोई इनाम रखे, तो वह मुझे मिलने की आशा नहीं। वह अक कोई कालिदास का 'शाकुन्तल' अथवा इब्सेन का 'गुडिया का घर' नहीं कि कितने ही वर्षो के बाद याद आवे, फिर भी उनके शब्द-चित्र पूर्णतया स्पष्ट रूप से दिखाई दे।

दोनों के मुँह पर ताले पडे देखकर मैंने अनेक विषयों की तालियाँ लगाकर देखीं। ताली थोडी घूमती तो आशा होती कि अब ताला खुलता है। लेकिन कहते हैं न, कि आशा कौसल्या है और निराशा कैकेई है। इसका भी अनुभव तुरत ही हो जाता। कहीं की भी ताली इन तालों को

न लगती थी। मेरा पेशा शिक्षक का, इस मित्र का व्यापार का! हिन्दू मुसलमान की एकता के बराबर ही इन दोनों धधों मे साम्य! साहित्य से तो वे गोरख ककड़ी की तरह नफरत करते थे। यह सोचकर कि दोनों को स्पर्धा की रुचि है मुझे क्षण-भर आनद हुआ था। लेकिन उनकी रुचि थी हॉर्स-रेसो की और मेरी थी मनुष्यों की। सृष्टि सौन्दर्य के विषय में भी यही स्थिति! हम दोनो शाम को पहाड़ी पर घूमने गये। आकाश की चॉदनी की ओर देखकर उन्हें बबई के विद्युद्दीपो की याद हो आयी और दूर के दीपगृह के घूमनेवाले दीये की ओर देखकर वर्षा मे जगमगानेवाले जुगनू मेरी ऑखों के सामने नाचने लगे। हमारी सारी बाते इतनी दिखावटी और शिष्टाचार की हुई कि स्वय मुझे ही यह बात सच नहीं लगती थी कि दस साल पहले हम दोनों घटो बैठे गप्पे हॉका करते थे।

स्थिति मे इस अन्तर को ला देनेवाले काल पर मुझे बेहद क्रोध आया। यह क्रूर ब्रह्मसबध साम्राज्य की तरह मित्रो को नष्ट कर देता है, नगरों की तरह हृदयों को भी वीरान कर देता है और इमारतों की तरह भावनाओं को भी मिट्टी मे मिला देता है। यदि कोई मुझ से काल का चित्र बनाने के लिये कहे तो मेरे मन में यह कल्पना आवेगी कि एक सुंदर उपवन बनाऊँ और उसमें हाथ में कुल्हाड़ी लिये काल की क्रूर मूर्ति दिखाऊँ अथवा ऐसा दृश्य रगकर दिखा दूँ कि रम्य वनश्री से मोहित पक्षी गा रहे है और वहीं मुँह से ज्वालाएँ उगल रही काल की भीषण आकृति विचरण कर रही है। काल सागर भले ही हो, किन्तु उसकी लहरों का दो प्रिय जहाजो को दूर ले जाने के अलावा दूसरा क्या काम है? इस मेहमान को बिदा करते समय तो उसकी यह निर्दयता मुझे इतनी तापदायक लगी कि उसने मेरी ओर देखते हुए 'अच्छा, तो अब चलता हूँ' कहकर जो हास्य किया, वह मुझे विकराल काल के बिकट हास्य की तरह लगा, और 'अच्छा, ठीक है' उद्‌गार निकालते हुए मैंने उसे नमस्कार किया! शायद 'कालाय तस्मै नमः' मत्र कहते हुए ही मैंने वह नमस्कार किया होगा!

इस उक्ति का रहस्य कि पुस्तकें ही हमारी मित्र हैं, इस समय मैंने

जाना। सहस्र-रजनी-चरित्र नामक पुस्तक से किसी समय मुझे कितना प्रेम था! मौत की गुफा में घुसकर हँसता हुआ बाहर आनेवाला वह सिंदबाद जहाजी, एक ही रात में राजमहल बना देनेवाला वह अलादीन, हुक्म मिलते ही फौजी सिपाही की तरह खुलने और बंद होनेवाली वह चालीस चोरों की गुफा – ये सब बातें उस समय स्वप्न मे भी मुझे दिखा करती थीं। लेकिन आज किसी छोटे बालक को यह आशा न करनी चाहिये कि मेरी लाइब्रेरी के मोटे मोटे ग्रथों मे वह पुस्तक उसे मिलेगी। यदि पगली आशा से वह कोई मोटी किताब उठा ले, तो 'गाल्सवर्दी के नाटक', 'शब्द रत्नाकर' अथवा 'रूसी कथाओं का संग्रह' उसके हाथ लगेगा।

सहस्र-रजनी-चरित्र का स्मरण होते ही मैंने जरा छुटकारे की साँस ली। मित्र और पुस्तक – सचमुच, कितनी मार्मिक तुलना है यह? हम जिस अकलिपि से सीखे, उसे कोई सुरक्षित रखता है क्या? लगोटिया दोस्त इस अकलिपि वर्ग के होते है। अगर कभी मिल गये तो सराहना भरी दृष्टि से उन्हे देखना और क्षण-भर उनसे बाते करना – इतना ही उनका सबध। अग्रेजी शाला की किताबें भी हमारे पास कहाँ रहती है? परीक्षा के वक्त परब्रह्म लगनेवाली वे किताबें! लेकिन 'पास' शब्द कानो मे पडते ही हम उन्हे नीचे की कक्षा के लडको को दे ही डाला करते थे न? फिर हम जिन्हें मित्र कहते है, उनमे से बहुतो की यह गत हो जाय, तो अचभा कैसा? आज जो हमारा जिगरी दोस्त है, कल वह दूसरे का दोस्त होगा ही। हमारी प्रिय पुस्तके चोरी चली जाती हैं। कुछ मित्रों के विषय में क्या यह भी अनुभव नहीं होता? हम 'क' का 'ग' से परिचय करा दे। लेकिन आगे चलकर 'क' और 'ग' में इतनी घनिष्ठता हो जाती है कि हमे ही वे 'घ' मानने लगते हैं।

पुस्तकों और मित्रो के बीच इस तरह साम्य देखने मे मैं खो गया था तभी मेरे मन को धक्का देकर एक विचार निकल गया। बहुत सी कीमती पुस्तके रद्दी बाजार की राह पकड़ती है। मित्रों के बारे में भी यही होता है क्या? दूर के उदाहरण की क्या ज़रूरत? वर्षों के बाद मिलनेवाले

अपने मित्र से मैं खुलकर अधिक न बोल सका। पहले मेरा मन अशर्फियों से उसकी कीमत आँका करता था! आज ज़रूर अधन्ने से ऊँची उसकी कीमत न चढी। सच! ससार यानी रद्दी बाज़ार! और काल उसी रद्दी बाजार का मालिक!

काल को प्रणाम करने के लिये मैंने अपने हाथ आधे-से ऊपर उठाये, लेकिन उस प्रणाम को स्वीकारा एक अपरिचित मनुष्य ने! कौन है ये महाशय? मेहमान या काल? हाथ मे रखे बोरिया-बसना से वह मेहमान ही सिद्ध हुआ। दुआ-सलाम के बाद उसने मुझे एक परिचय-पत्र दिया। मेरे किसी एक विद्यार्थी ने वह दिया था। वे मुझे अपनी कविताएँ दिखाने पधारे थे।

और मेरे उस पुराने विद्यार्थी पर से बाते निकल पडीं। उसने उसका आजकल का हाल कहा। जिस समय वह मेरा विद्यार्थी था उस समय की उसकी कई दिलचस्प बाते मुझे याद हो आयी। उसने मुझ पर श्लेष रचा था उसे कहे बिना मुझ से नही रहा जाता था। वह मेरे विषय मे कहा करता था – 'मास्टर साहब को छडी कभी नहीं लेनी पडती। जरूरत ही क्या है उन्हे? जरा उनकी मूर्ति का मुलाहजा कर लीजिए। खासी साढे पॉच फूट की छडी है। और जीभ के सिरे से वह सपासप काम करती है। फिर—' मेरी बात खत्म होने से पहले ही मेहमान बोल उठे, – 'अजी साहब, आज भी वही हाल है उसका। उसका एक मामा है। बडा धनी है। शायद आप उसे जानते ही हो। उस मामा को लगता है कि मेरा भाजा बुद्धिमान् है। उसे आगे आना चाहिए – कुछ काम कमाना चाहिए। कुछ दिन पहले दोनों की इस विषय पर बहस छिडी हुई थी। भाजे ने कहा,–'मामा, बडप्पन क्या सडक पर पडा है?'

मामा का उद्योग विषयक पठन-पाठन स्माइल्स की पुस्तक से लेकर 'किर्लोस्कर'[१] के ताजे अक तक था। उन्होने तुरत उत्तर दिया,– 'बडा होना वैसे कोई बड़ा कठिन नहीं, 'Where there's a will, there's a way' भाजे ने कहा,–'यह जरूर सच है, मामा! Where

१ मराठी भाषा का एक प्रसिद्ध मासिक-पत्र।

there's a will there's a way आप जैसा अमीर मामा यदि मेरे नाम से 'वुइल'[1] कर दे, तो बडप्पन की राह मुझे बात-की-बात मे मिल जायेगी !'

इस श्लेष पर हम दोनो ही हँसे। जब बाढ आती है तो जमीन के ऊँचे-नीचे भाग डूबकर अदृश्य हो जाते है। मुझे लगता है हँसने से भी मन मे इसी तरह का परिवर्तन हो जाता है। हँसने का आवेश कम होने पर उसने मुझे अपनी कविताएँ सुनायी। मुझे लगा उसके मधुर स्वरों के सागर मे मै तैर रहा हूँ। शाम को उसे लेकर मै पहाडी पर घूमने गया। धीरे धीरे अँधेरा होने लगा। नारियल के हरे बगीचे काले से जगल की तरह दिखने लगे। उनके भीतर से टिमटिमानेवाले एक दीये की ओर देखते हुए मेहमान ने कहा,—'कितना भद्दा दिख रहा है वह नीचे का दीया! ऊपर की इन तेजस्विनी तारिकाओं की ओर देखे तो ऐसा लगता है कि भगवान यदि गगनचुम्बी पर्वत निर्माण करता तो अच्छा होता। उस पर चढकर यदि इन तारिकाओ के पास जा सकते तो—'

'फिर भी मुझे यह नीचे का दीया ही अधिक अच्छा लगता है।'—मैंने उत्तर दिया।

'वह क्यों?'

'वह मेरे घर का है इसलिये। मुझे पहाडी से लौटने में जब देर हो जाती है, तब चिन्ता करनेवाली मेरी पत्नी इस भद्दे दिखनेवाले दीये के पास हमेशा बैठी रहती है।'

उस दिन रात को बातें करते करते सुबह कब हो गयी इसका हमें पता ही न चला। साहित्य, समाज, ईश्वर जो भी विषय मिल जाता, उस पर हम बाते कर रहे थे। दो छोटे लडके जब मैदान में खेलने लगते है, तो उनकी जो स्थिति होती है वही हमारी हो गयी थी। आधी रात को गप्पों में निमग्न हुए हमें दोनो की ओर देखकर, कोई भी यही समझता कि ये लोग कम से कम दस-बीस वर्षों के जिगरी दोस्त होंगे।

१ वसीयतनामा।

दूसरे दिन जाते समय मेहमान बोले,–' आप अपने स्वास्थ्य की जरा अधिक चिन्ता किया करे। ' दूसरे का ठडा हाथ अपने हाथ मे लेते ही ज्वरग्रसित को क्षण-भर के लिये जिस तरह अच्छा लगता है, उस तरह इन शब्दों से मुझे आनद हुआ। उसका यह कहना शायद दिखावटी अथवा शिष्टाचार ही हो। लेकिन दस साल पहले का मेरा जिगरी दोस्त मेरे स्वास्थ्य के विषय मे एक अक्षर भी न कहे और कल ही जिस की सूरत मैंने प्रथम बार ही देखी, वह मनुष्य उसके विषय में अधिक आस्था दिखाय! थोडी आश्चर्य की बात ही नहीं है क्या यह?

लेकिन उसमे आश्चर्य भी कैसा? यह चमत्कार भी क्या काल ही के द्वारा नहीं लाया गया है? पिछले दस सालों में मेरा जीवन एक विशिष्ट रीति से व्यतीत हुआ, इसलिये यह नया मेहमान मुझ से बात-की-बात में एकरस हो सका। काल-सागर की लहरे पुराने जहाजो को दूर ले गयीं, यह सच है; लेकिन उसने क्या नये की भेट नहीं करा दी? काल का स्वरूप निरा विध्वसक नही है, वह विधायक भी है। भूत-पिशाचो के दल में नररुंड-माला धारण करके नृत्य करनेवाले शकर काल के गुरु नहीं हैं। एक हाथ में सुदर्शन-चक्र और दूसरे हाथ में पद्म को हँसते हँसते खिलानेवाले विष्णु का ही वह शिष्य अधिक शोभा देता है।

और मुझे लगा – काल सच्चा सुधारक है। दाई हाल ही मे जन्मे बच्चे का नाल काट देती है। परंतु यह कटाई प्राण-रक्षा के लिये ही होती है। है न? काल की क्रूरता भी इसी प्रकार की है। वह हत्या नहीं करता, शल्य-क्रिया करता है। उसकी एक ऑख में गरमी की ऋतु भले ही हो, लेकिन दूसरी में वर्षा ऋतु है। दुनिया के बाग के उस माली के कमर में चमकीली कुल्हाडी भले ही चमकती हो, फिर भी उसके हाथ में पानी का हजारा है। ' कालाय तस्मै नमः ' उद्‌गार निकालते समय यदि उस हजारे की ओर ध्यान दे, तो किसी के भी मुख से यही शब्द निकलेंगे कि, काल राक्षस नहीं, बल्कि देवपुरुष है।

• • •

१९

संकेत

बिलकुल झल्लाकर ही उठा मै बिस्तर से ! ऑख लग ही रही थी तभी किसी भौंरे ने मेरे कमरे में प्रवेश कर अपनी 'घरघर' शुरू कर दी थी ! भौरे की आवाज को 'गुजन' कहकर पहली बार सबोधित करनेवाला कवि काफी बहरा रहा होगा, ऐसा मेरा विश्वास हो गया। मेरी मसहरी पर आकर जब उसने अपना सगीत आरभ किया, तब मुझे तो यही भ्रम हुआ कि कोई हवाई-जहाज नीचे उतर रहा है।

मेरी ऑखे बिलकुल अलसा गयी थी – और इस ग्राम्य ग्रामोफोन के बन्द होने के कोई आसार नजर नहीं आ रहे थे ! झट-से उठा, झाडू प्राप्त की और भृगराज का पीछा करके उसे यमधाम पहुँचा दिया। इस आशा से कि अब शान्ति से सो जाऊँगा, मै जाकर बिस्तर पर पड रहा। लेकिन निद्रा प्रीति और कीर्ति की सगी बहन है। जमानेभर की सनकी ! मैने ऑखमिचौनी खेलना शुरू किया, तो वह लुका-छिपी खेलने लगी।

एक करवट से दूसरी करवट पर आते हुए एकदम कुछ समय पहले के उस भौंरे की मुझे याद आयी। लगा, उस गरीब को व्यर्थ ही मार डाला मैने ! इससे तो यदि मै ही कानों में चीथडों का गोला ठूंसकर

सो जाता, तो कम से कम अहिंसा-व्रत के पालन करने का श्रेय मुझे मिल जाता। मैने भौंरे को मार डाला – यह एक ही बात कल यह सिद्ध करने के लिये काफी हो जायेगी कि काव्य को उतार आ गया है। इतना बहादुर राजा दुष्यत! लेकिन शकुतला को तग करनेवाले भौंरे को मारने के लिये उसके हाथ आगे न बढे! इसके विपरीत दुष्यन्त का प्रमाणपत्र लेकर यदि वह भौंरा कहीं भी चला जाता, तो उसे फौरन नौकरी मिल जाती। क्योंकि कभी कभी इन्द्र की भी सहायता के लिये जानेवाला पराक्रमी दुष्यन्त उसे इस तरह का शरण-पत्र लिख देता है—

' वीरा भ्रमरा, जन्मुनि सार्थक केलें तूं या जगीं।
बसलों विचारांत आम्हि उगीं॥ '[१]

शायद मेरे कमरे में आया हुआ भौरा, दुष्यन्त की कृपा से कण्व के आश्रम में जीवित रहे हुए भौंरे का ही औरस अथवा दत्तक वंशज न होगा, यह कैसे कह सकते है? दुष्यन्त की ही बात क्यो ली जाय? सारा सस्कृत काव्य-साहित्य देखिए। भौरो के विपुल उल्लेख के कारण किसी को भी उसे उद्यान की उपमा देने का मोह उत्पन्न हो जायेगा। खैर, एकाध कवि को भी कसम खाने के लिये कम से कम एक श्लोक मे तो यह कह देना था कि भौंरा त्रासदायक होता है! लेकिन नहीं! सारे संस्कृत कवियों का इस भौंरे से जैसे अध-प्रेम ही है!

' रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्
भास्वान् उदेष्यति हसिष्यति चक्रवाकम्।
कोशंगते मनसि चिन्तयति द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनी गजमुज्जहार॥ '[२]

१ ' हे वीर भ्रमर, इस दुनिया में जन्म लेकर तुमने अपना जीवन सार्थक कर लिया। और हम यहॉ व्यर्थ ही विचारो मे बैठे हुए है। '

२ किसी हिन्दी कवि ने इस पूरे श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया है—

' बीते निशा समय भोर अवश्य होगा।
आदित्य देख बन पकज का खिलेगा॥
यो कोश भीतर मधुव्रत सोचता था।
कि प्रात मत्त गज ने नलिनी उखाड़ी॥ '

इस श्लोक को ही देखिए। कमलिनी मे फँसे इस श्लोक के भौंरे को क्या यह नहीं मालूम था कि कमल शाम को सिमट जाता है ? दिन डूब गया, फिर भी यह मूर्ख वहाँ रहा किस लिये ? इस भृग के उदाहरण से कुछ इस प्रकार का सनातन सार निकलते हुए भी कि मोह इसी तरह सर्वनाश का कारण होता है, इस श्लोककार ने उसे बिलकुल शहीद बना डाला है ! क्या, यह बात इसी तरह की नहीं है कि जेल से छूटनेवाले किसी चोर का देशभक्त की तरह स्वागत हो।

विक्रमोर्वशी मे ऊर्वशी के विरह में पागल हुआ राजा भौंरे से उसकी (ऊर्वशी की) जानकारी पूछता है और वह भी कितने अदब से ! हस से वह कहता है – 'हस प्रयच्छ मे कान्ता'। लेकिन भौंरे को देखते ही महाशयजी नर्म पड जाते हैं। 'मधुकर मदिराक्षाः शस तस्याः प्रवृत्तिम।' और कहते हैं – 'तुमने यदि उसे देखा होता, तो इस कमल पर तुम आसक्त ही न होते'। तीसरा एक कवि भौंरे से कहता है—

'अपसर मधुकर दूरं परिमलबहलेऽपि केतकी गन्धे।
इह नहि मधुलवलाभोऽस्ति—।'

देखिए, पहले सुगधी केवडे की निन्दा और वह भी एक काले, कर्णकटु आवाज करनेवाले विचित्र प्राणी के लिये ! फौजदारी वकील भी ऐसी बात करने के लिये तैयार न होगा ! और यह भावना की शेखी बघारने-वाला प्रतिभावान कवि दरिद्री भौंरे पर पद-पद पर स्तुति के सुमन बरसाए ! बेचारे के कभी ध्यान में भी न आया होगा कि इन सुमनों का मधु समाप्त होते ही ये भौंरे फिर उनकी ओर ढूककर भी न देखेंगे !

सस्कृत कवियों की इस भृग-भक्ति का कम से कम मुझे तो एक ही कारण दिखता है – सकेत-प्रियता, बिलकुल अध-अनुकरण ! किसी एक कवि को किसी समय भौंरे का गुजन अच्छा लगा और उसकी कमल पर की आसक्ति उसे सराहनीय लगी ! बस हो गया। फिर भौंरा चाहे काला होता है या गोरा होता है, उसका सगीत ठुमरी की तरह लगता है कि तराने सरीखा लगता है, सुदर और चतुर प्राणी की हैसियत से कम से कम

प्राणि-सृष्टि मे भी उसका कोई विशेष मूल्य है या नहीं — इसकी पूछताछ कौन करता है ? सब कवियों ने भौंरे के यश-गीत गाना शुरू कर दिया। जैसे जैसे भौंरे का काव्य मे अधिक उल्लेख होने लगा, वैसे वैसे वृत्त, कल्पना और भावना की तरह वह भी काव्य का एक आवश्यक घटक हो बैठा। कवियो का बहुमत भृग पक्षी की ओर मुडा। फिर इसकी कौन परवाह करता है कि बहुमत अनेक बार मूर्खों का बाजार हो सकता है !

भृगों के विषय मे जो पक्षपात हुआ है उसके कारण कवियों ने जिन अनेक प्राणियो के साथ अन्याय किया है, उनमें के पॉच ही अपने गवाहों के रूप मे आपके सम्मुख उपस्थित करता हूँ। रात को दीपक के आसपास परिक्रमा करनेवाली नन्ही तितलियाँ किसने नहीं देखी है ? दिन में बेचारी पेट भरने के लिये घास के फूलों के आसपास भी चक्कर काटती होंगी। लेकिन दीप-ज्योति के साथ उनकी-ज्योति भी प्रज्ज्वलित होती है। उन्हें देखते ही यह तुरत जॅचने लगता है कि रजनी ध्येय की माता है। दीपक के आसपास की उनकी वे परिक्रमाएँ — शिला पर खडी हुई कोई सती ही वैसा करे तो उनके त्याग से स्पर्धा कर सकेगी। और उनके उन नन्हे पखो के चित्रविचित्र मोहक रग ! हम एक बार बरोदा जवाहरखाना देखने गये थे और हाल ही में बबई के एक दूकानदार ने तो विविध रगो और किनारियो की जर की साडियो के चक्रव्यूह में ही मुझे एक बार बद कर दिया था। परतु इन दोनो समयो में मेरे नेत्रोंने जो रंग-सौन्दर्य अनुभव किया, वह अपने दीये के आसपास चक्कर काटनेवाली पखियो की ओर देखने पर मुझे बिलकुल फीका लगने लगता है।

शायद आप सोचते होंगे कि मैंने जानबूझकर ही सुन्दर प्राणी का उदाहरण लिया है। मछली पतग की तरह मोहक नहीं होती। लेकिन कवि ने विरह के समय जहाँ यह कह दिया कि 'जळाविण जैशी मासोळी'[1] कि कवि का मछली से सबंध समाप्त हुआ ! तरुणो के मन मे चल रही प्रेम-भावनाओ की कोमल हलचल की तरह पानी में चल रही उनकी

१ 'जल बिना जैसे मछली।'

' खडखड ' छोड दीजिए ! लेकिन जाल से बाहर निकलने पर भी तडपते समय, बिलकुल प्राण त्यागते समय, उनमे की कुछ मछलियॉ विद्युत्दीप की तरह – बिलकुल हीरे की तरह चमकती है, यह कितने कवियों को ज्ञात होगा ? उनकी वह चमक देश के लिये फॉसी के तख्ते पर चढनेवाले वीरो की ऑखों मे चमकनेवाली उज्ज्वल ज्योति की तरह ही आकर्षक होती है।

सौन्दर्य के वरदहस्त की बात तो छोड ही दीजिए, लेकिन साधारण स्पर्श भी जिन्हे नहीं हुआ ऐसे प्राणियो का विवेचन भी कोई कम काव्यमय न होगा ? यह देखिए मकडी ! किसी को यह भ्रम हो सकता है कि ' मॉडर्न रिव्ह्यू ' में चित्रित बगाली चित्रों से ही जैसे उसने अपना शरीर बनाया है ! वह कुछ भी क्यो न हो ! यद्यपि मुझे उसका स्पर्श पसद नहीं है, फिर भी मेरे कमरे के कोने मे उसने अपना जो नया बँगला बनाया है, उसे नष्ट कर डालने की मै अपनी नौकरानी को कभी इजाजत न दूँगा ! मेरी मसहरी मे यदि मानवी भावनाऍ होतीं, तो उस कोने की कला-कुशलता पर लज्जित होकर, वह कभी की तकिये मे सिर छिपाकर बैठ जाती ! उस दिन पहाडी पर जाते समय रास्ते मे मैने मकडी का कितना बडा घर देखा था ! घर काहे का ? एक राजप्रासाद ही था वह । सूरज की किरणो मे चमचम चमकनेवाले उस राजप्रासाद के नन्हे स्तभ कितने आकर्षक दिखते थे ! सूत निकालने की स्पर्धा मे यदि मकडी भाग ले सकती, तो अधिक से अधिक नबर का सूत निकालकर, वह अवश्य ही पहला नबर प्राप्त करती ! परतु इस मकड़ी को कविता में कहॉ स्थान है ! सिर्फ मराठी की दूसरी कक्षा की पाठ्य पुस्तक मे, ' किसी मकडी ने एक बार अपना — '

झींगा और दीमक उपद्रवी होते है। परतु यह थोडे ही है कि दुष्ट मनुष्य मे गुण नहीं होते। शराब पीकर पत्नी को मारनेवाला मनुष्य क्या सुंदर उपन्यास नहीं लिख सकता ? व्यभिचारी मनुष्य के देशभक्त होने के उदाहरण भी इतिहास की फईलो मे हैं ही ! झींगा कीड़ा यदि बदन पर गिर पडे, तो कुत्सित आलोचक से भी आधिक तग करता है, यह सच है ! लेकिन यह नन्हा रीछ जब किसी लता के अग्रभाग से लटककर झूलता है,

तो उसकी ओर देखने का मोह किसे न होगा? घास की छोटी पत्ती के सिरे पर जाकर जब हजरत आराम से इस तरह बैठ जाते हैं जैसे उसी का एक भाग हो, तो मुझे समाधिस्थ योगी का स्मरण होता है। दीमक का भी वही हाल है। थोडे दिनो में ही खूटी पर रखी हुई धोती की मसहरी और मसहरी की धज्जियाँ कर देने में वह बडी चतुर होती है, इस में सदेह नहीं। लेकिन इसके साथ ही उसका लुक-छिपकर होनेवाला आक्रमण कितना सराहनीय होता है! एक दिन रात को साफ-सफाई करके, दरी बिछाकर, मैने अपनी गद्दी फैलाई। दूसरे दिन सुबह उठकर, जब बिस्तर समेटने लगा, तो दरी मे अनेक छिद्र हो गये थे। 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति!' जल्दी जल्दी उन छेदो में से दीमक की सेना ऊपर आ रही थी। शाहिस्ताखान पर आक्रमण करके शिवाजी ने उसकी उँगलियाँ किस तरह काटी होंगी, इस की मुझे उस समय पूर्ण कल्पना हो गयी।

केवल संकेत के शिकार हो जाने के कारण, ऐसे प्राणियों के सौन्दर्य का अथवा उनकी चतुराई का अपने काव्य में उपयोग करना छोड़कर, महाभारत के युद्ध से लेकर दाडी सत्याग्रह तक के सारे कवि सिर्फ भौंरे के आसपास ही चक्कर काट रहे है। स्वर्ग और पाताल में भी सचार करने की जो अधिकारिणी है, वह कल्पना ही जहाँ इस तरह बधन मे पड जाती है, वहाँ पगु व्यवहार के मत्थे अँधेरी कोठरी ही पड़ेगी! स्वय अपने बच्चो के नाम रखना हों, अथवा अन्य लोगों के नाम रखना हो, पूर्व सकेत के उस पार कदम रखने के लिये कोई भी तैयार नहीं होता! पकवान बनाना हो, अथवा प्रेम करना हो, उसे पूर्वापार पद्धति से करना ही हमारी सामाजिक आदत है। केशवसुत[१] की 'साध्याही विषयात आशय कधीं मोठा किती आढळे'[२] पंक्ति मे जीवन को उच्चतर बनाने का महामत्र ही कहा गया है, इसमे सदेह नहीं। लेकिन विषय मामूली भले ही हो, फिर भी अधे उन्हे देखें किस तरह? पूर्वज, पुराण, परिस्थिति – ये सब जैसे जीवन को बद कर देने के लिये एक अभेद्य परकोटा रचते रहते है

१ मराठी भाषा के एक आधुनिक कवि।

२ 'मामूली विषय में कभी कभी कितना बड़ा आशय मिलता है।'

और फिर उस कारागार मे विचरण करनेवाले जीवन को लगता है – यह कारागार ही सपूर्ण जग है !

सकेत राजमार्ग की तरह प्रशस्त होते है। इस कारण सीधे मार्ग जानेवालो को और साथी संगति की इच्छा करनेवालो को वे पसद हों, यह स्वाभाविक ही है। राजमार्ग के किनारेवाले वही घर और वही दूकाने देखकर जब जी ऊब उठता है तब भी लगभग सभी लोगों को नयी पगडडी से जाने की हिम्मत ही नहीं पड़ती। वे सोचते है कि हम कहीं भूल कर देंगे। बेचारो को यह पता नहीं रहता कि जो भूलता है वही सीखता है। लेकिन यह विश्वास होते हुए भी कि पृथ्वी-परिक्रमा मे बहुत पुण्य है, राजमार्ग तैयार हुए बिना ये लोग उस विषय मे एक क़दम भी आगे न रखेंगे।

पक्षियो की तरह मनुष्यो को भी यह जानना चाहिये कि सच्चा जीवन पिजडे मे नहीं होता, वह पिंजडे के बाहर नृत्य करता रहता है और तदनुसार आचरण करना चाहिये। और इसी लिये उस भौंरे को मारने का अब मुझे इतना दुःख नहीं होता। सकेत-निष्ठता को अलग कर देने का मेरे मन ने जो आजकल निश्चय किया है, उसका वह व्यक्त स्वरूप ही तो होगा! हसिया और हथौड़ा यदि किसान मजदूरो के स्फूर्तिदायक प्रतीक है, तो आज तक कवियों के द्वारा अवास्तव रूप से जानबूझकर झूठी प्रशसा प्राप्त भृग को मार डालने की जो बात मेरे मन में उत्पन्न हुई, वह क्या काव्य-कल्पनाओ की क्रान्ति का प्रतीक नहीं होगी? हॉ, प्लैंचेट से यदि बोल सका, तो वह स्वर्गवासी भृग मुझसे कहेगा, – 'सकेत बनाये और उनका अधे की तरह पालन किया कवियों ने। लेकिन मरा मैं! एक का खेल होता है और दूसरे की जान जाती है!'

शीघ्र ही अच्छा-सा स्मारक बनवा देने का आश्वासन देकर, उस भृग को मैं किसी तरह मना लूँगा!

देखा? यह ऐसा हो जाता है! नहीं, नहीं, कहता रहा। फिर भी सकेत का कितना जबरदस्त सिक्का मनुष्य के मन पर होता है! भृग का स्मारक बनाने की बात मैंने स्वीकार की जरूर! पर क्या मै जानता नही हूँ कि कवि की तरह स्मारक भी बनाने से नहीं बना करते?

● ● ●

२०

स्मृति-चित्र

पचीस साल पहले की बात है यह ! लेकिन अक्लमदी अखरोट के पेड की तरह होती है। (यथार्थवादी रसिकजन, कृपाकर मुझ से इस पेड का वर्णन करने के लिये न कहिए !) उसे बहुत देर मे फल आते है। यानी, उस समय भी मै अपने आप को बडा अक्लमद समझता था और अब भी मेरी वह धारणा बनी ही हुई है।

मेरे नाना-बाबाकाका बडी रसीली बाते किया करते थे। उनके सभाषण को आप दिवाली का नाश्ता ही कह सकते हैं ! उसमे अमुक एक मसालेदार चीज नहीं है ऐसा कभी न होता था। सागली रियासत के सस्थापक चिन्तामणराव अप्पासाहब की वीरता की बातें हो, अथवा गणेशजी के मदिर मे अनायास मिष्टान्न खाते समय पराक्रम दिखानेवाले किसी पाडोबा[1] की लीलाएँ हो, वे जब सुनाने लगते, तो लगता, लगातार सुनते ही रहें। सुबह की मीठी नींद में उनका मधुर एव गभीर वेदपाठ सुनते तो यह भ्रम होता, जैसे कोई प्राचीन ऋषि अपने बिस्तर के पास

१ पेटू।

आकर बैठ गया है। लेकिन रात के भोजन के बाद जब उनकी गप्पो पर रग चढता, तब उनके चेहरे की शिकनें ही नहीं, बल्कि दाढी मूँछे भी नहीं दिखती थीं और इस भावना से कि हम अपने एक हमउम्र की बाते सुन रहे है, मन तल्लीन हो जाया करता था। सुबह का समुद्र रात को फव्वारा कैसे हो जाता है, यह पहेली उस वक्त मुझ से कभी भी हल न हो सकी।

यद्यपि यह बात थी, फिर भी बाबाकाका की बातो का कभी कभी हम सभी लडके मजाक उडाया करते थे। उनकी नाटक के विषय की बातें ही देखिए। वे कहा करते कि अण्णा किर्लोसकर[1] का सौभद्र[2] देखने के लिये हम थिएटर मे तीन तीन घटे पहले जाकर बैठा करते थे, बाहर सुबह हो जाती फिर भी थिएटर में अर्जुन-सुभद्रा अथवा दुष्यन्त-शकुन्तला का विवाह ही न हुआ होता, भावड्या[3] ग्वालियर मे स्त्री-वेश मे एक बुलावे में किस तरह पहुँच गया था, सुभद्रा के अभिनय के तरह ही भावड्या पुडरीक का अभिनय भी कितनी सुदरता से करता था और 'मञ्जुघोषा' नाटक में गणपतराव जोशी[4] क्या ही कमाल कर देता था कि ——। ये और इस तरह की बाते जब शुरू हो जातीं, तो मुझे लगता — पुरानी बातों की जानबूझकर झूठी प्रशसा करने की बूढों को आदत ही पड जाती है! भावड्या — भावड्या! प्रेमशोधन[5] की इदिरा[6] और विद्याहरण[7] की देवयानी[8] बाबाकाका ने कभी देखी नहीं! वरना उन्हे

१ मराठी भाषा के एक नाटककार।

२ एक नाटक।

३ महाराष्ट्र रगमच का एक प्रसिद्ध अभिनेता।

४ मराठी रगमच के एक प्रसिद्ध अभिनेता जो अपने हैमलेट के अभिनय के लिये विशेष रूपसे प्रसिद्ध थे।

५ एक नाटक।

६ एक पात्री।

७ एक नाटक।

८ एक पात्री।

सहज ही पता चल जाता कि बालगधर्व[१] का नया कोरा रुपया बाजार मे आ जाने के कारण भावव्या का पुराना मुडे सिर का रुपया अब वहाँ चलना सभव नहीं है। गणपतराव जोशी की तारीफ करनी ही थी, तो क्या वह हैमलेट का उदाहरण देकर नहीं हो सकती थी? उसके लिये जूनीपुरानी मञ्जुघोषा की ही क्या जरूरत थी?

प्रीवियस कक्षा के हमारे पाठ्य-क्रम मे स्कॉट का Ivanoe नामक उपन्यास पाठ्य पुस्तक थी। उसमें एक पात्र यह डींग हाकता है कि हेसटिंग्ज की लडाई मे मेरा परदादा एक बडा भारी धनुष लेकर लडा था। उस समय मुझे लगा कि वह पात्र दुनिया के सारे बूढो का एक सुन्दर विडम्बन है। 'भावबधन'[२] के धुडिराज[३] की गपोडबाजी पर कौन तरुण न हँसा होगा? दुनिया के बाजार में नित्य नया माल आते रहने पर भी बूढे लोग कबाडिया की तरह ही व्यवहार करते है जैसे बुढापा मानो सडक के किनारे लगाई गयी पुरानी पुस्तको की दूकान ही हो! उसमें 'लग्नाची बेडी'[४] नाटक नहीं मिलेगा! लेकिन 'तरुणी शिक्षक' नाटिका अथवा 'मोर एलएल.बी.'[५] प्रहसन अवश्य मिल जायेंगे।

किन्तु आजकल मेरा यह मत हो चला है कि पुराने जमाने की बातो को घोटते रहने का मनुष्यो का यह शौक, उस समय जितना लगता था उतना हास्यास्पद नहीं है। लडके के पिता को लडकी के पिता के स्थान मे खडा कर देने से क्या चमत्कार हो जाता है इसका जो मार्मिक चित्र वरेरकर[६] ने उपस्थित किया है कुछ उसी तरह का एक प्रकार है यह। कोई भी

१ मराठी रगमच के एक श्रेष्ठ गायक-अभिनेता जिन्हे लोकमान्य तिलक ने 'बालगधर्व' कहा। नाम है नारायणराव राजहस।

२ गडकरीजी का एक मराठी नाटक।

३ उक्त नाटक का एक पात्र।

४ प्र के अत्रे द्वारा लिखित मराठी भाषा का एक आधुनिक नाटक।

५ मराठी भाषा के पुराने नाटक और प्रहसन।

६ मामा वरेरकर – मराठी भाषा के आधुनिक नाटककार।

मनुष्य अपने को बूढ़ा मानने के लिये कभी भी राजी न होता होगा। दादा बन जाने पर भी जब कोल्हटकर[1] को किसी ने 'बूढे महाराज' कहकर सबोधित किया, तो वे कितने चौंक पडे थे! यह सच हो, फिर भी उस जमाने से जब कि बाबाकाका ये बातें किया करते थे, मै पचीस वर्ष से बूढा न भी हो गया होऊँ, तब भी मुझे यह तो मानना ही पडेगा कि, मै प्रौढ हो गया हूँ। और चालीस की उम्र होते ही मुझे कैसे कैसे चमत्कार दिखने लगे है उनकी बात ही न पूछिएगा! उस दिन 'बुद्धिबळ क्रीड़ारत्न'[2] नामक पुस्तक मेरे हाथ में आयी। उसके आवरण पर बना चित्र अत्यन्त सकेतात्मक और सुदर है। पतिदेव शतरज खेलने मे पूर्णतया खो गये है। मेज़ पर पट के बायीं ओर चाय की प्याली है। शायद खाली होगी वह। मेज के दाहिने सिरे पर पत्नी ने ट्रे मे फिर लाकर चाय रख दी है। लेकिन जब महाशयजी का ध्यान पत्नी की ओर ही नहीं है, तब चाय की परवाह कौन करता है? पति की इस निर्विकल्प समाधि की मन-ही-मन सराहना कर पत्नी मधुर स्मित कर रही है। मोटर के खिलौने की धुन मे खोये हुए बालक की ओर माँ जिस तरह देखती है, ठीक उसी तरह देख रही है वह। पति के शतरज के खेल की सराहना पत्नी न करे, तो फिर कौन करेगा?

'ओलेती'[3] के चित्र पर कीचड उछालने वाले अति सभ्य लोग

१ श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर – मराठी भाषा के एक साहित्यिक।

२ शतरज के चोटी के खिलाड़ी।

३ 'रंगीले वस्त्रवाली' – कुछ वर्ष पहले महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध चित्रकार दलाल ने 'ओलेती' नाम का एक चित्र बनाया था। कला की दृष्टि से चित्र बेजोड था। चित्र में यह दिखाया था कि एक युवती स्नान करके स्नानगृह से गीली साडी में ही बाहर निकली है। साडी पतली और सफेद है जो उसके अग से बिलकुल चिपट गयी है। उसके पृष्ठ-भाग के अग-प्रत्यग स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहे है। इस चित्र के प्रकाशित होते ही समूचे महाराष्ट्र मे एक तहलका-सा मच गया था और कला या अश्लीलता विषय पर जोरदार बहस छिड़ गयी थी। अन्त में इस चित्र का प्रकाशन रोक दिया गया था।

भी चार लोगों के साथ बैठकर इस आवरण के चित्र को देखे बिना न रहेंगे। लेकिन इस चित्र को देखते रहने के बदले मेरा मन दूसरे ही चित्रों मे मग्न हो गया। वे बहुत पुराने स्मृति-चित्र थे। लगभग तीस वर्ष पूर्ण हो रहे होगे। मई महीने की चिलचिलाती धूप के दिन थे वे। जहाँ दोपहर को भोजन से निपटा कि इसकी जरा भी परवाह न कर कि पैर बुरी तरह से जल रहे हैं, मै रामभाऊ के घर नगे पैर दौडता हुआ जाता था। वहाँ शतरज का खेल जो शुरू होता, वह शाम के छः बजे तक किसी भी तरह बद न होता था। खेल में राममाऊ मुझे मात दे देता, फिर भी हो-हल्ला करके मै ही उसे हरा देता था। अब रामभाऊ प्रख्यात प्रोफेसर है और मै प्रसिद्ध लेखक हूँ। हम जब एक दूसरे से मिलते है, तब सुख-दु ख की बाते करते है, स्वास्थ्य और बच्चो की कुशल पूछते है और बहुत ही हुआ तो वह मुझ से पूछ लेता है कि 'आजकल क्या लिख रहे हो?', और मै भी उससे वैज्ञानिक विषय की सहज प्राप्त होनेवाली मनोरजक जानकारी सुनता रहता हूँ। लेकिन चाहे हम दो-दो घटे भी क्यों न बैठे रहें, फिर भी शतरंज की बात जरा भी नहीं करते। इसके बावजूद क्या यह आश्चर्य नहीं है कि उस समय पैर जलानेवाली वह बात आज हृदय जलानेवाली होती है?

लेकिन ऐसा लगता है कि इस आश्चर्य की परपरा ही मेरे जीवन में अब शुरू हो गयी है। मै कल बोरकर[1] के काव्य-सग्रह के लिये प्रस्तावना लिख रहा था। उन्होने अपनी 'पिसाट प्रमाद' कविता का आरभ 'अगडबब, अगडबब' शब्दो से किया है। वे शब्द मेरे मन में घूमे और तुरत ही मेरे आसपास का वातावरण बदल गया। काल के प्रवाह के विरुद्ध मानवी कल्पना कितनी तेजी से तैरती जाती है? एक क्षण मे वह अठारह वर्ष पीछे चली गयी। सावतवाडी के घर की वह रात! मै, मेरी बहन और मेरा छोटा भाई खाने पर बैठे हुए थे। परोसते समय चाची ने मेरे भाई से कुछ कहने के लिये कहा। पहले तो वह शरमाया। लेकिन बाद मे उसने एक गीत कहा जिसका आरभ था—'अगडबब

१ मराठी भाषा के एक कवि।

अगडबंब बाजे डमरू । नाचे सदाशिव जगद्‌गुरू ! ' मैं नहीं जानता था कि वह किस नाटक का है और आज भी मै इससे अनभिज्ञ हूँ । लेकिन यह अवश्य सच है कि अगडबब अगडबब शब्दों के उच्चार से मेरी वह स्मृति निश्चित रूप से जागृत हो जाती है इसके कारण बोरकर की कविता का कल्पनाविलास देखने के बजाय मैं अपने उस स्मृति-चित्र के कारुण्य में ही कितने ही क्षण सुन्न हो गया था ।

कुछ दिन पहले कोल्हापुर मे भी यही हुआ । शायद चाय का वह मेरा सातवाँ या आठवॉ कप होगा । उस आठवें कप पर ' Forget me not ' अक्षर थे । बीस वर्ष पहले मै इस वाक्य का अनुवाद ' स्वयंवर '[१] के ' कहीं मुझे ककड न मार देना ' की तरह ' कहीं मुझे भुला न देना ' किया करता था । उस समय जब इन अक्षरोंवाला चाय का प्याला मेरे हाथ में होता, तब एक अस्पष्ट-सा मधुर स्वप्न ऑखों के सामने लहराने लगता । उस स्वप्न की स्वामिनी अवश्य सदैव अदृश्य ही रहती । लेकिन उस दिन जब ' Forget me not ' अक्षरों से अकित वह प्याला मैने हाथ मे लिया, तो चाय पीने को मेरा मन ही न करता था । ' भूलो नहीं ' यही उन शब्दो का अर्थ था । लेकिन बाबूराव और उषा के पास मैने यह स्वीकार किया था कि दिन मे तीन बार से अधिक चाय नहीं पिया करूँगा उन शब्दों ने चट से मुझे उसी की याद दिला दी ।

आजकल छोटी छोटी बातो के कारण भी इस तरह के स्मृति-चित्र मेरी ऑखों के सामने लहराने लगते है । कौन जाने मन इतने चित्रो को रखता कहॉ है और मौके पर इस कबाडखाने से ठीक मनचाहा ही चुनकर कैसे ले आता है ? किन्तु यह अवश्य सच है कि ये सब बाते यत्र की तरह सुचारु रूप से होती रहती हैं । जिन स्मृतियो के बारे मे यह आभास तक नहीं होता कि वे हमारे सग्रह मे है, वही एक क्षण में अनेक रगों से सुसज्जित होकर ऑखो के सामने नाचने लगते है । उत्तररामचरित्र के पहले अक मे एक ऐसा करुण मधुर प्रसंग है जब कि राम और सीता अपने पूर्व-जीवन का चित्रपट देखते है । विद्यार्थी दशा में इस प्रसग के विषय मे

१ मराठी भाषा का श्री. कृ. प्र. खाडिलकर लिखित एक प्रसिद्ध नाटक ।

मेरा भवभूती पर यह आक्षेप था, कि उसकी यह कल्पना अत्यन्त सुन्दर भले ही हो, फिर भी उसने वह चित्र-मालिका अकारण लंबी कर दी है। लेकिन वह आक्षेप मैं अब आनद से वापस लेता हूँ। उस समय मुझे इसकी अस्पष्ट-सी भी कल्पना न थी कि उसमें के प्रत्येक प्रसग की ओर राम और सीता कितनी पर्युत्सुक दृष्टि से देखते होगे। मैंने वह अक बुद्धि से पढा था, भावना से नहीं।

‘ जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे
मातृभिश्चिन्त्यमासानां ते हि नो दिवसा गताः। ’

उस समय दो मिनटों मे इस श्लोक का अर्थ करके मैंने छुट्टी पा ली थी। ‘ दशरथ जीवित थे, हमारे विवाह हाल ही में हुए थे, सारी चिन्ताएँ उठाने के लिये हमारी माताएँ पक्की थीं ! वे दिन अब गये ! ’ – इतना ही राम के इस श्लोक का मेरा अर्थ था।

एक काव्योक्ति है – ‘ शब्द बापुडे केवळ वारा ![1] ’ जब वह श्लोक मुझे बाद में स्मरण होने लगा, तब उपरोक्त काव्योक्ति का मर्म पूर्णतया मेरी समझ में आया। कॉलेज में पढते समय हम शब्दों के अर्थ लगाया करते है। परतु उनके अतरग का अर्थ आगे चलकर जीवन जीने के बाद ही समझ में आने लगता है। शब्दों के रंग सभी फीके पड जाते है – पक्का रग सिर्फ एक ही होता है ! अनुभव – भावना। सिर पर पिताजी की ममता का छत्र न था, माँ का प्यार भाग्य में न था – ऐसी दशा में दुनिया के वीरान रेगिस्तान मे मै जब दौडने लगा तब मुझे विश्वास हो गया कि ‘ ते हि नो दिवसा गताः ’ समूचे सस्कृत साहित्य का अत्यन्त कारुण्यपूर्ण चरण है !

और इसी लिये बातूनी बूढ़ो को देखकर अब मुझे हँसी नहीं आती। द्वार में आकर खडी मृत्यु की ओर पीठ फेरकर, घर की सब चीज़ों की ओर – उन चीजो की दीवाल पर पडी काली-सी परछाइयो की ओर भी अपनेपन से देखनेवाला वृद्ध क्या सहानुभूति का ही विषय नहीं है ? हमें भी, आज नहीं तो कल, उस पार ले जानेवाली इसी नौका में बैठना है।

१ ‘ बेचारे शब्द केवल हवा है। ’

तरुणाई की सीमा-रेखा पर मनुष्य मीठे स्वप्नों में मग्न रहता है। वे स्वप्न जब समाप्त हो जाते है, तो उनका स्थान स्मृतियाँ ले लेती है। इस में अस्वाभाविक क्या है? मनुष्य की परछाई उसके आगे पडे अथवा पीछे पडे, आखिर वह उसी की ही तो प्रतिकृति होती है। मनुष्य के जब हाथ-पाँव थक जाते है, तब वह सग्रहित पूजी की ओर बडी ललचाई हुई दृष्टि से देखने लगता है। यह सिर्फ व्यावहारिक अनुभव नहीं है, वह मानसिक भी है। थॉमस मूर ने अपने एक करुण गीत का आरंभ निम्न सुदर पंक्तियों से किया है—

Oft in the stilly night
Ere slumber's chain has bound me
Fond memory brings the light
Of other days around me

स्कूल में यह कविता जब मैंने प्रथम सीखी तब बिस्तर से पीठ लगते ही मैं सो जाया करता। नहीं, बल्कि यह कहिए कि अलसाकर जब झोंके खाने लगता, तभी मैं बिस्तर से पीठ लगा देता। इस के कारण उस समय मुझे ऐसा लगता कि मूर के समान कवि इस तरह के वर्णन केवल कल्पना-शक्ति से किया करते है। लेकिन अब बिस्तर से पीठ लगाते ही नहीं, बल्कि जाग्रत-दशा के विविध उद्योगों में मग्न रहते समय भी, जैसे कैदी के कमरे मे कहीं से चॉदनी चोर की तरह चुपके से आ जावें, उस तरह गत जीवन की स्मृतियाँ मेरे मन में प्रवेश करती है। मूर ने उस कविता में आगे जो वर्णन किया है, वह जरूर मुझे नहीं जॅचता। वह कहता है—

When I remember all
The friends, so linked together,
I've seen around me fall,
Like leaves in wintry weather
I feel like one
Who treads alone
Some banquet-hall deserted

Whose lights are fled,
Whose garlands dead
And all but he departed '

किसी बडे समारोह की पुष्प-मालाएँ सूख जावें, दीपमालाएँ बुझ जावे और अकेला मनुष्य भूत की तरह उस स्थान में घूमता रहे – इस तरह पुरानी स्मृतियों के कारण मूर की दशा हो जाती है। लेकिन मुझे ऐसे समय बिलकुल भिन्न ही आभास होता है। नींद आने से पहले मुझे ऐसा लगने लगता है कि दीपमाला शान्त हो गयी है, पुष्प-मालाओं की मद मद सुगध वायुलहरियों पर से आ रही है और मेरे जीवन मदिर के सारे स्मृति-चित्र सजीव होकर, मेरे आसपास मधुर हलचल कर रहे है। एक चित्र का हास्य, दूसरे के मीठे शब्द, तीसरे का भावुक स्पर्श – इन सब को मिलकर एक नयी लोरी निर्मित होती है और उसे सुनते-सुनते बालक की तरह मै कब सो जाता हूँ इसका स्वय मुझे ही कोई पता नहीं चलता।

● ● ●

ऐसी परिस्थिति में यदि यह नयी कहावत कि ' दान दो ढाँककर और डायरी देखो खोलकर ' सच लगने लगे, तो आश्चर्य क्या है ? ठीक इस कहावत के अनुसार उस दिन मैं अपने एक मित्र की डायरी खोलकर उसके पन्ने उलट रहा था, तभी उसमे का निम्न अवतरण मेरी नजरों से गुज़रा ।

' दीये जलाने का वक्त हो गया । फिर भी अपने राम की श्रीमतीजी का, जो एक पडोसिन के घर बैठने गयी है, अभी तक कोई पता नहीं है। दिल में जाता है कि उठूँ और ' दस रुपया इनाम ' शीर्षक देकर उसे खोजने के लिये ' केसरी '[1] मे एक विज्ञापन प्रकाशनार्थ भेज दूँ । किसी सुभाषित में स्त्री की तुलना द्रव्य और पुस्तक से की गयी है । वह इस समय मुझे अक्षर अक्षर जॅच गयी । हाथउधार लिये गये पैसे क्या इसी तरह नहीं चले जाते ? गरजी मनुष्य यह कहकर कि ' कल सुबह ला देता हूँ ', रक़म ले जाता है । लेकिन उसका वह ' कल ' भी उदय ही नहीं होता । दुनिया में क्या कभी भी ऐसा हुआ है कि कोई पढ़ने के लिये पुस्तक ले गया हो और उसे समय पर लाकर लौटा दिया हो । यदि ऐसी कोई विभूति हो, तो उसे तत्त्वज्ञान परिषद का अध्यक्षपद देना चाहिए ।

अँधेरा होने लगा । ऐसे समय ही अनुभव होता है कि गृहिणी के बिना घर अरण्य से भी भयकर लगता है । यह सच है कि घर अपना ही होता है, पर वह बिलकुल खाने के लिये दौडता है । आखिर अरण्य में भी इसके सिवा और कोनसा भय रहता है ? मैने यह तय किया कि अब पत्नी जब लौटकर आयेगी, तो उससे एक शब्द भी न बोलूँगा । अरण्य मे कोई ऋषि समाधि लगाकर बैठ जावे, उस तरह मै कुरसी पर बैठ गया ।

किसी के पादचाप मेरे कानो मे पडे । लेकिन मैने मुडकर नहीं देखा । यदि यह करता तो समाधि एकदम सविकल्प सिद्ध हो जाती । और विकल्प कुल मिलाकर बुरा ही होता है । मेरी पत्नी मेरे निकट आकार बोली,— ' थोड़ी देर हो गयी मुझे ! '

१ पूना से प्रकाशित एक प्रसिद्ध मराठी त्रि-साप्ताहिक समाचार-पत्र ।

‘ थोडी ? क्या स्त्रियों के शब्दकोश में सारे शब्दो के अर्थ उलटे हुआ करते हैं ! ’

‘ मै तो बहुत पहले आ रही थी — ’

इसी समय यह प्रश्न कि, ‘ फिर क्या बीच मे भूकम्प हो गया था ! ’ बिलकुल मेरी जिव्हा पर आ गया था ! परतु हॉ, समाधिस्थ मनुष्य क्या कभी बोलता है ?

‘ ताईसाहब ने कहा — बैठो घडी भर । इतनी सी बात के लिये ‘ वे ’ तुम पर नाराज नहीं होगे । सारा गॉव प्रशंसा करता है उनके भोले स्वभाव की ! ’

अब कहॉ की समाधि और कहॉं का क्या ? मैने हॅसते-हॅसते कहा, — ‘ अजी यह तो होता ही रहता है । ठीक टाईम-टेबल से दौडनेवाली रेलगाडी को भी देर हो जाती है । फिर मनुष्य किस खेत की मूली है ! और यहॉ भी ऐसा कौनसा काम धरा था ? ले देकर दीये ही तो जलाने थे । ‘ दीये जलाने में ’ स्त्रियो की अपेक्षा पुरुष ही अधिक कुशल होते है । ’

वह हॅसती हुई भीतर चल दी ।

मै सोचने लगा — ‘ मेरा ज्वालामुखी इस प्रकार एक क्षण मे हिमालय कैसे हो गया ! ’

इसका उत्तर उस डायरी मे न था । लेकिन क्या वह कठिन है ! उत्तर एक ही वाक्य है — सारा गॉव प्रशंसा करता है उनके भोले स्वभाव की ! इस एक छोटे-से वाक्य ने क्रोध जैसे बलाढ्य शत्रु को मेरे मित्र के मन से एक क्षण में भगा दिया । इस वाक्य को अपनी पत्नी के मुख से सुनकर मेरे मित्र के मन में इस तरह की एक भी शका न आयी कि ताई-साहब ने घर घर जाकर मेरे स्वभाव के बारे मे मत सग्रह किये थे क्या ! यदि किये भी हों, तो जिनसे मेरी मुखदेखी पहचान भी नहीं है, मेरे विषय के उनके मत का क्या मूल्य ? जो मुझे पहचानते है, उन्हे भी आखिर मेरे स्वभाव का अन्त कहॉ मिला है, आदि आदि । और वे आवे

भी कैसे ? यदि ऐसी शकाएँ आ जावे तो फिर प्रशसा का माहात्म्य ही क्या रहा ?

हरएक की प्रबल इच्छा होती है कि दूसरे हमे अच्छा कहे। इच्छा हो तो राह भी मिल जाती है इस का अनुभव इस विषय मे भी होता है। जग की कितनी ही अच्छी बाते इस इच्छा से ही उत्पन्न हुई होंगी। मुझे अच्छी तरह याद है कि अंग्रेजी शाला में जाते तक पढाई मे मेरा मन ही नहीं लगता था। किसी भी तरह पास भर हो जाऊँ, इसी पर संतोष हो जाता था। आगे चलकर मेरे बड़े भाई को एक छात्रवृत्ति मिली। हर जगह उसकी प्रशसा मेरे कानो मे पडने लगी। मेरा मन भी उत्साहित होकर खडा हो गया। आगामी वर्ष ही मुझे भी छात्रवृत्ति मिली।

लेखक की हैसियत से प्रसिद्ध हुए लोग भी यही कहेगे। यह सच है कि यश के पर्वत के शिखर पर उन्हे स्वयं अपने ही बूते पर पहुँचना पडता है। लेकिन पर्वत के नीचे खडे मनुष्य को ऊपर चढने की हिम्मत क्या दूसरो से ही नहीं मिलती ? चढनेवाला भले ही झिझकता हो, लडखडाता हो, ठोकरे खाकर उसके पैर लहूलुहान हो जाते हो, फिर भी उसके कानो मे 'शाबाश' शब्द पडते रहने के कारण, उसे अपने शारीरिक दुःखो का होश ही नहीं रहता। क्रिकेट का अद्वितीय खिलाडी नायडू जब चौओ और छक्को के टोले मारता है, तो उन्हें देखकर हमे कितना आनद होता है ! टोले काहे के ? बिजली की चमके ही होती है वे। लेकिन नायडू के इस अद्भुत खेल का कम से कम थोडा-सा भी श्रेय, क्या आसपास बैठे हुए सहस्रो दर्शको और उनकी तालियो को नहीं है ? अभिनेता कितना भी अच्छा हो, लेकिन आप यह देखिए कि खाली कुरसियो के सामने उसका अभिनय नित्य की भाँति अच्छा होता है या बुरा ? मेरा एक व्याख्यान का अनुभव बडा मनोरजक है। सभामंच के नजदीक की कुरसियों की पहली पंक्ति मे एक प्रौढ सज्जन बैठे हुए थे। भाषण की तैयारी ठीक से न होने के कारण, दर्शकों की ओर बार-बार नाटकीय दृष्टि से देखने की हिम्मत उस दिन मुझे न हुई। मैंने उन प्रौढ सज्जन की ओर देखकर अपना भाषण आरंभ किया। पहले से ही उनके

चेहरे पर मन्द स्मित की रेखाएँ दिखने लगीं। यह सोचकर कि मेरा भाषण ठीक हो रहा है, मैं धड़ाके से बोलने लगा। भाषण समाप्त होने पर ऐसा प्रतीत हुआ कि लोगो को वह पिछले भाषणो की अपेक्षा अधिक अच्छा लगा। इस अच्छाई का श्रेय उन प्रौढ़ सज्जन के पल्ले बाधने की गरज़ से मैने उनके बारे में पूछताछ की।

'ये कौन सज्जन हैं?'

किसी ने कहा, –'एक पेन्शनर महाशय है।'

'बडे रसिक जान पडते है!' –मैंने कहा।

'जी हाँ, एक अक्षर भी नहीं सुन सकते, लेकिन हर व्याख्यान में हाजिर रहते हैं।'

मै दंग रह गया!

मैंने फिर पूछा, –'पर वे लगातार हँस तो रहे थे!'

'अजी, वह तो उनके ओंठो को एक आदत ही पड गयी है। किसी साहब के वे हेड क्लर्क थे। पेन्शन हो गयी। लेकिन प्रसन्न मुख रखने की आदत नहीं छूटी है अभी तक।'

मै थोडा झेपा। लेकिन मन मे यह भी विचार आया – यह सच है कि समुद्र मंथन के समय महादेवजी ने हलाहल प्राशन किया। पर कब? जब सारे देवो ने प्रशसा की तभी तो।

प्रशंसा के लाभ स्पष्ट रूप से दिखने योग्य है। लेकिन व्यवहार में देखिए तो सब ने उसे बहिष्कृत कर दिया है। बचपन मे मेरी एक प्रिय कविता थी —

> 'स्तुती करावी परमेश्वराची
> करूं नये व्यर्थ कधीं नराची।'[१]

इस कविता के प्रिय होने का कारण क्या यह था कि उसमे 'चिऊँटी' के बदले 'पिपीलिका' शब्द का उपयोग न करने की

१ 'परमेश्वर की प्रशसा करनी चाहिए। व्यर्थ ही मनुष्य की प्रशंसा कभी न करनी चाहिए!'

सावधानी बरती गयी थी, अथवा उस समय की मेरी यह श्रद्धा थी कि परमेश्वर की कृपा से ही पास हो सकते है – यह कहना कठिन है। परंतु यदि उसके 'व्यर्थ' शब्दको छोड दें, तो यह अवश्य सच है कि बाकी का सारा उपदेश मै बहुत दिनों तक अमल में लाता रहा था। बड़े होने पर परमेश्वर के विषय की कल्पनाएँ स्वाभाविक ही बदल जाती है। बचपन मे भगवान पर इतना विश्वास होता है कि छडी मारनेवाले मास्टर का हाथ पकडने के लिये भगवान काले तख्ते को चीरकर प्रकट हो जायेगा। परतु जब बड़े हो जाते हैं तब यह बात पूरी तरह से जॅच चुकती है कि अकारण क्रोधित हुए वरिष्ठ की लात से तक्तपोशी डगमगा जावे, फिर भी यह संभव नहीं कि भगवान की नींद टूट जाये। सच यही है कि बचपन और प्रौढ़ता दोनो नाटक ही हैं। लेकिन पहला पुरानी पद्धति का है और दूसरा नयी पद्धति का है। पहले का काम ईश्वर की स्तुति के बिना नहीं चल सकता। और दूसरे मे ईश्वर की स्तुति को अग समेटकर खडे रहने के लिये भी कोई स्थान नहीं देगा।

उपरोक्त महाकाव्य का यह नियम कि मनुष्य की व्यर्थ प्रशसा न करनी चाहिए, आज भी मुझे उचित प्रतीत होता है। मेरे रूप का वर्णन करते समय यदि कोई कहे, 'भई वाह, आप तो मदन की तरह सुंदर है!' तो लोगो का यह मत हो जायेगा कि मदन अष्टावक्र का सगा भाई चाहे न हो, पर वह उसके कुल का इतना नजदीकी जरूर है जिसका सूतक दस दिन रखना पडता है। किसी के मन में यह कल्पना भी आ सकती है कि मदन की विडम्बना करने के लिये ही ब्रह्माजी ने मेरी मूर्ति बनायी है। ऐसे स्तुतिकार की यदि मै यह कहकर प्रशसा करूँ कि आप भी तूमड़ी के अवतार हैं, तो विशेष भूल न होगी। प्रसिद्ध लेखकों को दिवाली के समय मिलनेवाले सपादको के पत्र, उपवर वधू के रिश्तेदारों द्वारा किया जानेवाला वर का वर्णन और परीक्षाओ के • वक्त लडको के पालकों का शिक्षको के साथ होनेवाला आदरयुक्त बर्ताव – इन सब में प्रशसा की मात्रा क्या कम होती है? लेकिन मुलम्मा कोई स्वर्ण नहीं है।

प्रशंसा मदिरा की तरह होती है। शायद यह सोचकर ही कि उसका

नशा जल्दी चढता है, दूसरों के गुणो की प्रशसा करने की ओर मनुष्य मात्र का कम झुकाव होता है। मेरा ही अनुभव देखिए। विद्यार्थियो की गलतियाँ दिखाते समय मैं जितनी कडी भाषा का प्रयोग करता हूँ, उतने कोमल शब्द मेरा काम उत्तम रीति से करनेवाले विद्यार्थी के लिये मेरे मुँह से निकलेगे ही, इसका मुझे कोई भरोसा नहीं रहता। यदि चाय अच्छी बनी हो तो मजे से उसकी चुस्कियाँ लेने के सिवा मेरे मुँह से कोई शब्द नहीं निकलता। लेकिन उसमे थोडी चीनी अधिक पड जाने दीजिए तो 'आजकल शायद चीनी अधिक सस्ती हो गयी है, कहकर, घर मे एक उपहार दे ही दिया समझिए। बेचारा लेखक मर-मरकर एक पुस्तक लिखता है। लेकिन 'मरे को न मारने' का नियम मुझ जैसे आलोचक को कहाँ मालूम रहता है? जहाँ पुस्तक की आलोचना लिखने बैठे कि उसमें के दोषो का वर्णन आरभ हो जाता है। डॉक्टरी पुस्तको को पढकर मानव-शरीर के सौन्दर्य की कल्पना हो सकती है, लेकिन किसी भी आलोचना को पढकर पुस्तक के गुणो का पता चल जाय, यह आशा ही आपको न करनी चाहिए।

प्रशसा मदिरा नहीं है। वह एक पौष्टिक औषधि है। पर उसकी उपज बहुत कम परिमाण मे होती है, इसमें सदेह नहीं। सीता के पातिव्रत्य के विषय मे सदेह करनेवाले धोबी ने उसकी अग्नि-परीक्षा को भी न देखा। फिर उसे इसकी क्या परवाह कि वह पति के साथ बन में गयी। 'निंदकाचे घर असावें शेजारीं'[1] कहनेवाले तुकाराम महाराज[2] को इस धोबी की याद न आयी होगी। ऐसा नहीं लगता कि अयोध्या मे राम के राजप्रासाद से सटकर ही इस धोबी का घर रहा होगा। किन्तु दूर रहकर भी उसने अपने एक वाक्य से राम के चरित्र को आखिर एक विलक्षण मोड दे ही दिया। मुझे इसी का आश्चर्य होता है कि अभी तक महाराष्ट्र मे उसका स्मृति-दिन क्यो नहीं मनाया जाता!

किसी ने वर्णन किया है — 'मनुष्य का मन एक राजा है। इस राजा

१ 'निंदक का घर हमारे पड़ोस में होना चाहिए।'

२ महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध संत।

की दो रानियाँ है। प्रिय रानी है निंदा और अप्रिय है प्रशंसा। ' आजकल के जमाने में राजाओं के अन्य कर्मचारियों को छुट्टी मिल रही है। ऐसी परिस्थिति मे इन दो पत्नियो को रखकर मन का भी काम कैसे चलेगा ? इन मे से किसी एक को उसे तलाक दे देना चाहिए। लेकिन तलाक दे किसे ? मेरी मुफ्त सलाह यह है कि उसे अपनी प्रिय रानी निंदा को त्यागकर, अप्रिय रानी प्रशसा के साथ ही अपनी गृहस्थी सजानी चाहिए। कल्पना से परे सुख देगी वह।

क्योंकि, प्रशसा काव्य का मोहिनी-रूप ही है। ताबेजी[1] की निम्न पॅक्तियॉ ही देखिए —

' तें दूध तुझ्या त्या घटांतलें !
कां अधिक गोड लागे न कळे !
साईहुनि मउमऊ बोटें तीं
झुरुमुरु झुरुमुरु धार काढितीं
रुणुझुणु कंकण करिती गीती
कां गान मनांतिल त्यांत मिळे !
अंधुक श्यामलवेळ टेकडी
झरा, शेत त्यामधे झोपडी
त्यांची देवी धारहि काढी !
कां स्वप्नभूमि बिंबुनि मिसळे !'[2]

१ मराठी भाषा के एक आधुनिक कवि।

२ ' तेरे उस घडे का दूध न जाने क्यो मीठा लगता है। मै कल्पना करता हूँ – मलाई से भी कोमल तेरी ॲगुलियॉ दूध दुहती है। दूध के दुहने की सरसर आवाज के साथ तेरे ककणों का मधुर स्वर उसमे मिश्रित हो जाता है और तेरे मन का मधुर सगीत भी उसमे मिल जाता है।

झुटपुटे की वेला है। पास मे पहाडी है। नजदीक ही सोता बह रहा है। वहीं खेत है। उनमें झोपडी है जिसकी देवी दूध दुह रही है – यह स्वप्न-भूमि भी उसमे मिल गयी है। '

दूध का अर्थ है दूध। बिना चीनी छोड़े उसका अधिक मीठा होना सभव नहीं। उसमें कई प्रकार के विटामिन होते हैं। भैंस से गाय का दूध अच्छा होता है क्योंकि गोरक्षा के प्रचारक कहते हैं। इस तरह की व्यावहारिक कल्पनाओ को स्थान देनेवाला मन ताबेजी की उपरोक्त कविता का माधुर्य समझ सके, यह संभव ही नहीं।

सच्ची प्रशंसा की बात भी इसी प्रकार है। उसे झिटकारनेवाले मन से मै कहूँगा,—' भैया, काव्य और प्रेम सगे भाई है और प्रशसा उनकी मझली बहन है। यह याद रखना कि बहन का अपमान करनेवाले मनुष्य का मुँह उसके भाई जीवनभर भी न देखेगे। '

● ● ●

२२

सुख की खोज

जब मै छोटा था, उस समय किसी लोकप्रिय मासिक पत्रिका में 'सुख की खोज' शीर्षक एक लेखमाला प्रकाशित हुआ करती थी। वह शायद विद्वत्ता-पूर्ण भी रही होगी। लेकिन मैने उसकी एक पंक्ति भी न पढी थी। इसलिये मुझे उस समय यह पता न चला कि आखिर वह खोज लगी अथवा नहीं। परतु पढने के लिये उपरोक्त पत्रिका के पन्ने उलटते सयम जब वह लेखमाला मेरे दृष्टिपथ में आती, उस समय मेरा बालमन हँसे बगैर न रहता। वह हास्य एक कूट प्रश्न ही था। जैसे वह यह मूक प्रश्न पूछता – 'सुख क्या अमेरिका, ग्रामोफोन, मोटर आदि की तरह कोई खोज करने की चीज है?' क्या सुख की खोज अभी होनी है? एक ऐसा विचित्र विचार भी उस समय मन मे क्षण-भर के लिये लहरा जाता – फिर क्या यह कहा जाय कि जग आज तक दुःख ही मे था?

लेकिन उस समय जग के पूर्ण रूप से दुःखी होने के कोई भी आसार मेरे आसपास मुझे नहीं दिखते थे। नदी पर लडको की तरह बडे लोग भी पानी में पैर डालकर घाट पर बैठे लोगों पर पानी उछला करते थे, चार मील पर हो रहे क्रिकेट के मैच को देखने लड़को के दल के दल चिल-

चिलाती धूप मे जाया करते और तेज धूप में ही बैठे रहा करते थे, 'दडधारी'[1] और 'मानापमान'[1] नाटकों को देखने व्यापारियो से लेकर डॉक्टरो तक सब में स्पर्धा चला करती, रगपंचमी के दिन अच्छा कुरता पहनकर बाहर जाने की हिम्मत ही न होती किसी की और घूमने शहर के बाहर जाते, तो खेत से कच्ची मूँगफलियॉ उखाडकर खाना भी कोई कम लोग नहीं जानते थे। यह बात न थी कि मेरे उस नन्हे जग मे दुःख दवा के लिये भी न था। मॉ से लेकर ड्रिल-मास्टर तक अनेक लोग मेरे सुख का बार-बार मनोभग कर दिया करते थे। लेकिन उस समय मेरा यही विश्वास था कि जग मे सुख इतना दुर्लभ नहीं है कि जानबूझकर उसकी खोज की जाय।

बचपन का कोहरा हटकर, जग के सत्य स्वरूप पर अनुभव का अब पूर्ण प्रकाश पड़ जाने पर भी अभी तक मेरी वही धारणा बनी है। कौन जाने, सुख के खोजियो को क्या यह लगता है कि सुख पारस की तरह होता है। उन मे से हरएक यह सोचता होगा कि इस पारस के प्राप्त हो जाने पर अपनी लुहार की दूकान एक क्षण मे कुबेर की अलका मे बदल जायेगी। लेकिन इस बात पर मुझे विश्वास ही नहीं है कि जग मे पारस है। इस पृथ्वी के पृष्ठ भाग का सुवर्ण हमेशा धूल मे ही मिलता है। जिन्हे सुवर्णकणो की जरूरत है, उन्हे सोने की खदान की धूल ही खोजनी चाहिए। सुख भी उसी प्रकार है। हमारी जागृत अवस्था के ही नहीं, बल्कि स्वप्नावस्था के हर तरह के अनुभवो मे भी वह उमडकर बहता रहता है। मै उन स्वप्नों के विषय में नहीं कह रहा हूॅ जिनमे हम राजा बन जाते है या जिनमे कोई अप्सरा हमारे गले मे माला पहना देती है। लेकिन जिनमे हम यह देखते है कि किसी पहाड की चोटी से हमे ढकेला जा रहा है, हवाई जहाज से उडते हुए चन्द्रमा को छूते-छूते ही हम नीचे गिर पड़ते है, अथवा कोई अजगर हमें निगल गया है और हम उसके पेट से निकलने का प्राणान्तिक प्रयत्न करने लगते है, वे स्वप्न भी हमें सुख ही देते हैं। जिस

१ मराठी भाषा के नाटक।

क्षण हमे यह विश्वास हो जाता है कि यह सब झूठ है, वह क्षण कितने आनद का होता है ! उस समय हमे लगता है जैसे हमारा पुनर्जन्म ही हो गया है।

जागृतावस्था में तो आनद हमारे आसपास पद-पद पर गोकुल के कन्हैया की तरह मुरली के मजुल स्वर निकालता हुआ विविध रूपो में नृत्य करता रहता है। सुबह के चाय की पहली चुस्की, डाक से मिला चार ही पंक्तियो का अपने किसी प्रिय व्यक्ति का पत्र, दोपहर को काम और पसीने से ऊब जाने के बाद आनेवाला हवा का झोंका, सडक चलते हुए बिजली के तारो पर दिखाई देनेवाले नन्हे नन्हे पछी, घास के तनिक से डठुल पर खिले हुए छोटे-छोटे फूल, मन-ही-मन मे घूमनेवाले 'अतरिचा ज्ञानदिवा मालवू नको रे'[१] अथवा 'रुणुझुणु रुणुझुणु ये झणकारित बा'[२] जैसे मधुर गीत, मदिर मे किसी के द्वारा बजाये गये घटे का वायुलहरी पर नृत्य करता आनेवाला मधुर नाद, समुद्र की बालू की कोमलता, लहरो का ऑखमिचौली का खेल, चन्द्रमा की बादलो मे चल रही लुका-छिपी, यह सूची कभी भी समाप्त न होगी।

सुख के इन क्षणों को धनिक अपनी तिजोरी मे बन्द करके नहीं रख सकते और न सत्ता उन्हे सगीनों के पहरे मे बंदी करके रख सकती है। वे हरएक के है। इस मे सदेह नहीं कि मनुष्य की अपेक्षा निसर्ग ही समाज धर्म को अधिक सरलता से समझता है।

सुख की खोज के पीछे भटकनेवाले लोगो को यह कल्पना भी कहॉ होती है कि सिर्फ घर की चहारदीवारी के भीतर ही सुख की कितनी खानें विद्यमान है। वे अमृत के लिये स्वर्ग में भटकेगे। लेकिन सच्चे अमृत-घट तो उनके घर में ही होते है। बोरकर[३] ने इन मन-मौजियो से जो प्रश्न पूछा है वह कितना मार्मिक है—

---

१ 'अन्तरतम के ज्ञान-दीप को न बुझा।'

२ 'पैजनियों को झनक झनक बजाते हुए हमारे पास चले आओ बेटा !'

३ मराठी भाषा के एक प्रसिद्ध आधुनिक कवि।

‘ अमृत घट भरले तुझ्या घरीं
कां वणवण फिरसी बाजारीं ?
मोत्या इवला मनी सानुली
कुशींत कवळुनि त्यांना बसली
प्रेमें किति तव राजस बाळी
हें बघुनि कधीं रमलास उरीं ?
वडील वाचिति गाथा पोथी
काल तिथें तूं क्रमिलास किती ?
किंवा आई वळिते वाती
वदलास तिजशिं कधिं ऊरभरी ?
पाडस घरचें कितिदां आलें
गळा करुनि वर तुला बिलगलें
गोंजारुनि त्या कधि खाजविलें
कधिं दलें दिलिस त्या घांसभरी ? ’[१]

मनुष्य को ऐसे भावुक क्षण जुही के फूल की तरह बहुत छोटे – अनेक बार बिलकुल क्षुद्र लगते है। लेकिन Trifles make perfection and perfection is no trifle (पूर्णता का अर्थ है अनेक अपूर्ण बातो का सम्मेलन।) यह उक्ति जितनी सुख को लागू है उतनी और किसी को

१ ‘तेरे घर में ही अमृत के कुम्भ भरे हुए हैं। फिर उसकी खोज में तू बाज़ार-भर मारा-मारा क्यों फिरता है? अपने नन्हे बच्चों को हृदय से लगाकर तेरी सुंदर पत्नी कितने प्रेम से बैठी हुई है। यह देखकर क्या कभी तेरा हृदय आनंदविभोर हुआ है? तेरे पिताजी जब गाथा और पोथी पढते है, उस समय तू उनके पास जाकर कितनी देर बैठा है? अथवा जब तेरी माँ भगवान के दीये की बाती बटती रहती है, उस समय तूने उससे हृदय भरकर कभी बाते की हैं क्या? तेरे घर की गाय का बछडा कितनी ही बार तेरे पास आया। गर्दन उठाकर तेरे समीप ही मडराया है। पर क्या कभी तूने उसे सहलाकर उसकी गर्दन खुजाई है अथवा अपने हाथ से उसे ग्रास-भर दाना या घास खिलाया है?’

नहीं होगी। सस्कृत का एक सुभाषित है जिसे एक हिन्दी के दोहे में इस तरह कहा है – 'कौड़ी कौडी जोडके निधन होत धनवान। अक्षर अक्षर ते पढे, मूरख होत सुजान ॥' सुख में विद्या के विकास और लक्ष्मी के विलास का सगम हो जाने के कारण, वह क्षण की तरह कण कण से भी बढता रहता है।

लेकिन ठीक इसी बात का हमें अनेक बार ज्ञान नहीं होता। वर्डस्वर्थ कहता है कि मनुष्य का शत्रु मनुष्य है। लेकिन इससे भी अधिक एक कटु सत्य है। मनुष्य का सब से बड़ा शत्रु वह स्वयं ही है। गीता की दृष्टि से नहीं, बल्कि पूरी तरह व्यवहार की दृष्टि से। सुखी होने के लिये मनुष्य जब भी देखो, दुःखी होता रहता है। बचपन में पलने मे टंगी सुंदर चिड़िया को छोडकर, वह चन्दा मामा को पकडने का हठ करेगा, तरुणाई में गृह को स्वर्ग बना देनेवाली पत्नी की ओर पीठ फेरकर किसी हवा पर उड़नेवाली अप्सरा के पीछे दौडेगा और बुढापे में दुनिया के साथ दौडने में असमर्थ होने के कारण, सड़क के पत्थरो पर सिर पीटता बैठेगा। ईसाप की कहानी के बारहासिंगा के सुदर सीगो ने ही उसके प्राण लिये। यह अहकार कि जो मॉगू वह मिलना ही चाहिए, मनुष्य के सुख का सत्यानाश करता रहता है। वह दुनिया चाहता है, लेकिन सिर्फ अपने सुख के लिये ? दुनिया के सुख का अस्पष्ट-सा विचार भी उसके मन को कभी नहीं छूता।

रवीन्द्र की Gift (देन) नामकी एक रूपक-कथा है। यह सुनते ही कि स्वर्ण रथ में विराजमान होकर राजाधिराज पधार रहे है, भिक्षा से भरी अपनी झोली कॉख में दबाकर भिखारी बडी आशा से सडक के किनारे खडा हो जाता है। रथ उसके पास रुक जाता है। भिक्षुक के आनद की सीमा नहीं रहती। लेकिन भीतर बैठे राजाधिराज रथ से नीचे उतरते है और भिक्षुक से सामने हाथ फैलाकर भिक्षा मॉगते है। सोने के रथ मे बैठनेवाला राजा मुझ से भीख मॉगे ? उदात्त अभिमान की दृष्टि से कैसा विलक्षण प्रसग था ? लेकिन उस स्वार्थी भिखारी को इसका बोध ही नहीं हुआ। उसने झोली से एक दाना निकालकर राजा के हाथ पर रख दिया।

राजा एक शब्द भी न बोलकर चुपचाप चला गया। भिखारी अपनी झोपड़ी मे आया। उसने अपनी झोली जमीन पर खाली की। उसने देखा सब दानों के बीच एक सुनहला दाना जगमगा रहा है। उसने राजा को जो दाना दिया था उसी आकार का था वह। उससे न छोटा था और न बड़ा ही था। उस दाने की ओर देखकर वह भिक्षुक फूट-फूटकर रुदन करने लगा।

सुख के लिये छटपटानेवाले और वह नहीं मिलता है इसलिये रोनेवाले सारे लोग क्या इस भिखारी के समान ही गलती नहीं करते हैं? जब हम विश्वमोहिनी को स्वर्णरथ में आते देखते है, तब एकदम बडी उत्सुकता से आगे बढ़ते है। लेकिन आगे आकर जब वह हाथ फैलाती है, तब हम दुनिया भर के कंजूस बन जाते है। हम यह देखने लगते है कि कम से कम कितना कम दिया जा सकता है। और सुख का मूल मंत्र तो है – 'इस हाथ दे और उस हाथ ले।' यही नहीं, बल्कि पहले दूसरे को दिये बगैर – त्याग की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हुए बगैर – जो नहीं मिलती, ऐसी जग में एक ही अपूर्व चीज़ है और वह है सुख। प्रसव वेदना के प्राणान्तिक कष्ट सहन किये बिना माता को भी संतान-सुख का दर्शन नहीं होता।

बचपन में मुझे यह एक पहेली मालूम होती थी कि सुख की खोज करनेवाले समाचार-पत्रो मे अपनी इस गुमी चीज़ के बारे में विज्ञापन क्यों नहीं देते? लापता हुए लडको के मैंने इस तरह के बहुत से विज्ञापन पढ़े थे। पर अब मुझे लगता है – ऐसा विज्ञापन देना उनके लिये असभव है। विज्ञापन मे अपनी गुमी हुई चीज की अत्यन्त सूक्ष्म बातो का भी वर्णन देना चाहिए। लेकिन सुख का इतना सूक्ष्म रूप जिनकी ऑखो में अंकित हो गया है उन्हें यह जानने मे अधिक समय न लगेगा कि वह अपने आसपास ही कहीं खेल रहा है। बहुत ही हुआ, तो छोटे बच्चे की तरह कहीं छिपा बैठा होगा! दूर नहीं, बिलकुल निकट ही!

●●●

२३

रहस्य !

कल रात को भोजन के बाद मैने 'When I Was A Spy' नामक पुस्तक सहज ही पढने के लिये उठाई। मैने मन में यह विचार कर लिया था कि यदि पुस्तक कुछ अच्छी-सी लगी, तो चार-आठ दिन में समाप्त कर दूँगा, अन्यथा जहाँ ऊब जाऊँगा वहीं उसे छुट्टी दे दूँगा।

बचपन में कोई भी पुस्तक मैं लालची की तरह पढ़ा करता था। मेवा-मिठाई, पुस्तक और मित्र – इन तीनों के विषय मे आयु के अनुसार हमारे स्वभाव मे परिवर्तन हुआ करता है, इसमें संदेह नहीं। बचपन मे जब मैं बाज़ार से पेडो का पुडा लाकर माताजी को दिया करता, उस समय शायद ही कभी ऐसा होता था कि उसमे बधा हुआ धागा मेरे हाथ से अनजाने ढीला न हुआ हो। लेकिन आये दिन पेडो के व्यापारी विज्ञापनों के द्वारा स्वास्थ्य-सुधार की गैरंटी देते है, फिर भी अब पेडों को मैं बिलकुल हाथ नहीं लगाता। बचपन में प्रत्येक शाला का साथी हमे अपना जिगरी दोस्त मालूम होता है। मराठी शाला में नाम की समानता के कारण पानीपत की लडाई में गये भाऊसाहब का मै अवतार हूँ – यह मुझे ही लगता था यह

बात न थी। अपितु मेरा मुसलमान दोस्त इब्राहीम भी खुद अपने को इब्राहीम गारदी मानकर मुझ से दोस्ती निभाया करता था। आज तीस वर्ष के बाद मेरे जीवन मे आनेवाले – और शीघ्र ही उसमें से चल देनेवाले भी – मित्रो के और मेरे मित्र-सबंध की ओर देखता हूँ, तो बचपन के उस भोले भाव का स्मरण होकर जिस प्रकार हँसी आती है, उसी प्रकार मन क्षण-भर को गद्गद भी हो जाता है।

सच यही है कि उद्गम स्थान के निकट का स्फटिकवत् निर्मल नदी का जल आगे चलकर गदला हो जाता है। इस जग मे विस्तार और गहराई का लाभ कोई यूँ ही नहीं हो जाता। बचपन की भोली मनोवृत्ति न रह जाने के कारण, मै अब अनेक मित्रो से ज़रा संयम से ही बर्ताव करता हूँ और बहुत सी पुस्तकें भी अधूरी ही पढता हूँ। लेकिन महायुद्ध में देशाभिमान से प्रेरित होकर गुप्त जासूस का काम करनेवाली एक बेलजियन युवती की वह आत्म-कथा पढ़ते समय मेरी यह सतर्कता न जाने कहाँ चली गयी। काल का वेग से होनेवाला प्रवास घडी की टिकटिक के रूप में शान्त रात मे अपने अस्तित्व का भान कराता है। लेकिन इस पुस्तक को पढ़ते समय एक बार भी मुझे उसकी आहट सुनाई न पड़ी। मेरे कमरे का द्वार खुला ही था। लेकिन यदि हलफ़ उठाकर यह कहने का मौक़ा आता कि बाहर ऑगन में चॉदनी थी अथवा अँधेरा, तो लोग मुझे पागलों में ही गिनते। बीच ही मे ऑखें चरचराकर ज़रा शिकायत करतीं, पर उत्कंठित मन के आगे उन बेचारियों का क्या चल सकता था?

पुस्तक समाप्त कर मैंने घडी देखी। तीन बज चुके थे। मुझे अपने जीवन की इस तरह की रातें याद हो आयीं। बचपन में 'उषःकाल'[१] और 'कालिकामूर्ति'[२] उपन्यासों को मैंने रात-भर जागकर ही पढा था। दस वर्ष पहले हार्डी का 'Two On A Tower' इसी तरह आधी

१ मराठी के आद्य उपन्यासकार हरि नारायण आपटे द्वारा लिखित एक मराठी ऐतिहासिक उपन्यास।

२ रेनाल्ड के एक उपन्यास का मराठी अनुवाद।

रात को समाप्त करके सुबह की नौबत बजते तक बाहर फैले हुए अँधेरे की ओर मैं देखता हुआ बैठा था ।

ये चारों पुस्तकें साहित्यिक गुणो की दृष्टि से कितनी भिन्न है ! मेरी पढी हुई इस देशभक्त युवती की आत्मकथा की अपेक्षा बुद्धि को सचालित करनेवाली और हृदय को हिला देनेवाली कोई कम पुस्तकें मैने नहीं पढी थीं । शॉ और इब्सेन के तीन-चार नाटक अथवा चेखव और ओ हेन्री की कुछ कहानियॉ मै अभी भी नहीं भूला हूँ । लेकिन उन सब के आसपास दीपक का प्रकाश – बहुत ही हुआ तो दस बजे तक जलनेवाले दीपक का प्रकाश – मुझे दिखता है । आधी रात को साक्षी रखकर पढी हुई पुस्तकें उन मे बहुत ही कम है । इसलिये ऐसी पुस्तकों मे कोई निराला ही आकर्षण होना चाहिए ।

मैंने कमरे के बाहर आकर देखा । कोई पहचान न ले इसलिये रजनी ने अपने आप को कृष्ण वस्त्र से पूर्णरूपेण आच्छादित कर लिया था । परंतु इतनी सावधानी बरतने पर भी क्षण क्षण में पृथ्वी की ओर देखकर अपनी हजारों ऑखे मिचकाने का मोह उससे सवरण नहीं हो रहा था । मेरे मन में आया – इस ऑखें मिचकाने का क्या अर्थ होगा ? कौन से दृश्य देखने के कारण रात पृथ्वीपर इस तरह हॅसती होगी ? चट से उत्तर आया – विश्व में के सारे रहस्यों का पता क्या रात को ही नहीं चलता ? सूर्यप्रकाश में मनुष्य के जीवन का नाटक होता रहता है । लेकिन रात का परदा गिर जाने पर प्रत्येक व्यक्ति जग के रग-मच से स्वय अपने मन्दिर मे आता है । उसके अन्तःकरण की आशाओं और आकाक्षाओ को प्रकट होने के लिये इससे अधिक अनुकूल समय और कौन सा होगा ? मनुष्यों को दिखनेवाले स्वप्न दिखाई दिये बिना क्या रजनीदेवी की ये अनत ऑखें इस तरह शरारत से मन्द हास्य करती होंगी ? केशवसुत[१] ने दिन को रात से श्रेष्ठ सिद्ध करते समय अनेक काव्यमय कारण कहे है । लेकिन एक अत्यन्त सुन्दर कारण बतलाना वे भूल गये । दिन को मनुष्य बहुधा स्वप्न-सृष्टि में प्रवेश नहीं करता । कहीं भूला-भटका पहुँच ही गया, तो उस दिवा स्वप्न

१ मराठी भाषा के एक प्रसिद्ध कवि ।

में रात को निर्मित होनेवाली स्वप्न-सृष्टि के रहस्यपूर्ण नवरसों का त्रुटित प्रवाह भी नहीं दिखेगा।

बाह्यतः जिन विकारों का निदान करते नहीं बनता, उनकी उत्पत्ति अनेक बार रोगियों को दिखनेवाले स्वप्नों से निश्चित हो सकती है। मानवी मन कितना रहस्यप्रिय है, इसके लिये और दूसरे प्रमाण की क्या आवश्यकता ? लेकिन यदि उसकी ज़रूरत हो तो जिसने हाल ही में चलना आरभ किया है, उस बालक की लीलाएँ देखिए। वह द्वार की आड में अथवा किसी कोने में छिपकर बैठ जाता है और उसे खोजने आयी उसकी बहन या माँ जब वहाँ से आगे बढ जाती है, तब हजरत इस तरह खुल्ल से हँस देते हैं कि उस दिन शाम को बालक की दीठ निकालना कोई भी न भूलेगा। लुका-छिपी की रुचि क्या रहस्यमय मानवी वृत्ति का बाल रूप ही नहीं है ?

और इसी लिये मनुष्य जितना स्वय अपने रहस्य को गोपनीय रखने के लिये उत्सुक रहता है, उतना ही वह दूसरे के रहस्य को जानने के लिये उत्कंठित होता है। 'When I Was A Spy' वाली कथा में मै जो इतना रम गया उसका मुख्य कारण यही था। अबला मानी गयी स्त्री देश के लिये कितनी वीर वृत्ति प्रकट करती है, इस का चित्रण भी इस कहानी में है। लेकिन यदि वह केवल देशाभिमान से रंगी हुई कहानी ही होती, तो उसका उत्तरार्ध दूसरे दिन सुबह भी पढ लेता। उस रात को हाथ से पुस्तक नीचे न रखी जाती थी। इसका कारण जासूस का काम करनेवाली नायिका पर एक के बाद एक आनेवाले वे विलक्षण प्रसग ! आधी रात को एक खिड़की से बाहर निकलनेवाले सफेद हाथ में खुफिया समाचार का कागज देना, गूँगे सिपाही का स्वाँग लेकर शत्रु को टेलिफ़ोन के द्वारा प्राप्त होनेवाली जानकारी का उद्गम-स्थान नष्ट कर देना, खुफिया खबरें प्राप्त करने के लिये अपने पर आसक्त हुए एक अफ़सर के साथ रहकर शील की रक्षा करना – सभी अद्भुत बाते थीं।

इस तत्त्व का कि मनुष्य बढ़ा हुआ बालक है, उस समय तीव्रता से अनुभव होता है। सिंदबाद जहाज़ी अथवा अलीबाबा को मिलाकर

इकतालीस चोरो की दिलचस्प कहानियाँ पढते समय बचपन में मैं भूख और प्यास भूल जाया करता था। इतनी बारिशे निकल गयीं। लेकिन मेरे मन की रहस्यप्रियता का वह अद्भुत रग आज भी फीका नहीं हुआ है। मेरे एक विद्वान मित्र जो विज्ञान के अध्यापक हैं किसी नाटक का एक अक पढ़ लेने के बाद अतिम पन्ने पहले उलटकर देखते है। यह देखकर दूसरों को यह शका आये बिना नहीं रहती कि क्रमशुद्ध सीढियो से किये जानेवाले और मन को उबा देनेवाले वैज्ञानिक प्रयोग ये महाशय कैसे करते होगे? लेकिन इस शंका का उत्तर अवश्य वे अत्यत मार्मिक देते है, 'पढाये जानेवाले वैज्ञानिक प्रयोगो का रहस्य मनुष्य को पहले से ही मालूम रहता है।'

अमेरिका, ध्रुव प्रदेश अथवा नागा पर्वत आदि की खोज करनेवाली मानवी प्रवृत्ति का उद्गम सिर्फ साहस मे नहीं है। उस साहस को भी जाग्रत करनेवाली एक गुप्त शक्ति होती है। वह है मनुष्य की रहस्यज्ञान की उत्कट इच्छा। महापुरुषो के चरित्रो की अपेक्षा उनके आत्मचरित्रो पर ही लोग टूट पडते है, इसका भी दूसरा और क्या कारण है? व्यक्ति के जीवन प्रवाह के भीतर छिपे हुए रहस्यो के, पृष्ठ-भाग पर धीरे से झॉक जाने की सभावना आत्म-चरित्रो में ही अधिक होती है। शेरीडन ने अपने 'School For Scandal' नामक नाटक में एक निदक दल की मर्कट-लीलाएँ बडे मनोरजक ढग से दिखायी हैं। मिस पायपर की बकरी को दो जुड़वॉ बच्चे हुए। यह समाचार लेडी डॅडिज़ी के कानो मे पडता है। कानों में ही कहना चाहिए, क्योकि उपरोक्त महिला पूर्णतया बहरी थी। उस बहरी महिलाने तुरत ही यह समाचार आगे बढाया कि कुमारी पायपर को ही जुड़वॉ बच्चे हुए है। बुरा समाचार आग की तरह तेजी से फैल जाता है। दूसरे दिन जहॉ तहॉ इस कुमारी माता पायपर की चर्चा शुरू हो गयी। यही नहीं, बल्कि लोगों ने यह भी निश्चित कर डाला कि इन जुडवॉ बच्चों का बाप कौन व्यक्ति होगा। मुझे लगता है कि इस प्रकार की अपवाहों के मूल मे भी परायी निंदा की तरह ही रहस्यप्रियता का भी शौक होता है। फर्क़ इतना ही है कि सच्चे रहस्य के अभाव में

बात का रग न उडे इसलिये अपने पल्ले की नमक-मिर्च लगाने में ये लोग आगापीछा नहीं देखते। जो मनुष्य जन्म लेता है उसके विषय का एक ही भविष्य-फल बिलकुल ठीक बताया जा सकता है। और वह यह है कि वह कभी न कभी मरेगा। लेकिन यह जानते हुए भी दैनिक, साप्ताहिक और मासिक भविष्य-फलो की ओर – और वह भी भिन्न भिन्न समाचार पत्रो मे – भक्तिभाव से पढनेवाले कितने ही लोग आजकल दिखाई देते है। दैनिक भविष्य-फल मे यदि लिखा है कि आज का दिन अच्छा है, तो इसका अर्थ यही होगा कि होटल में आज की दाल अच्छी बनेगी। साप्ताहिक भविष्य-फल मे यदि लिखा है कि सप्ताह लाभदायक है, तो किसी मित्र के साथ सिनेमा मुफ्त देखकर यह भविष्य-फल सच हो सकेगा। और मासिक भविष्य-फल का यह इशारा कि 'कन्या राशि के लोगों को सावधान रहना चाहिए', यह सूचित करता है कि इस महीने में अतिथियों की घर में भीड लगनेवाली है। व्यवहार-चतुर मनुष्य को यह बात यूँ भी सहज मालूम हो सकती थी। लेकिन 'कल' के परदे की ओट में छिपे रहस्यो को देखने की उत्कठा मे पक्के व्यवहार-कुशल मनुष्य भी पागल हो जाते है।

परतु, मनुष्य मात्र की रहस्यज्ञान की उत्सुकता कितनी भी विलक्षण रहे, फिर भी उसकी सम्पूर्ण तृप्ति कभी भी नहीं होती। महात्माजी के 'सत्य के प्रयोग' मैने बडे आदर से पढ़े है। लेकिन उसे पढकर इस बेचैनी मे कि गाधीजी के अन्तरग की कितनी ही बातें अभी मुझे जाननी ही हैं, मैने वह पुस्तक समाप्त की है। गडकरी[१]जी की 'यावज्जीवहि काय मी न कळले आप्ताप्रती नीटसें। मित्रातेहि कळे न गूढ न कळे माझें मलाही तसें॥'[२] – ये पंक्तियाँ महान् पुरुषो से लेकर क्षुद्र

१ राम गणेश गडकरी – मराठी भाषा के प्रसिद्ध कवि, नाटककार और साहित्यिक।

२ 'मेरे जीवन-भर मेरे आप्त-जनों को इसका पता न चला कि अतरतम मे मैं क्या हूँ और न यह रहस्य मेरे मित्रों को या कि स्वय मुझे ही ठीक तरह से ज्ञात हो पाया।'

व्यक्तियों तक सभी के विषय में क्या सच नहीं है ? मै जब अपने गत जीवन की ओर देखता हूँ तब उसमें के कितने ही प्रसगों की ओर देखते समय मैं स्वयं आश्चर्य-चकित हो जाता हूँ । क्या मेरे मुँह से इतने अमर्याद शब्द निकले होंगे ? क्या मै इतनी उजड्डता से पेश आया था ? जानबूझकर भी क्या मै इतना झूट बोल गया था । क्या यह सच है कि एक खास लडकी मेरी नजरों को दिखाई दे इसलिये कीर्तन की जरा भी रुचि न होते हुए भी एक मदिर मे मै सात दिन तक नियमित रूप से जाता रहा था । सच यही है कि स्टीवनसन की ' डॉक्टर जेकिल और मि हाइड ' की कहानियों की तरह प्रत्येक मनुष्य मे भी एक सज्जन और एक दुर्जन का अज्ञात मिश्रण हुआ रहता है । मनुष्य की आत्माएँ ही जब दो हो जाती है, तब यह स्पष्ट ही है कि उसका आत्म-चरित्र कभी भी पूर्ण सत्य नहीं होगा । ईसाई धर्म में पाप-मुक्त होने के लिये अन्तकाल में गुरु के पास अपने पापो का पहाडा पढने की प्रथा है । मुझे नहीं लगता कि उस समय भी मनुष्य अपने जीवन की एक एक बात स्वीकार कर लेता होगा । दुःख के आवेश में अथवा भय से ग्रस्त हो कर मनुष्य अपने हृदय-मदिर के द्वार खोलता है । लेकिन वह अपने मदिर के अन्तर-भाग में हमे भले ही आने दे, फिर भी अपने गुप्त सुरंग का वह किसी को भी पता नहीं चलने देगा । जिसके सहवास में बारह महीनो बसत की बहार रहती है उस पत्नी की, अथवा जिनके स्मितों में सदैव अरुणोदय ही विलसित रहता है उन बच्चों की ऑखों की ओर देखते हुए भी मनुष्य को कभी कभी ऐसा भ्रम होता ही है कि यह पानी अथाह है । वह सच हो अथवा झूठ, लेकिन मनुष्य प्राणी की रहस्य की रुचि उसमें प्रतिबिम्बित होती है, इस मे सदेह नहीं ।

● ● ●

२४

मिलता

दत-चिकित्सक के दवाखाने में अकेले बैठने का मौका आ गया। दुश्मन पर भी ऐसा मौका न आवे लेकिन मेरी बत्तीसी की पलटन का एक विद्रोही मुझ पर वह मौका ले आया था। यह देखने के लिये कि किस ग्रह की वक्र-दृष्टि के कारण मेरे दाँत में दर्द होने लगा, मैंने भिन्न भिन्न समाचार पत्रों में प्रकाशित विविध भविष्य-फलों को नहीं देखा, यह अच्छा ही हुआ। अन्यथा मेरा यह विश्वास हो जाता कि अखिल आकाशस्थ ग्रह-गोलों ने मेरे विरुद्ध षड्यंत्र रचा है। मैं सीधा दत-चिकित्सक के ही यहाँ जा पहुँचा। दाँत की पीडा के मारे और कुछ भी न सूझने के कारण डॉक्टर ने जो कुरसी दिखायी, उस पर जाकर बैठ गया, उसके कँधे पर छोटे बालक की तरह गर्दन टिका दी और मानव-जाति के पहले पूर्वज का यथाशक्ति अनुकरण करने के लिये अपना मुँह खोला। अर्ध निद्रित अवस्था में रहनेवाले मनुष्य की तरह डॉक्टर की हलचल और उनके हाथ में रखे शस्त्रों को मैं देख रहा था। लेकिन उनका मुझे जरा भी भय न लगा। डॉक्टर के उपचार से दाँत की पीड़ा जाती रही और उस दिन की सुपारी खाकर मैंने डॉक्टर से बिदा ली।

दूसरे दिन जब दवाखाना आया, तो डॉक्टर किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये बाहर चल दिये थे । वहाँ एक नौकर को छोड़कर और कोई भी न था । मै मुश्किल से दो तीन मिनट ही शान्ति से बैठा था तभी एक तरफ रखी हुई दत-कुरसी मेरी ऑखो के सामने खड़ी हो गयी ! मन मे आया – अमेरिका में जिस कुरसी पर बैठाकर मनुष्य को बिजली के द्वारा फॉसी की सजा देते हैं, वह शायद इसी तरह की रहती होगी ! जब कुरसी के ऊपरी भाग का, जहॉ कल मेने अपना सिर टिकाया था, स्मरण आया, तब तो मुझे एकदम केकडे की पकड की याद हो आयी । और दॉत साफ करनेवाला वह यात्रिक शस्त्र । दूर से उसकी आवाज हवाई जहाज की घरघर की तरह ही लगती होगी । बचपन मे पढी मार्क ट्वेन की दंत-चिकित्सक की कहानी एकदम याद हो आयी । दॉत उखाडते समय रोगी की गर्दन को ही सफाई से काट देनेवाला वह डॉक्टर —

लगने लगा जैसे बदन से पसीना छूट रहा है । कल उपचार कराते समय मन को कुछ भी न लगा था । लेकिन इस समय ? कहते है कि मन मनुष्य का सात जन्म का बैरी है, सो झूठ नहीं । हठीले बालक की तरह वह बार-बार उसी बात की ओर दौड़ने लगा । अगर नौकर से बातें करके वक्त काटूं, तो उससे आखिर बातें करूं भी किस विषय पर ? पिछले सप्ताह में उसने जो नौटकी का खेल देखा होगा, उसके बारे मे मैं कुछ भी नहीं जानता था । मैंने जो अंग्रेज़ी फिल्म देखी थी वह उसके लिये पूर्ण रूप से अपरिचित होगी । हमारे ज़ोरदार क्रिकेट के मैच उसकी नजर में नहीं के बराबर होगे । इसके विपरीत उसे कुश्तियो के जो दगल बिलकुल कठस्थ होगे उनका मुझ जैसे को क्या पता होगा । मै बडे असमजस में पड गया ।

इसी समय एक नहीं, दो नहीं, खासे चार आदमी एकदम दवाखाने में आकर उपस्थित हुए । मेरी जान मे जान आयी । •उनमें के हरएक का हाथ बीच मे अपने अपने गाल की ओर जाता था । इस के कारण तो मुझे उनके प्रति अधिक सहानुभूति होने लगी । यह सच है कि गोद में चिपकने का गुण होता है । लेकिन वह जब तक सूखी रहती है, तब तक

उसका वह गुण प्रकट नहीं होता। मनुष्य की सहानुभूति का भी यही हाल है। आँसुओ के बिना वह मनुष्यों के मनो को कभी एक नहीं कर सकती। बात-की-बात मे हम पाँचो मनुष्य मित्रता के नाते एक दूसरे से बातें करने लगे। इस संभाषण-सरिता का उद्‌गम यद्यपि दाँत के दर्द में था, तथापि आगे चलकर वह अनंत मुखो से बहने लगी। जिस ने पहले यह कहा था कि सिर्फ एक वर्ष पहले मै अपने दाँतों से आलू बोखारे के बीज किस तरह कटाकट फोड डालता था, वही आगे चलकर 'नीला नागिन' के चरित्र का वर्णन करने लगा। दूसरा अपने दाँत में लगे कीट से जो कूदा सो आकर समाज में लगे कीट पर पहुँचा। वह एकदम चिल्लाकर बोला, — 'आज समाज को यदि किसी की जरूरत है, तो वह है दाँतो के डॉक्टरो की।'

ठीक इसी समय डॉक्टर लौटकर आये। इसलिये हमारी गप्पो का प्रवाह एकदम मरु-भूमि में लुप्त हो गया। डॉक्टर ने चारो ओर दृष्टि दौडायी। इतनी देर तक मित्र की तरह लगनेवाले वे चारो मुझे एक क्षण में शत्रु की तरह प्रतीत होने लगे। डॉक्टर को इसका पता न था कि पहले कौन आया है। वे पहले इन चारो की जाँच करेगे और बाद मे मेरी — डॉक्टर के जेब का अथवा मेरे उन भूतपूर्व मित्रो के दाँतो का विचार न कर, मैंने मन मे कहा, — 'ये चारो यहाँ मरने आये क्यो?' उनमे से एक को कुरसी पर बैठाने के लिये जब डॉक्टर भीतर ले गये, तब तो मै इतना चिढ़ गया था कि यदि दर्द दे रहे दाँत का भय न होता, तो मैं अपने दाँत-ओंठ चबाने से भी बाज न आता।

'पूर्व-जन्म के बैरी जिन्हे कहते है, वे ये हैं।' — कुछ इस प्रकार का विचार इन नूतन मित्रों के विषय मे, मेरे मन मे आ गया।

जब जब 'वह मेरा जिगरी दोस्त है' उद्‌गार मेरे कानो में पडते है, तब तब मुझे दवाखाने के इस प्रसग की याद हो आती है। जब मुझ से बात करने के लिये कोई न था, तब जो लोग मुझे मित्र की तरह लगे, वही यह विश्वास होते ही कि वे मेरा समय नष्ट करेंगे, मुझे शत्रु की तरह लगने लगे। किसी भी तरह क्यों न हो जो हमारे आड़े आयेगा वह शत्रु है और जो हमारी सहायता करेगा वह मित्र है। मित्रता के ऊपर का यदि मुलम्मा हटा दिया जावे, तो भीतर क्या हमेशा यही भयानक सत्य नहीं दिखाई देता?

और यह कोई आजकल का ही अनुभव नहीं है। पुराणों में ऐसा वर्णन है कि कृष्ण और अर्जुन की मित्रता बिलकुल नजर लग जाने लायक थी। अर्जुन को सुभद्रा मिले इसलिये कृष्ण ने क्या कुछ भी उठा रखा था? कितने प्रयत्न किये थे उसने? यदि कभी यह सिद्ध हो गया कि अर्जुन की तीर्थयात्रा में श्रीकृष्ण ने उस सन्यासी का अगोछा रंगने के लिये गेरू की पुड़ियाँ भेजीं थीं, तो कम से कम मुझे तो कोई अचभा न होगा। जो स्थिति विवाह की वही युद्ध की। कृष्ण ने अपना सारा पाडित्य खर्च करके अर्जुन को आखिर युद्ध के लिये प्रवृत्त कर ही दिया। जिस ने जीवन के प्रेम और युद्ध जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रसगो पर अर्जुन का साथ दिया, वही भगवान श्रीकृष्ण एक शराबी गंधर्व के लिये उस पर शस्त्र चलावें, क्या यह विलक्षण आश्चर्य की बात नहीं है? लेकिन इस मे आश्चर्य भी काहे का? सुभद्रा के विवाह मे बलराम की इच्छा के भग होने का सवाल था, कृष्ण की इच्छा का नहीं। महाभारत के युद्ध मे भी पाडवो को सूजी के अग्रभाग पर रह सके इतनी भी मृत्तिका न देनेवाले दुर्योधन से राजदड छीन लेना था। इस में कृष्ण की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं हो रहा था। परंतु चित्ररथ गधर्व के मामले में सभी बातें भिन्न हो गयीं। स्वय अपनी बात या अर्जुन की बात? मैंने गालव को जो वचन दिया है वह भग करूँ, या कि अर्जुन ने द्रौपदी को जो वचन दिया है उसे भग करूँ? इस परिस्थिति में यदि कृष्ण ने अपनी बदनामी की परवाह न करके, अर्जुन का पक्ष लिया होता, तो आदर्श मित्र का यह उदाहरण ससार के इतिहास मे अमर हो जाता। सच पूछा जाय तो चाहे गालव गगा मे डूब जाता अथवा चित्ररथ का विमान धरती पर गिरकर चकनाचूर हो जाता, फिर भी कृष्ण और अर्जुन को इस के लिये दुःख करने का कोई कारण न था। लेकिन हरएक अनजाने अहभाव हावी हो गया। मैं – मेरा वचन – मेरा शब्द! इस प्रकार के अहभाव का जन्म, क्या मैत्री की मृत्यु ही नहीं है?

मुझे अपने बचपन की एक बात हमेशा याद आती है। क्रिकेट खेलते वक्त हम लोग कुलनाम के क्रमानुसार खेला करते थे। जिस दिन 'ए'

से खेल शुरू होता उस दिन मुझे खेलने जल्दी मिल जाता। उस दिन 'के' के बाद के कुलनाम वाले लड़के मुझे अपने मित्र लगा करते। लेकिन जिस दिन 'जेड' से खेल आरंभ होता तो वह मेरे खेलने के आडे आता। उस समय मेरे मन में यह विचार आने लगता कि 'ए' से लेकर 'के' तक के कुलनाम वाले मनुष्यों ने इन लडकों को आज सुबह दत्तक क्यों नहीं ले लिया। दो घटे के खेल की यह वृत्ति साठ-सत्तर वर्ष के जीवन मे भी हर घडी दृष्टिगोचर होती है। कुडली के ग्रह देखिए, अथवा पृथ्वी के राष्ट्र लीजिए, उनकी मैत्री मे स्थिरता कहीं बिलकुल है ही नहीं। इसलिये कभी कभी ऐसा लगता है कि मित्रता पारे की तरह है। स्नेह-बन्धन की नली मे बन्द कर देने पर भी लाभ की गरमी लगे बिना वह नहीं चढ़ता। कभी कभी मित्रता का हवा से ही आधिक साम्य दिखाई देता है। वीरान भूमि पर साँय साँय बहनेवाली हवा कितनी भयानक प्रतीत होती है। लेकिन वही जब बांसों से भरी भूमि मे बहती है, तो तुरत ही उसका नूर ही नहीं, बल्कि स्वर भी बदल जाता है। यदि कहीं सुदर अलगोजा मिल जाये, तब तो कुछ पूछिए ही नहीं। वह इतनी आनदित हो जाती है जैसे कोई नन्ही बालिका गले मे बाहे डालकर और गाल से गाल लगाकर अपने प्रिय तोतले बोल ही सुना रही है।

निसर्ग ने ही जिनका गठबधन कर दिया है उन स्त्री-पुरुषो की मित्रता भी देखिए। मैं इस बात का समर्थन करता हूँ कि तरुणतरुणियो को एक दूसरे की पसंदगी से विवाह करना चाहिए। परंतु ऐसे विवाहों को मैं 'प्रेम-विवाह' कहने के लिये तैयार नहीं हूँ। आम की मजरी कोई रसीला आम्र का फल नहीं। हिंदू समाज की कुछ जातियो मे विवाह के बाद पाँच वर्ष तक वधू को जो 'मगलागौरी' की पूजा करनी पडती है, इसका कारण भी दूसरा क्या होगा? प्रेम किस तरह प्राप्त किया जाय, यह बात गौरी के सिवा दुनिया में दूसरी कोई भी स्त्री न जानती होगी। और विवाह के पहले का प्रेम भले ही रेडियम के काँटेवाली सोने की घडी हो, फिर भी यह गैरटी कोई भी नहीं दे सकता कि वह बरसो तक ठीक से चलती रहेगी! स्त्री-पुरुषों के प्रणय से विवाह, और विवाह से प्रेम

उत्पन्न होता है। यही नहीं, बल्कि यह कहने में भी हर्ज नहीं कि संतति और सकट एक के बाद एक आने लगे, तो उनकी मित्रता की लता पर फूल खिलने लगते हैं। स्त्री-पुरुषों के प्रेम को स्वर्ग के अमृत से लेकर पाताल की गगा तक हजारों उपमाएँ कवियों ने दी होंगी। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से यदि कहा जावे, तो वह नीबू का अथान है। जैसे जैसे पुराना होता है, वैसे वैसे अधिक मूल्यवान होता जाता है।

दाम्पत्य-प्रेम और दीर्घकाल तक टिकनेवाली मित्रता का रासायनिक पृथक्करण न किये बिना ही सहज यह दिखाई देगा कि त्याग के बिना उनकी मिठास नहीं बढती। लेकिन इस त्याग के एकपक्षीय होने से काम नहीं चलेगा। नहीं तो पृथ्वी का पूर्व गोलार्ध पश्चिम गोलार्ध के लिये त्याग करने का निश्चय करे, तो सारे जग मे शान्ति प्रस्थापना होने की सभावना है। सीता का त्याग करते समय राम के हृदय को क्या वेदनाएँ हुई होंगी, इसकी मुझे कल्पना होती है। परतु यह होते हुए भी मै यही कहूँगा कि यह त्याग एकांगी ही था! यदि आदिकवि यह चित्र रँगते कि राम यह जानते थे कि सीतात्याग की अपेक्षा राजत्याग अच्छा है, फिर भी सीताने इस विचार से उन्हें परावृत्त कर दिया, तो क्या यह अधिक अच्छा न होता?

इस दृष्टि से यदि देखें तो मित्रता की पर्वतमालिका के उत्तुग शिखरों की हैसियत से गांधारी और तानाजी की ओर ही दृष्टि जाती है। यह देखकर कि पति को दृष्टि-सुख मिलना सभव नहीं है, आँखोंवाली होकर भी आनंद से अधी हो जानेवाली वह गाधारी! तानाजी पुत्र के विवाह का निमत्रण देने के लिये शिवाजी के पास गया था। लेकिन शिवाजी के कोंडाणा किले की ओर दृष्टि फेरते ही उस किले को जीतने के लिये कैसे तीर की तरह एकदम चल पड़ा था वह! गढ जीतनेवाले उस सिंह की निष्प्राण देह देखकर, शिवाजी द्वारा बहाए गये वे आँसू! मृत्युलोक को यदि अमृत कभी देखने मिला था, तो सिर्फ उसी दिन। उन आँसुओं ने मित्रता को ससार में अमर कर दिया।

• • •

२५

रम्य और रम्यतम

मोटर खर्र-से आवाज करके रुक गयी। एकदम मेरा कलेजा मुँह को आ गया। दुर्घटना के भय से नहीं, अपितु इस विचार से कि मोटर कितनी बिगडी होगी? एक सस्कृत सुभाषितकार ने बिना झगडे का गॉव, न ठगनेवाला दूकानदार, रत्ती-भर भी सोना न चुरानेवाला सुनार इत्यादि असभाव्य बातो की एक सूची बनायी है। उसके जमाने में मोटरें होतीं, तो इस सूची मे, रास्ते मे न बिगडनेवाली मोटर को अग्र-पूजा का सम्मान वह अवश्य देता। कभी भी देखिए बहत्तर रोगों में से मोटर को एक न एक रोग हुआ ही रहता है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि टायर के पक्चर हो जाने को यदि गठिया मानें, तो पेट्रोल की समाप्ति को तपेदिक कह सकते हैं। लेकिन इस के कारण सफर में, बीच ही मे लटके रहने के कार्य-क्रम में कोई फर्क नहीं पड़ता।

यह जानने के लिये कि मोटर बहत्तर में से किस नबर के रोग का शिकार हो गयी है, मैंने ड्राइवर के चेहरे की ओर दृष्टि घुमायी। वह गभीर मुद्रा से सामने देख रहा था। गीता में स्थितप्रज्ञ का जो वर्णन किया है, वह उस पर हू-बहू लागू हो सकता। मैने भी सामने नज़र

दौडायी। 'नमवी पहा भूमि हा चालताना '[१] के ठाट से एक पुलिस का सिपाही मोटर की दिशा में चला आ रहा था। ड्राइवर ने मुड़कर बिना पीछे देखे ही दोन-तीन सवारियो के चटसे नाम लिये और उन्हें फौरन मोटर से नीचे उतरकर सडक से चल देने का हुक्म फरमाया। मोटर रोककर पुलिस की आँखों में धूल झोकने की इस राजनैतिक चाल को देखकर, मेरे मन में यह विचार आये बिना न रहा, कि इसे यदि पेशबाशाही मे जन्म प्राप्त होता, तो यह बुद्धि का सागर नाना फडनवीस को भी मात दे देता। बेचारे वे मुसाफिर यह देखकर कि तुकाराम महाराज के 'कई पलगी शयन '[२] अभग[३] की सत्यता बीसवीं शताब्दि मे भी बनी हुई है, आश्चर्यचकित होकर चलने लगे। पुलिसवाले के सामने से वे निकले। लेकिन उसने उन लोगों पर कोई ध्यान ही न दिया। हमारे ड्राइवर ने यूँ ही मोटर रोक दी। उस समय मुझे यह लगा बिना न रहा कि वह नजदीक से निकल जाती, तब भी सामने से आ रहे महात्मा को उसका कुछ भी पता न चलता। अन्त में सिंह के चेहरे से लेकिन चिऊँटी की चाल से हजरत मोटर के पास तशरीफ लाये। भीतर की सवारियो की मर्दनशुमारी करते वक्त आपने प्रथम सारी बुद्धिमत्ता खर्च कर डाली। नियत संख्या से एक भी सवारी अधिक न थी। इसके बाद जनाब की नजर टप पर रखे सामान की तरफ मुडी। पुण्यप्रभाव[४] में ऐसा मनोरंजक प्रसग है जब अपने ही घर में सुदाम[५] एक सदूक के भीतर छिप जाता है और यह सोचकर कि दामिनी[६] का पति बाहर आया है नूपुर[७] भी उसी का आश्रय लेता है।

१ 'देखिए, चलते हुए वह भूमि को नवा रहा है।'
२ 'कभी पलग पर सोना तो कभी जमीन पर।'
३ एक पद्य प्रकार।
४ गडकरीजी का एक मराठी नाटक।
५ उक्त नाटक का एक पात्र।
६ उक्त नाटक की एक पात्री।
७ उसी नाटक का एक पात्र।

पहले मुझे लगा कि उक्त पुलिस के सिपाही ने कल रात को 'पुण्य-प्रभाव' मुफ्त में देखा होगा और इसलिये टप पर रखे ट्रंक पर उसे शक हुआ होगा। लेकिन इसी समय पीछे बैठे हुए मुसाफिरों में कानाफूसी होने लगी। उससे इतना ही निष्कर्ष निकला कि यह विश्वास हो जाने के कारण कि आजकल गोवा से बहुत सी शराब चोरी से इस तरफ लायी जाती है, पुलिस की निगरानी ज़रा अधिक कड़ी हो गयी है। इसी समय पुलिस महाशय का निरीक्षण भी समाप्त हुआ। उसने एक ट्रंक की ओर अँगुली दिखाकर ड्राइवर से पूछा,– 'उस में क्या है?' ड्राइवर ने मेरी ओर देखकर उत्तर दिया,– 'इन साहब का ट्रंक है वह।' साहब और पुलिस की नजरे मिलीं। 'पुस्तकें है उसमें।'– मैंने शान से जवाब दिया। वैसे मै कोई चोटी का झूठ बोलनेवाला नहीं हूँ। लेकिन सफर पर निकले मनुष्य के ट्रंक में क्या है, यह अक्षरशः बताना सत्यनारायण की कथा अथवा गरम मसाला के लिये आवश्यक चीज़ों की सूची तैयार करने की तरह ही उबा देनेवाला काम था। मेरा उत्तर सुनते ही उस पुलिसवाले की मुद्रा प्रसन्न हो गयी। 'कॉलेज में पढ़ते हो शायद?'– उसने गभीरता से प्रश्न किया। प्रसन्न वदन से मैने उत्तर दिया,– 'हॉ'।

इसके बाद दो-तीन दिन तक कितनी ही बार यह बात मैंने अपने मित्रों और मित्रानियों से कही। लेकिन इस प्रसंग का वर्णन करते समय ड्राइवर ने पुलिसवाले को कैसा चकमा दिया, इस बात की अपेक्षा पुलिसवाले ने मेरी ओर देखकर मेरी आयु के बारे मे कैसा धोखा खाया और मुझे बीस वर्ष का कॉलेज का विद्यार्थी समझकर उसने मेरे ट्रंक की जॉच किस तरह की, इस बात पर ही मैं अधिक जोर देता था। सिर्फ कचकच बचाने के लिये यदि मैंने पुलिसवाले को इस भ्रम मे रखा होता कि मै कॉलेज का विद्यार्थी हूँ, तो उस प्रसंग को रंगकर कहने में मेरे मन को इतना आनद न होता।

लेकिन मधुर चरण अथवा सुंदर पँक्ति को बार-बार दुहराकर ही क्या गवैया अपने गाने का आनद नहीं बढ़ाता? मन भी गवैये की तरह ही होता है। उस पुलिसवाले को यह कल्पना ही न होगी कि चालीस की

सीमा के पार हुए मुझ जैसे प्रौढ़ को यौवन का सर्टिफिकेट देते समय, मैं इस मनुष्य के अन्तःकरण की आनद की भावना खिला रहा हूँ। लेकिन मेरे मन की लता पर उसके सीधे-सादे शब्दों से ही बहार आ गयी, यह सच है।

मनुष्यमात्र की यह जन्मतः प्रवृत्ति ही होती है कि दूसरे हमें तरुण समझें। आइ० सी० एस्० के लिये उम्र चुरानेवाले उम्मेदवार की अपेक्षा कोई कारण न होते हुए भी उम्र चुरानेवाले महाशयो की (इनमें गृहिणियाँ सम्मिलित हैं ही) सख्या कितनी गुनी अधिक होगी ? पेन्शन पर न बैठना पडे इसलिये जवानी को सम्मानित करनेवाले कर्मचारी, और अपनी उम्र के आकडे की ओर देखकर, वर महाशय की ऑखे एकदम उलट न जावें, इसलिये तरुणाई का आश्रय लेनेवाली कुमारिकाओं की यौवन-भक्ति निरपेक्ष नहीं होती। लेकिन लेखक के व्यवसाय में वयोवृद्धता ज्ञान की वृद्धि ही दर्शाती है, फिर भी जब पुलिसवाले ने मुझे बीस वर्ष का माना, तब मेरा मन कितना हर्षविभोर हो गया ? ऐसा क्यो होना चाहिए ? सच यही है कि मनुष्यमात्र में यौवन के लिये अहेतुक पर उत्कट लालसा होती है।

मैंने कहीं पढा है कि जब राजा दशरथ ने अपने सिर का एक बाल सफेद देखा, तो तुरत ही उन्होंने वशिष्ठजी को बुलवाकर श्रीरामचन्द्रजी को युवराज की हैसियत से सिंहासन पर बैठाने की योजना निश्चित कर डाली। लेकिन मुझे यह बिलकुल सच नहीं लगता। बुढापे के झडे के आगे मनुष्य सरलता से अपनी गर्दन नहीं झुकायेगा। वशिष्ठजी को बुलवाने से पहले दशरथने नायी को बुलवाकर उस सफेद बाल को निकालने का इंतजाम ज़रूर किया होगा। यदि कोई समाजशास्त्रवेत्ता बालों के खिजाब, नकली दॉत, नकली बाल इत्यादि के व्यापारियों से मुलाकात करे तो उसे पता चल जायेगा कि मै जो कहता हूँ, वही सच है। मनुष्यमात्र जग के मोहिनीमत्र से सदैव मोहित रहता है। इसलिये जब दुनिया उसे

तरुण समझने लगती है, तब वह भी इस भावना मे कि मै तरुण हूँ, रम जाता है और तारुण्य का खिलता हुआ उत्साह उसे प्राप्त होता है।

लेकिन अनेक लोगों का यह आक्षेप है कि मनुष्य की तारुण्य के प्रति यह आसक्ति ठीक नहीं है। वे कहते है, भोगो का उपभोग करने से भोगलालसा कम नहीं होती। ययातिने अपने राज्य के बदले अपने पुत्र का तारुण्य खरीद लिया। लेकिन अन्त मे उसके उपभोग की तृप्ति कहाँ हुई? कहते है कि वॉरनॉफ की पद्धति से बदर-ग्रथि लगवा लेनेवाले वृद्ध कुछ दिन प्रणयचेष्टा कर सके, लेकिन अन्त में उनकी करुण कथा मूल पद पर ही आ गयी। अपने को तरुण कहलवा लेनेवाले मनुष्य की उमग की जड मे भी अतृप्त उपभोग के सिवा और क्या हो सकता है?

मुझे यह विचारसरिणी ही नहीं जॅचती। यह सच है कि तारुण्य का आभास मुझे भी गुदगुदा देता है। लेकिन वह इसलिये नहीं कि उसके कारण प्रणय जैसे विशिष्ट उपभोग की सभावना बढ जाती है! बल्कि इस मधुर कल्पना से कि उत्कटता और सहृदयता से जीवन जीने की मेरी मर्यादा अभी समाप्त नहीं हुई है। सत्रह वर्ष पहले सावतवाडी के पास एक पहाड़ी पर मै और मेरे मित्र केशवसुत[1] की कविताएँ पढने मे तल्लीन हो गये थे, तभी अकस्मात जोर की बारिश हो गयी। हमने पुस्तक को सुरक्षित रखने के सिवा उस बारिश की कोई परवाह न की। उस दिन जब हम घर लौटे, तब केवल हमारे हृदय ही काव्यरस से आर्द्र नहीं थे, अपितु कपड़े भी भींगकर बिलकुल गीले हो गये थे! लेकिन अब जरूर पानी में उस तरह भींगने की मुझे हिम्मत नहीं पड़ती। ठड, जुकाम, खाँसी, निमोनिया इत्यादि की एक लंबी पलटन मेरी ऑखों के सामने एकदम खड़ी हो जाती है। आगे शिरोडा आने पर ठीक आधी रात को चॉदनी में समुद्र पर जाकर घूमने का हम लोगों ने केसा निश्चय किया, उस रात को कड़ुआ करेला खाने की स्पर्धा में मैं कैसे नहीं हारा, समुद्र से लौटने पर सुबह की नौबत बज चुकी थी फिर भी बिस्तर से पीठ न लगाए

१ मराठी भाषा के एक आधुनिक कवि।

शाला गया और वहाँ पढाने में किस तरह खो गया — अब वह उच्छृंखलता भी नहीं बची और उसके पीछे जो प्रबल उत्साह होता है, वह भी नहीं रहा। बचपन में मै काफी ऊँचाई से कूएँ मे कूदा हूँ। लेकिन अब जब वह मौका आ जाता है, तब मन मे एक प्रकार का भय आये बिना नहीं रहता।

प्रीति तारुण्य की मूर्धाभिषिक्ता देवी है। इस के विपरीत वृद्धावस्था में भय का ही राज्य बढता रहता है। शारीरिक शक्ति की उपरोक्त बातें छोड़ दीजिए। लेकिन क्या तारुण्य का ध्येयवाद का उत्साह भी आगे चलकर मुरझा नहीं जाता? जब मै पूरा बीस का भी नहीं हुआ था, तभी मैंने गॉव की एक प्राइवेट शिक्षासस्था को अपना जीवन अर्पित कर देने का निश्चय कर डाला। उस समय की अपेक्षा इस समय अधिक अनुकूल परिस्थिति होते हुए भी ऐसे कोई नये कार्य के लिये मेरा मन सशक हो जाता है। चाहे ऊँचे से बाढ में कूदना हो, अथवा उच्च ध्येय के लिये जीवन-सग्राम मे कूदना हो, तारुण्य ही निर्भयता से वह काम कर सकता है। सॉप को रस्सी मानकर उसके सहारे आधी रात को प्रणयिनी के मदिर में चढनेवाले तुलसीदास पचीस वर्ष के युवक ही होना चाहिए। मेरा मतलब यह नहीं कि चालीस या पचास की उम्र मे पति का पत्नी के प्रति प्रेम कम हो जाता है। कदाचित् वह अधिक सात्त्विक भी हो जाता हो! लेकिन ऐसा पति पत्नी की भेट के लिये कितना ही बेचैन हो जावे, फिर भी वह सईसाज होने से पहले ही ससुराल पहुँच जाने की सावधानी बरतेगा। और इतने पर भी यदि देर हो ही गयी, तो वह 'त्राटिका'[1] के 'प्रतापराव'[2] की तरह खुल्लमखुल्ला दरवाजा खटखटायेगा। उद्दडता से खिडकी से चढने की कोशिश नहीं करेगा। और गलती से खिडकी की तरफ गया भी, तो वहॉ से लटक रही रस्सी को सॉप समझते ही इतनी जोर से चिल्ला पडेगा कि घर के भीतर के लोग ही नहीं, बल्कि दरवाज़े के पहरी भी जागकर वहॉ दौडे आयेंगे।

तारुण्य प्रभात की स्वप्न-सृष्टि है, मर्त्य जग से चिपकी हुई यक्ष-भूमि

१ एक मराठी नाटक।

२ उक्त नाटक का एक पात्र।

है। और इसी लिये मोटर की जॉच करनेवाले उस अनामिक पुलिसवाले ने – थोड़ी देर के लिये ही क्यों न हो – जब रम्य तारुण्य के मोहक वलय मेरे आसपास निर्मित किये, तब उसके लिये उसे धन्यवाद दिये बगैर मुझ से नहीं रहा जाता। प्रणयकथाओ और प्रणयगीतो की सर्वकालीन एव सर्वदेशीय लोकप्रियता का कारण भी क्या तारुण्य की यह अमर तृषा ही नहीं है? हम अभी शिखर पर है, अभी हमारा उतार शुरू नहीं हुआ है और हमारी दृष्टि के टप्पे मे आनेवाला क्षितिज व्यापक है, इस आभास से भी मनुष्य को कितना उत्साह मिलता है। वह कितने ही नये नये गगनचुबी सकल्प करने लगता है। और वैसे देखा जाये तो जीवन की मिठास सिद्धि की अपेक्षा सकल्पो ने ही बढाई है। यह सोचकर कि जीतने के लिये अब दुनिया नहीं बची, सिकन्दर फूट फूटकर रोया, उसी क्षण वह वृद्ध हो गया। इसका इतिहास साक्षी है। कल्पना में रममाण होनेवाले कवि 'वह रम्य बचपन' कहकर अज्ञानमूलक आनद की मजे से प्रशसा करते रहे। सैनिक से लेकर ग्रथकार तक और रानी से लेकर मालन तक सब के हृदय सदैव मूकता से गुनगुनाते रहते है, – 'बचपन रम्य होगा, बुढ़ापा दूसरा बचपन होने के कारण वह भी रम्य होगा! पर तारुण्य रम्यतम है।'

● ● ●

२६

काव्य-दृष्टि

मै अपने एक मित्र को जानबूझकर मृच्छकटिक देखने ले गया था। इन मित्र महाशय की रसिकता का यह हाल था कि काव्य का नाम सुनते ही उनके ललाट पर बल पड़ जाते और 'नाटक' शब्द कानों में पड़ते ही जनाब के तेवर चढ़ जाया करते थे। लेकिन यह तो मेरा हमेशा का अनुभव है कि चाहे सृष्टिसौन्दर्य से सजे हुए प्रदेश मे सैर करनी- हो अथवा कोई मिष्टान्न उड़ाना हो, तो जब तक ऐसे सुख में कोई हिस्सेदार न हो तब तक उसकी मिठास नहीं बढती। इसलिये उस मित्र को उसकी इच्छा न होते हुए भी मै नाटक देखने ले आया था। नाटक जाने का अर्थ है जाग्रण, जाग्रण का मतलब है अपचन, अपचन यानी रोग, और रोग यानी मृत्यु– इस प्रकार की परपरा लगाकर उसने नाटक जाने से मेरे मन को परावृत्त करने का प्रयत्न किया। लेकिन इस तत्त्वज्ञान की शरण लेकर कि मृत्यु से कोई नहीं बचता, मै उसे करीब करीब खींचकर ही थिएटर में ले गया।

उसने कानून, डॉक्टरी, यत्र-विज्ञान और तत्त्वज्ञान इत्यादि रूखे विषयों को

केवल शौक के लिये इतना पढा था कि उन विषयो मे पास होनेकी इच्छा रखनेवाले विद्यार्थियो से भी उतनी पढाई न हो सकी होगी। लेकिन उसके इस ज्ञान का परिणाम नाटक देखते समय अत्यन्त विपरीत होने लगा। नाटक देखते समय परस्पर की बातचीत वास्तव में रेडिओ के मधुर सगीत की तरह होनी चाहिए। परतु उसकी बाते सुनकर, बरसात में रेडिओ में सुन पडनेवाली वातावरण की घरघराहट की ही मुझे याद हो आयी! पहले अक मे शकार जब वसतसेना का पीछा करता है, तब मेरे मित्र महाशय के लिये यही एक समस्या हो गयी कि पिनल कोड की अमुक धारा के अन्तर्गत उस पर मुकद्दमा चलाने की सभावना होते हुए वसतसेना पगली की तरह भाग क्यो रही है! दूसरे अक मे, चारुदत्त कर्णपूरक को उसकी वीरता के लिये अपना जो रेशमी दुपट्टा उपहार में देता है, कर्णपूरक वह वसतसेना को दिखाता है। तो उस समय चारुदत्त के अज्ञान पर मेरे मित्र को बडी दया आयी। एक प्रसिद्ध धनी परिवार का वह रेशमी दुपट्टा! क्या चारुदत्त के मस्तिष्क में यह नहीं आना चाहिए था कि अपने किसी प्रसिद्ध पूर्वज के स्मारक की हैसियत से उसकी कभी आगे चलकर अच्छी कीमत मिलेगी। मेरे मित्र की यह राय रही कि यदि कुछ देना ही था, तो चारुदत्त कर्णपूरक को एक सर्टिफिकेट लिख देता, तो पर्याप्त था। तीसरे अक से मृच्छकटिक पर और उसके साथ ही मेरे व्यवहार-कुशल मित्र के वक्तृत्व पर रंग चढ़ने लगा। शर्विलक की चोरी का संबंध बेकारी के बदले उसके मदनिका के प्रति प्रेम से होने के कारण मेरे मित्र ने यह अभिप्राय प्रकट किया कि मार्क्स की अपेक्षा फ्रॉइड का तत्त्वज्ञान ही अधिक व्यापक है। चारुदत्त चोरी गये जेवरो के बदले धूता की रत्नमाला वसतसेना के पास भेजता है। उस समय मेरा मित्र बडे आवेश से कहने लगा कि पत्नी के स्त्री-धन का उपयोग करने का पति को कोई अधिकार नहीं है। मुझे डर लगने लगा कि चारुदत्त पर खून के पहले ही प्रमाणो को नष्ट करने का अभियोग तीसरे अंक मे ही आ जाता है क्या! नजदीक बैठे हुए दर्शक यदि मेरे मित्र से चुप बैठने के लिये न कहते, तो धूता का वकालतनामा लेने के लिये किस

बैरिस्टर को तार देकर पूछा जाये, इसकी भी चर्चा करने से मेरे उपरोक्त मित्र महाशय बाज न आते।

नाटक के अभी और चार अक बाकी थे। प्रत्येक अक से मेरा मित्र क्या क्या सार निकालेगा, इस की मै कल्पना ही नही कर सकता था। चौथा अक कुशलपूर्वक समाप्त होता हुआ देखकर, मेरे मन मे यह विचार आया कि शृगार को जो रसों का राजा कहा है, सो उचित ही है। तुरत ही चारुदत्त का गीत भी शुरू हुआ—

'तेचि पुरुष दैवाचे ! साचे ॥ ध्रु० ॥
अंगें भरलीं जलधारांनीं।
ऐशा ललना स्वयें येउनि।'[1]

मैने थिएटर मे चारों ओर नजर दौडायी। सफेद मूँछों के आसपास की झुर्रियाँ न जाने कहाँ गायब हो गयी थीं। तरुण-तरुणियो को तो यह भ्रम होता होगा जैसे हम स्वर्ग में ही है। मुझे भी अपने जीवन के उस अत्यन्त मोहक क्षण का स्मरण हो आया। इसी समय मेरे नजदीक की वैज्ञानिक दृष्टि ने मुझे छेडा। माथे पर बल लाकर उसने पूछा,– 'क्योंजी, क्या तुम्हे लगता है कि इस चारुदत्त का वसतसेना से सच्चा प्रेम है?' अब इस असली रसिक से क्या कहा जाय? साफ साफ और प्रगाढ़ आलिंगन के दृश्य से बढकर और कौन सा सबूत दिया जाय प्रेम का? मैने कहा, – 'क्या तुम्हे लगता है कि नहीं है?'

'बेशक!'

'किस कारण?'

'अजी, यह वसतसेना बिलकुल भींगी हुई आयी है न?'

'हॉ! तो फिर?'

'अरे भई, तो फिर उसकी साडी बदलना छोडकर जो प्राणी उसे आलिंगन करने दौड़ पड़ता है, उसके प्रति उसका प्रेम है, यह कैसे कहे? अरे गीली साड़ी के कारण उसे निमोनिया हो जायेगा निमोनिया!'

१ 'वही पुरुष सच्चे भाग्यवान है, जिन्हे जल से सपूर्ण रूप से भींगी हुई युवती स्वयं ही आकर आलिंगन दे।'

सुगध का उपभोग करने मे कितना आनद होता है ! रास्ते से चलते समय दोनों ओर बबूल के पेड ही हो, फिर भी कोई हर्ज नहीं । क्या हमारी दृष्टि उनके कोमल पीले पुष्प-गुच्छो को देखकर, कम से कम क्षण-भर के लिये वहाँ स्थिर नहीं हो जाती ? मेरे कमरे की खिडकी के बाहर देखने से चूने की एक चक्की दिखाई देती है । एक दिन दोपहर को मक्खियों के कारण मुझे नींद नहीं आ रही थी । इसलिये मै सहज ही खिड़की के पास गया । बाहर देखा, तो चक्की चलानेवाला मनुष्य बालू की ढेरी पर कुछ बिछाकर आराम से सोया हुआ था । ऊपर सूरज गुस्से से बहुत बडबडा रहा था । लेकिन उसके एक शब्द की ओर भी बालू पर पड़े ऋषि का ध्यान न गया । शायद कोई मुझ पर हँसेगे भी । लेकिन मुझे यह स्वीकार करना ही होगा कि उस समय मेरे मन मे यह इच्छा चमक गयी कि कम से कम एक बार तो उस मनुष्य की तरह मै भी दोपहर को बालू की ढेरी पर सोकर देखूँ । अँधेरी रात मे जब हवा भूत की तरह नाचती हो, उस समय किसी तागा स्टैण्ड पर, ग्राहक के इन्तजार मे बैठे हुए तागेवाले को देखिए । उसका मारियल घोड़ा, प्रत्यक्ष बैठ जाने पर हिचकोले देनेवाला उसका तागा और किराये के लिये हुज्जत करनेवाली उसकी जीभ – इन सब को काव्य-देवी के कृपा-प्रसाद के कारण ऐसा करुण-रम्य स्वरूप प्राप्त हो जाता है कि क्षणभर रुककर, उसकी ओर देखे बिना मुझ से आगे बढा ही नहीं जाता । हमारे विवाह समारोह का स्वरूप अत्यत व्यावहारिक है, यह सच है । लेकिन गोरज मुहूर्त, अतरपाट, ध्रुवदर्शन इत्यादि एक एक बात क्या सुंदर भावगीत ही नहीं है ?

काव्य-दृष्टि सौन्दर्य का आभास होगी । लेकिन जग के कटु सत्य पर इस सौन्दर्य की शर्करा की पुटे चढाए बगैर उनको स्वीकार कौन करेगा ? आप मजे से कहे कि काव्य एक मुलम्मा है । मुलम्मे के जेवर को असली कहकर बेचना पाप है, इस के विषय में कोई बहस नहीं । लेकिन गरीब पति प्रिय पत्नी के दृष्टि-सुख के लिये यदि उसका उपयोग करे, तो उसमें अनुचित क्या है ? वैज्ञानिक दृष्टि को शल्य-क्रिया कहे तो काव्य-दृष्टि क्या उस क्रिया से पहले दी जानेवाली बेहोशी की दवा ही नहीं है ? क्लोरोफॉर्म

न देकर शल्य-चिकित्सा करना अनेक बार खतरनाक होता है। काव्य--दृष्टि के साथ न जुड़ी हुई वैज्ञानिक दृष्टि से मानवी जीवन की ओर देखना भी उसी तरह की एक गलती है।

और वैसे देखा जाय, तो जग में काव्य की क्या कमी है? सरसरानेवाले पीपल से लेकर कलकल करनेवाले निर्झर तक सभी का सगीत क्या कानों को सुखदायक नहीं लगता? मृगजल के सागर निर्मित करनेवाला ग्रीष्म का मध्यान्ह काल देखिए, अथवा प्रलय का स्मरण करा देनेवाली आषाढी अमावास्या की आधी रात देखिए, दोनों दृश्यों की भयानक भव्यता मन को एक-सा ही मोहित कर लेती है। 'भातुकली'[१] मे वर की माता[२] का अधिकार दिखाने के लिये लडनेवाली बालिका हो, अथवा स्वयं अपने घर मे पचास साल से निरपेक्ष सेवा-धर्म का आचरण करती आ रही वृद्ध विधवा हो, दोनों के दर्शन से हमारे मन की मुरली से मधुर स्वर ही निकलते है। कल्याण के सूबेदार की रूपवती बहू के प्रति शिवाजी महाराज का यह उद्‌गार कि 'हमारी माताजी यदि आप जैसी सुदरी होतीं, तो हमें भी आप जैसा ही रूप प्राप्त हुआ होता' पढकर, काव्य-दृष्टि की प्रशसा कौन न करेगा?

● ● ●

१ महाराष्ट्र में गुड़ियों के साथ खेला जानेवाला लड़कियो का एक लोकप्रिय खेल।

२ समधन।

२७

ग्वार की फलियाँ

मैं स्नान कर रहा था, उसी समय एक सब्जीवाली और मेरी पत्नी के बीच चल रही बातें सहज ही मेरे कानो में पडीं। मेरी पत्नी ग्वार की फलियाँ चुन-चुनकर ले रही थी। सेना मे भरती करते समय सिपाहियों की भी कोई इतनी बारीकी से जॉच न करता होगा! बहुत सी फलियों को कड़ी कहकर उसने लौटा दिया! मेरे मन मे यह शका आयी कि यह चुनाव का दगल अत मे कहीं स्पर्धा का रूप तो धारण न कर ले। इसके अतिरिक्त आजकल के बहुत से लोगों की तरह मुझे भी साम्यवाद की हवा लग चुकी है। इसलिये दुष्यत से हरिण पर बाण न छोडने की प्रार्थना करनेवाले ऋषि का रोब लाकर, मैने पत्नी से कहा,– 'यदि सभी कोमल फलियाँ तुम ले लोगी, तो वह गरीब कड़ी कहाँ बेचेगी? उसकी तो पूरी फलियाँ बिकनी चाहिए न?' श्रीमतीजी ने मेरे इस प्रश्न का हिटलर-मुसोलिनी की तरह तपाक से उत्तर दिया,– 'मुझे सब्जी खाने के लिये पकाना है, फेंकने के लिये नहीं?' कवि यदि सेनापति को अथवा गवैया मोटर ड्राइवर को उसके काम के बारे मे सलाह दे, तो यह कोई अक्लमंदी नहीं होती? इसलिये मै चुप हो गया।

लेकिन तौलिया से बदन सुखाते समय नाना प्रकार की कल्पनाएँ मेरे मन मे लहरा गयीं। जब कि मामूली सब्जी में भी कोमल और कड़ी फलियॉ एकत्र नहीं निभतीं, तब दुनिया मे पचीस के युवको की यदि साठ के बूढों से पद पद पर खटकती रहे, तो आश्चर्य क्या है ? तुरंत ही मेरे मन में एक विनोदपूर्ण विचार खड़ा हो गया – पुराना जलाओ, त्यागो, फोड़ो-तोड़ो आदि अर्थ की कविताएँ रचनेवाले के लिये ग्वार-फलियों का विषय कितना सुदर और नावीन्य-पूर्ण है ! बस ! फेक दो उन कडी फलियो को, कोमल और ताज़ी फलियॉ ही खायेंगे हम लोग, हमे पुराना नहीं चाहिए, हमे नये की जरूरत है ! क्रान्ति की जय हो ! – इस अर्थ की कविताएँ कितनी आवेशपूर्ण होगी।

घर मे आते ही उन कोमल और लहलही फलियो को हाथ मे लेने की इच्छा मै रोक न सका ! श्रीमतीजी ने सौदा तो बहुत अच्छा किया था। उनमें कसम खाने के लिये भी कोई कडी फली न थी। लेकिन दुनिया मे जो एक का सुख होता है, वही दूसरे का दुःख हो जाता है ! उस सब्ज़ीवाली के पास सारी कडी फलियॉ ही बच गयीं। सारी सब्जी बिक जायेगी, तभी तो बेचारी को दोपहर मे पेट-भर भोजन नसीब होगा ! अब उन कड़ी फलियों को कौन खरीदेगा ? अरेरे !

लेकिन हॉ, एक बात अवश्य है कि पराया दु.ख बहुत शीघ्र शीतल हो जाता है !

कुछ समय के बाद मैं किसी काम के निमित्त बाजार गया और देखा तो वह सब्जीवाली अपना सारा माल बेच चुकी थी। मन-ही-मन यह कहकर कि दुनिया पागलों का बाज़ार है और उस में चाहे जो बिक जाता है, मैने अपने आप को संतोष देने का प्रयत्न किया। लेकिन किसी भी तरह मैं यह न समझ सका कि इतनी कडी फलियॉ किसी ने आखिर क्यों खरीदी होंगी ? कुतूहल अखण्ड चाबी भरा हुआ गुदगुदी करनेवाला एक यत्र ही होता है। वह मनुष्य को शान्त थोड़े ही बैठने देता है ! मैंने सब्ज़ीवाली से पूछा, – 'क्या, वे कड़ी फलियॉ बिक गयीं ?'

हँसते हुए उसने उत्तर दिया, – ‘ जी हाँ, जितनी आपके घर ली थीं, उतनी ही बची थीं और उस सब माल के लिये आपके घर से मुझे एक पैसा अधिक भी मिला। ’ मुझे ऐसा लगा कि प्यास बुझाने के लिये हम कोई पेय पिये और उससे उलटे वह बढ जावे। कडी फलियों को महँगे भाव से लेना, दाडीयात्रा के लिये रवाना होने, कारागार से अपने आप को मुक्त कर लेने के लिये समुद्र में कूद पडने अथवा किसी प्रतिभा-संपन्न रचना के लिये ‘ नोबेल पुरस्कार ’ प्राप्त करने की तरह कोई अद्भुत-छटा-युक्त बात नहीं है! फिर भी उस सब्जीवाली से आखिर मैंने यह पूछा ही कि वे कड़ी फलियाँ खरीदी किसने। और मेरा आश्चर्य द्विगुणित हो गया, क्यों कि हमारे पडोसी के घर ही उनका स्वागत हुआ था।

घर आया तो पत्नी को चकित करने के लिये मैंने उसे यह ताज़ा समाचार सुनाया। उसने शाति से उत्तर दिया, – ‘ उन लोगो की बात छोडिये। जब तक फलियों के बीज दाँतो तले कचाकच न बोले तब तक उन्हें लगता ही नहीं कि सब्जी खा रहे है। कडी फलियो को बिलकुल हठीली बुढिया मानते है वे लोग। ’

वे लोग! तो फिर हमारी गिनती किन में होती है? यदि यह कहे कि इतनी बासी और कडी फलियाँ खानेवालों का रहन-सहन जंगलियो की तरह होगा, तो वह भी सच न था। उनके घर की साड़िया हमारे घर की साड़ियों की तरह ही महीन पोत की रहा करती थीं और हर साल ग्रीष्म ऋतु शुरू होते ही मलमल के कुरते सीने का काम दरजी को उनके घर से भी मिला करता था।

दो पहर को यह शिकायत करते हुए कि सब्ज़ी मे आज नमक कम छोड़ा था मेरे मन में यह विचार आये बिना न रहा कि हमारे पडोसी के घर के लोग कडी फलियों की सब्ज़ी कैसे खाते होंगे। फिर ज़रूर मुझे अपने आप पर ही हँसी आयी। यह मान लेने के कारण, कि उस घर के लोगों की रुचि-अरुचि हमारी रुचि-अरुचि की तरह ही होनी चाहिए, मै इतना चकरा गया था। लेकिन वह वैसी ही क्यो हो? यदि

बिलकुल भिन्न हुई तो किसी का क्या बिगड गया? ग्वार-फलियो का स्वाद वात्सल्य या प्रणय की तरह कोई एक नैसर्गिक भावना तो है नहीं कि उत्तर ध्रुव के एस्किमो से लेकर न्यू यॉर्क की सौन्दर्य-सम्राज्ञी अथवा पूना के दकियानूसियो तक सब को उस का एक सा ही अनुभव होना चाहिए। 'भिन्नरुचिर्हि लोकाः'वाले सूत्र पर ही तो सारी सृष्टि की रचना हुई है।

ऐसे लोग दुर्लभ नहीं है जो गरमी मे आम की एक फॉक भी नहीं खाते। ऐसे लोग भी बहुतो ने देखे होंगे जो भरी दुपहरिया मे जब कि आसमान से अगारे बरसते होते है, घूमने निकलते है। मै एक ऐसे रसिक महाशय को जानता हूँ जिन्हें गधर्व नाटक कपनी का स्वयवर नाटक देखना इतना असंभव हो गया था कि हजरत आधे नाटक से ही उठकर घर चल दिये। मेरे एक डिग्रीधारी मित्र है जिन्हे सिंक्लेअर लुईस का 'Babbit' नामक उपन्यास पढना बिलकुल असहनीय हो गया था। एक विवाहेच्छु कुमार अपने सलाहगार की हैसियत से मुझे और अपने एक मित्र को लड़की देखने के लिये अपने साथ ले गया था। लडकी के घर नाश्ते की डकार देने के बाद, एक की राय का असर दूसरे की राय पर न हो इसलिये उसने हम दोनो से अपने अपने मतों को कागज पर लिखकर देने के लिये कहा। तय यह हुआ कि परीक्षा की भाषा मे फेसला दिया जाय। भावी वर महाशय ने बड़ी उत्सुकता से मेरा परचा पहले खोलकर देखा। उसमें लिखा था — 'पहले दरजे मे पास — सौ में से पैसठ नबर!' दूसरे परचे मे लिखा था — 'फेल — नबर—मुश्किल से सौ में बीस!' हम तीनों के चेहरे उस समय देखने के लायक हो गये थे। लेकिन भाग्य की बात यह थी कि प्रत्येक को उन में के दो ही दिख रहे थे!

रुचि और अरुचि की यह भिन्नता सब समय और सब जगह दिखाई देती है। लेकिन मनुष्य जितना यह भूल जाता है कि वैचित्र्य जीवन की आत्मा है, उतना वह शायद और कोई बात न भूलता होगा। इस विचित्र विस्मरण के कारण ही धर्म-भेदों के एक क्षण मे बुझ सकनेवाले

अग्निकुण्ड सदियों तक भडकते रहे हैं। ‘ क्रूस ’ के आगे नम्र होनेवालों को ‘ त्रिशूल ’ की खिल्ली उडाने की इच्छा होती है ! भगवान् विष्णु के ‘ मोहिनी रूप ’ धारण करने की कथा सुनकर, आनद से नाचनेवाली ऑखें यह सुनते ही कि ‘ मेरी ’ कुमारी माता थी, शरारत से हॅसने लगती है। कालिदास और भवभूति जैसे भिन्न भिन्न प्रतिभावानों के भक्त अपने पूजनीयो का काव्य आदि सब भूलकर, एक दूसरे को गालियॉ प्रदान करने में निमग्न हो जाते है। मामूली कारणो से जाति जाति मे दगे हो जाते है और समाचार-पत्र व्यर्थ के समाचारों से और अस्पताले जख्मी हुए लोगो से भर जाती है !

एक ही हिमालय से निकली हुई गगा और सिन्धु नदियॉ! उनके उद्गम कितने पास पास है ? लेकिन मुख ? कहॉ बगाल समुद्र और कहॉ अरब समुद्र ! यह प्रत्यक्ष दिख रहा है, फिर भी मनुष्य स्वय अपने सकीर्ण जग में इतना उलझा हुआ होता है कि उसे लगता है कि बाहर का जग अपने मन के गाने को निरंतर ताल देता रहे। यदि वह न दिया गया, तो वह यह चिल्लाना शुरू कर देता है कि जग बेताल हो गया है। कोंकण देखने आनेवाले मेहमानों में जब कोई यह शिकायत करता है कि यहाँ बडी तेज धूप है, तब मै उसे ताज़ा कच्चा नारियल खाने दे देता हूँ। जब नारियल के भीतर का पानी पीते हुए वह उसकी तारीफ करने लगता है, तब मै उस से धीरे से कहता हूॅ, – ‘ जिस हवा के कारण यहॉ लागातार तेज धूप रहती है, उसी हवा के कारण इस पानी मे यह मिठास आयी है। ’ कहते है कि कश्मीर में इतने कडाके का जाडा पडता है कि यदि आग न तापी जाये, तो मरने का मौका आ जाता है ! लेकिन इतना जाड़ा पडता है इसी लिये तो वह स्वर्गभूमि है। कल कश्मीर का जलवायु राजपूताना जैसा हो जावे, तो रेल्वे-विभाग मुफ्त में कश्मीर यात्रा की योजना भी जाहिर करे, तब भी उस विख्यात भूमि की ओर कोई ढूँककर भी न देखेगा।

एक ही प्रवास पैदल, साइकिल से, बैलगाड़ी से और मोटर से किया जावे, तो वैचित्र्य की मोहिनी का सहज ही पता चल जाता है। रेल की

खिडकी के बाहर झॉककर, दौड़नेवाले पेड-पौधो को देखने में बड़ा आनंद है ही, इस मे शक नहीं। लेकिन क्षण-क्षण मे जहाज के डेक से टिककर, गदगद हिलनेवाली जल-लतिकाओ का फुलेरा देखने का आनद जितना ही आकर्षक नहीं है क्या? हवाई जहाज में बैठकर पक्षी की तरह जग की ओर देखने मे बहुत आनद आता होगा, यह अब छोटे बच्चे को भी जॅच जाता है। परतु जल के भीतर चलनेवाले जहाज मे प्रवास करते समय अथवा गहरी खान मे उतरते समय जो गुदगुदी होती है वे भी कुछ कम आनद की न होती होगी।

हवाई जहाज और जल के भीतर चलनेवाले जहाज़ों जैसी दूर की बात क्यों लें? मामूली पैदल चलने में भी वैचित्र्य का भरपूर आनंद मिलता है। फौज़ी सिपाही की तरह मार्चिंग और किसी छोटे बच्चे की अंगुली पकडकर बराती की चाल से चलना — इन दोनों में सुख है। पर्वत की चट्टानो पर से भेड़ की तरह झटपट कूदते हुए उतरना और समुद्र के किनारे की नर्म बालू मे छोटे केंकडो की तरह भुर्र से दौडना, दोनो मे ही कितना आनद आता है? वैचित्र्य का अनुभव चलने की अपेक्षा तैरने मे और अधिक होता है। चित होकर, पानी मे डुबकी लगाकर, एक करवट पर, हाथों को गोल-गोल घुमाकर, इत्यादि अनेक तरह से तैरा जा सकता है। इस में सदेह नहीं कि सुदर काव्य की तरह तैरने में भी क्षण क्षण को आनद नवीन रूप धारण करता है।

यदि हम दुनिया की छोटी-मोटी बातो में भी छिपे मधुर आनंद के इन अनंत रूपों को पहचान सकें, तो जीवन आकर्षक होने मे कोई विलब न होगा। लेकिन स्वयं अपनी रुचि के बदले भिन्न मुद्रा धारणकर आनद की मूर्ति सामने उपस्थित हो गयी कि मनुष्य के ललाट पर शिकने खिंच जाती है। जो गरम पानी से नहाने का अभ्यस्त है वह शीतल जल देखकर ही सिहर उठता है। गरमी के दिनो में थककर पसीने से तरबतर हो जाने के बाद, नदी में कूद पडने के आनद का उसे कभी कोई अनुभव ही नही होता। गुलाबों से खिली हुई क्यारियॉ तो रमणीय दिखती ही हैं। लेकिन जासोन के लटक रहे फूल क्या कम शोभायमान होते है?

प्रो. फडके[१] और डॉ. केतकर[२] दोनों के साहित्य को मैं आज तक समान उत्सुकता से ही पढ़ता आया हूँ, इसका कारण भी यही वैचित्र्य नहीं है क्या ?

यह सब होते हुए भी यह सच है कि मुझे इस बात का आश्चर्य जरूर हुआ कि लोग कड़ी फलियाँ कैसे खा लेते हैं ! साधारण मनुष्य अपना मन कितना भी बडा कर ले, तब भी जग उसकी अपेक्षा विशाल ही होता है। फिर भी कम से कम हमें प्रत्येक नये अनुभव को तो हमारे मन में हमें सहानुभूति का स्थान देना चाहिए। बस, तय कर डाला। कल जानबूझकर कड़ी फलियाँ खरीदकर, पत्नी से उनकी सब्ज़ी बनाने के लिये कहूँगा।

मन को व्यापक करने का अपना यह अभिनव उपक्रम मैंने पत्नी से कहा ही था, तभी तुरंत वह बोली, – 'मुझे न बनाने को क्या हो गया ! लेकिन चाहो तो शर्त लगा लो। उस सब्जी को खाकर दिखा देना आप ! आज सब्जी में थोड़ा नमक कम हो गया था तो...'

इस 'तो' ने ही जग के सारे तत्त्वज्ञानों को अपग कर डाला है !

१ ना. सी. फड़के– मराठी भाषा के एक आधुनिक प्रसिद्ध साहित्यिक।

२ श्रीधर व्यंकटेश केतकर– मराठी भाषा के प्रगाढ़ विद्वान और साहित्यिक।

२८

गप्पें

प्रेम, काव्य और मनुष्य की ऐसी परिभाषा करना जो सब को जॅच जाये जरा टेढी खीर है, इस मे सदेह नहीं। डारविन कहता है कि बंदरो का जो वशज है, वह मनुष्य है। ऐरिस्टॉटल कहता है कि मनुष्य, दल में रहनेवाला प्राणी है। सतति-निरोध का समर्थन करनेवाले एक महाशय यह कहते हैं कि इस परिभाषा का संकेत बढ़ती हुई जन-सख्या की ओर है। लेकिन यह विश्वास दिलानेवाले व्युत्पत्ति-शास्त्र-विशारद की 'स्टोव' शब्द 'आग' शब्द से ही निकला है, छाती ठोककर यह कहेंगे कि इसका सकेत क़ब्रों की ओर है। यह सच है कि ईसप की प्रकाशित कहानियो में इस विषय की कि मनुष्य किसे कहा जाये, एक भी कहानी नहीं है। लेकिन यूनान के अन्वेषक किसी वक्त यदि जाग पड़े, तो उनकी और भी कितनी ही कहानियॉ प्रकाश में आयेंगी। उनमें से किसी एक में आप यह भी पढ लेंगे कि सिंह के सभापतित्व मे भरी सभा मे तालियों की कडकडाहट के बीच गीदड़ कहता है कि जिसके पैर संख्या में हम से आधे होते हैं, वह प्राणी मनुष्य है! जो बार-बार दर्पण में देखता

है वह मनुष्य है, जिसका मूल्य पोशाक के दसवें भाग से भी अधिक नहीं होता वह मनुष्य है, जो स्वय अपने को चतुर और दूसरों को मूर्ख समझता है वह मनुष्य है, जिसे आराम-कुर्सी पर पड़े हुए ग्रीष्म में कोल्ड-ड्रिंक और ठड में चाय पीने की इच्छा होती है वह मनुष्य है – इत्यादि मनुष्य की उपरोक्त परिभाषाएँ भी थोडे बहुत परिमाण में सच हो सकती हैं। लेकिन इन सब की रानी होने के योग्य जो परिभाषा है वह यही है कि – 'जो गप्पें हाँकता है वह मनुष्य है।'

मेरी ही बात लीजिये न! ठीक भोजन के समय कोई एक महाशय मुझ से मिलने आ जाते है। तब खाना ठडा हो जाता है और श्रीमतीजी खूब गरम हो जाती हैं – ऐसा अनेक बार हमारे घर हो जाता है। यह बात भी नहीं है कि उन महाशय का काम एक मिनट में होने लायक न होता हो। रामायण और महाभारत कितने बडे बडे काव्य हैं! परतु वे भी तो आखिर हाथ पैर समेटकर एक श्लोक में बैठ ही गये हैं न? फिर नाचीज इन्सान के मामूली काम की क्या कथा? लेकिन गप्पों का जादू ही इतना विलक्षण है कि उस की धुन में एक घटा पल की तरह लगता है। तीस साल की नींद से जागकर रिप वैन विंकिल को क्या लगा होगा, इसकी कल्पना गप्पें खत्म होने पर यदि घड़ी की ओर देखें तो ठीक से हो जाती है। नाटक के सभाषण रटे हुए होते हैं, इसलिये प्रवेश और अंक जल्दी समाप्त हो जाते हैं। परतु विष्णुदास भावे के जमाने में जब नाटक के पात्र स्वय स्फूर्ति से बोला करते थे, तब किसी भी दृश्य का तीन घंटे तक चलते रहना कोई विशेष कठिन न होता होगा।

कई के उद्‌गारों से यह लगता है कि गप्पें हाँकना गो-हत्या अथवा ब्राह्मण-हत्या की बराबरी का पाप है। उन में से किसी गणितज्ञ के पास शायद यह आँकडा भी तैयार होगा कि हरएक मनुष्य हर रोज यदि एक घटा गप्पें हाँकने में बितावे, तो समूचे देश का कितना समय और स्वराज्य का कितना अपूर्णांक व्यर्थ जाता है! मैंने कई लोगों के मुँह से यह भी सुना है कि गप्पों की लत बहुत बुरी है। शराब की तरह ही 'और एक', 'और एक', कहते हुए गप्पों में ज़िंदगी बरबाद हो जाती है! काल के

इस उदरशूल को धन्वतरी भी अच्छा नहीं कर सकेगा। लेकिन इन उदास उपदेशकों पर मुझे क्रोध नही आता। अगूर को खट्टे कहनेवाले सियार पर ईसप की कहानियॉ पढनेवाला बच्चा भी नाराज नहीं होता। नदी में तैरनेवाला जल्दी बाहर क्यो नहीं आता, इसका पता किनारे पर खडे मनुष्य को कैसे चले? जो लोग बदी की अष्टमी का चन्द्रमा देखने के लिये जागते रहते है, वे अँधो की दृष्टि से क्या पागल ही नहीं है? ऐसे लोगो को, जो यह समझते है कि सारा जग ईश्वर का एक बडा भारी कारखाना है और हम सब मनुष्य उस में मजदूर है, गप्पों की मिठास का कभी भी पता न चलेगा। गृहस्थी के ज्वर के कारण उनकी जिव्हा का स्वाद ही जाता रहता है।

गप्पो के विरुद्ध लोगों की सब से बडी आपत्ति यह है कि वे बेकार की बाते होती है! उनमे बीतनेवाला समय पूर्णतया व्यर्थ-निष्फल होता है। हर बात की ओर व्यापारिक दृष्टि से देखनेवाले ये लोग मन में भगवान को भी गालियॉ दिये बगैर न रहेगे। वे कहते होंगे,-हर तरह के रंगबिरगी और सुगधित फूलों को निर्मित करके भगवान ने क्या पा लिया? सुगध का क्या? क्षण मे आती है और चल देती है। इसके बदले यदि वह अपनी शक्ति को करोंद, जामुन, नहीं बल्कि निसोरे निर्मित करने मे खर्च करता, तो क्या अधिक उचित न हुआ होता? करोडों तारे उत्पन्न करने के बजाय रात में निकलनेवाला एक ही सूरज निर्मित करने की कल्पना ईश्वर के दिमाग़ में कैसे नहीं आयी इसका भी उन्हे तअज्जुब होता होगा। महाबलेश्वर तथा आबोली में तीन-तीन सौ इंच पानी बरसानेवाला ईश्वर खूब दूर स्वर्ग मे रहता है, यह गनीमत है! वरना ये हिसाबी विरोधक पानी की इस भयकर फ़जूलखर्ची के लिये उसे अच्छी तरह आडे़ हाथ ही लेते।

मुझे यह लगता ही नहीं है कि जीवन जमा-खर्च की बही है और उसमें ' श्रीशिल्लक पेस्तर रोजकारणें '[१] हुआ कि जीवन सफल हो गया। मैं यह मानता हूॅ कि हमारा जीवन मेघदूत की तरह कल्पना के हिंडोले मे

१ ' बाकी अगले दिन के लिये।'

बैठकर झूलनेवाला काव्य नहीं है। वह व्याकरण के नियम पढानेवाले भट्टि-काव्य की तरह है। लेकिन भट्टि-काव्य में धातुओं के चित्रविचित्र रूपों के साथ आखिर थोडी बहुत सुंदर कल्पनाएँ भी तो हैं ही। जीवन के भट्टि-काव्य की अत्यन्त रसपूर्ण कल्पनाओं में ही मै गप्पों की गिनती करता हूँ।

गप्पों के शत्रु कहेंगे, 'हमें आपकी कोरी वकालत की जरूरत नहीं। अपनी तरफ से कोई गवाह पेश कीजिए।' उनके सतोष के लिये मैं एक ही गवाही पेश करता हूँ। वह एकवचनी प्रभु रामचद्रजी की है। इसलिये उसकी सचाई के बारे में सदेह करने का कारण नहीं है। यदि सच पूछा जाय तो कभी एक दो हिरण मारने के सिवा बनवास के पूरे दिनों में, राम ने क्या काम किया था? लेकिन सारे दिन सीता से मनमानी बातें करके भी उन्हें सतोष न होता था। उत्तररामचरित्र का उन्हीं के मुँह का प्रमाण देख लीजिए — 'अविदित गतयामा रात्रिरेव व्यरसीत्' — रात समाप्त हो गयी परतु बातें खत्म नहीं हुई ऐसा क्यों होना चाहिए? यदि यह कहें कि सीताजी पिछले दिन ही शाम को मायके से लौटी थीं, तो ऐसी भी कोई बात न थी! बरसों से पतिपत्नी चौबीसों घटे एक स्थान मे रह रहे थे। जागने से यदि स्वास्थ्य खराब हो जाता तो बन में दवा के लिये भी वैद्य मिलने की सभावना न थी। किन्तु यह सब जानते हुए भी आखिर ये दम्पति गप्पो के ब्रह्मानद मे रात को दिन बना ही रहे थे न?

अच्छा, इस तरह इतनी बातें करने के लिये आखिर विषय भी क्या थे उनके पास? उस समय छापाखाने न होने के कारण अश्लील साहित्य का प्रश्न ही उत्पन्न न हुआ था। स्वय मनुष्य-कोटि में होने के कारण रामचन्द्रजी को देवताओं के पावित्र्य-विडबन का घनघोर दृश्य भी कैसे दिखाई देता? सास और ननन्द की शिकायतें भी सीताजी के पास न होंगी। और होंगी भी तो वनवास के प्रथम दिन ही उनका फैसला हो गया होगा। गोदावरी के तीर की सीता-रामचंद्र की वह रात कोई बिलकुल पहली रात नहीं थी कि बार बार वही वही प्रिय शब्द बोलने में

ही सारी रात समाप्त हो गई। फिर उस रात को राम और सीता की गप्पो का आखिर विषय भी क्या था?

लेकिन क्या ऐसा प्रश्न पूछना ही गलत नहीं है? गप्पे रसभीना काव्य है और चावल बीनकर भात पकानेवाली गृहिणी की तरह क्या कवि कभी विषय चुनकर काव्य रचा करता है? आकाश मे सूर्य प्रकाशित होता है, चन्द्रिका भी विहार करती है। लेकिन सिर्फ चद्र और सूर्य से आकाश की शोभा अपूर्ण ही रही होती! उनमें विलसित अनत तारिकाएँ पृथ्वी को प्रकाश नहीं देतीं, यह सच है। लेकिन नन्ही-सी ऑखो के जादू से मोहिनी मत्र फूँककर क्या वे उसे मुग्ध नही कर देतीं? मै गप्पो को मानवी मन के आकाश मे चमकनेवाली चॉदनी कहता हूँ, उसका कारण यही है।

सहारा की मरुभूमि मे जिस तरह हरियाली है, उसी तरह रूखे जीवन में गप्पें होती है। ग्राहक के इन्तजार में अपने तागे मे बैठे हुए तागेवाले हों, रेलगाडी से सफर करनेवाले मुसाफिर हों, अस्पताल के रोगी हों अथवा समर-भूमि के सिपाही हों – गप्पो के बिना उनका काम कभी न चलेगा! निर्जन द्वीप में रहनेवाले रॉबिनसन क्रूसो ने जॅगली फ्रॉयड को बचाकर उसे अपनी भाषा सिखायी, इसका कारण केवल भूतदया नहीं। अपने साथ गप्पें लगाने के लिये उसे भी तो आखिर एक साथी की जरूरत थी ही। एक दूसरे को दुष्मन मानकर द्वन्द युद्ध की इच्छा करनेवाले दो मनुष्यों को द्वन्द की अनुमति देने से पहले किसी निर्जन द्वीप में एक-दो सप्ताह रख दिया जावे। वहॉ से लौटते समय वे एक दूसरे के गले में बाहें डालकर नहीं लौटें, ऐसा कभी होगा ही नहीं!

गप्प मारने की इच्छा मनुष्य की बिलकुल नैसर्गिक भूख है। मेरा तो दिन का इतना समय गप्पों में निकल जाता है कि उतना समय यदि मै काव्य-देवता की उपासना मे खर्च करता, तो ज्ञानकोश को लज्जित कर देनेवाला एक काव्य-सग्रह मै अवश्य ही निर्मित कर देता। आज तक गप्पों मे मैंने जो वक्त खर्च किया है, यदि उतना समय मैं सगीत सीखने में लगा देता, तो हमें अकारण तग करनेवाले पडोसियो को समय असमय तग करने का रामबाण साधन मेरे पास हो जाता, यह भी झूठ नहीं।

फिर भी गप्पों में गुजरे वक्त का पाठशाला की पढ़ाई में गुजरे वक्त की तरह मुझे कभी भी दुःख नहीं होता। गप्पों से यद्यपि कोई सार न निकलता हो, फिर भी उतना समय कितने आनद में कटता है! पढ़ाई में क्या? फल-प्राप्ति का तेल नहीं और आनद का घी भी नहीं!

मै कभी इतना बडा होऊँगा या कि नहीं कि सदेश मॉगने के लिये तरुण लोग मेरे आसपास भीड़ लगा दे, इसका मुझे शक ही है। लेकिन सौभाग्य से यदि मुझे इतना बडप्पन प्राप्त हो गया, तो मै हरएक को एक ही संदेश दूँगा – 'हर रोज़ कम से कम घटा-भर गप्पें ज़रूर हॉका करो।' गप्पें हॉकने का मतलब है मन से सुदर खुली हवा में घूमना! हवा खाकर किसी का पेट नहीं भरता। लेकिन खुली हवा में घूमने के कारण कितनी ताजगी आ जाती है! गप्पों से भी वही होता है। इसलिये दूषित हवा में घूमना जिस तरह खतरनाक होता है, उसी तरह यह क्रम-प्राप्त ही है कि ऐसी गप्पें हॉकना जो चण्डूखाने की गपोड़बाजी में रूपान्तरित हो जावें, खराब है।

● ● ●

२९

अशोक क फूल

' उसी अशोक के पेड के तले वह खड़ी थी। अष्टमी का चन्द्रमा अपनी अमृत-किरणों से अशोक के फूलो को विकसित कर रहा था। वह धीरे से उसके पीछे आया और उसने अशोक के सुंदर फूलो को उसके केशों मे — '

यह जानते हुए भी कि इन वाक्यो को सुनते समय हॅसना नहीं चाहिए, मैं हँस पड़ा। वह हॅसी मुझे हाथ मे रखे पारे की तरह लगी। जिस तरह पारा हाथ में नाचते-नाचते चट से कूद पड़ता है, ठीक उसी तरह वह हँसी मेरे होंठों से बाहर निकल पड़ी थी।

लेकिन यह देखते ही वह होनहार कहानीकार शरमा गया। उसने मेरी ओर किसी चोर की तरह क्षण-भर देखा और तुरंत ही अपनी दृष्टि दूसरी ओर घुमा ली। मैंने यह भी देखा कि उसने थूक गुटक लिया।

उसे धीरज देने के उद्देश्य से मैंने कहा, – ' आगे पढ़िये न ! '

उसने पढ़ने के लिये हाथ में रखे कागज की ओर देखा। लेकिन पहले ही शब्द पर वह अटक गया। धूप में से पैदल चला आ रहा

मनुष्य जब बात करने लगता है तब उसका स्वर जिस तरह रूखा लगता है, उस तरह उसकी आवाज हो गयी थी।

यह स्पष्ट था कि मेरे हँस देने के कारण वह हक्का-बक्का हो गया था।

उसे हिम्मत बधाने के लिये मै बोला, – 'थोडा असगत सा लगा इसलिये मुझे हँसी आ गयी। आप आगे पढ़िए।'

लेकिन वह मेरी ओर देखता ही रहा। उसकी दृष्टि में कितने ही प्रश्न-चिन्ह भरे हुए थे। अन्त में धैर्य धारणकर वह बोला, – 'इस में असगतता कहाँ है, साहब?'

'कहानी का नायक बहुत दिनों के बाद नायिका से अशोक के पेड़ के नीचे मिलता है और अशोक के फूल उसकी केशराशि में लगाता है, यह सुनकर—'

उसने आश्चर्य से कहा, – 'थोड़ा काव्य है इस वर्णन में!'

अब मुझ से हँसी रोके नहीं रुकती थी। मेरी हँसी देखकर वह बिलकुल भोचक्का हो गया। उसकी मुद्रा से यह भाव झलक रहा था जैसे मैं किसी निरपराधी पर हत्या का अभियोग लगा रहा हूँ। 'क्या अशोक का पेड़ कभी देखा है आपने?' – मैंने प्रश्न किया।

उसने गर्दन हिलाकर निषेध दर्शाया। लेकिन मुद्रा से वह कह रहा था – 'यह कोई आवश्यक नहीं कि स्वर्ग का वर्णन करने के लिये कवि को पहले स्वर्ग का चक्कर लगा आना चाहिए!'

'फिर आप कहानी में अशोक का पेड क्यों ले आये?'

अब उसे काफी धीरज आ गया होगा! मुझे मात देने की गरज़ से वह बोला, – 'तो क्या बबूल का पेड लाना था?'

'यदि नायक और नायिका जूते पहने हों, तो उसे लाने में कोई हर्ज नहीं!'

वह मेरी ओर गुस्से से देखने लगा। उसने सोचा होगा कि मैं उसका मजाक उडा रहा हूँ।

मैंने कहा, – 'मैंने अपनी पूरी जिंदगी में अशोक का पेड सिर्फ एक बार ही देखा है। लेकिन उसकी याद मैं जीवन-पर भी न भूलूँगा।'

वह विजयी मुद्रा से बोला, – ' कालिदास जैसे कवि ने लिखा है कि प्रमदा के लत्ताप्रहार से अशोक खिल जाता है । तो क्या आप सोचते है कि यह यूँ ही लिख मारा है ? '

मैने कहा, – ' जरा मेरा अनुभव तो सुन लीजिए पहले । पाठशाला में मै सस्कृत का स्कॉलर था । मुझे शकरशेट छात्रवृत्ति मिले इसलिये शास्त्रीजी ने मुझ से कसकर अध्ययन करा लिया था । लेकिन उन काव्यों में जिन सुदर वस्तुओ का वर्णन मै पढ़ता था, उन में का कमल भी मैंने कभी न देखा था । इसलिये कमलिनी के भीतर बन्दी हुआ भ्रमर, रमणी के लत्ताप्रहार से खिल जानेवाला अशोक, सुदरी के द्वारा मुख की मदिरा का सिचन करते ही जिस पर बहार छा जाती है ऐसा वह कोई एक वृक्ष – '

कुछ कहने के लिये उस लेखक के ओठ हिले । शायद वह उस वृक्ष का नाम बताकर मेरी स्मरण-शक्ति पर संचित धूल को पोंछ देना चाहता था ! लेकिन मैंने उसे बात ही न करने दी ।

' आगे चलकर जब मैं कॉलेज में था तब एक बार लडको ने दिसबर के महीने में यात्रा की । हम लोग कोकण देखने गये । उस समय इस बात से मुझे बडा आनंद आया कि आज तक जो काव्य मैने पढा है, वह अब मुझे देखने मिलेगा । एक दिन साँझ को हम लोगो ने एक सुदर गॉव के मदिर में अपना डेरा डाला । मदिर के सामने एक विस्तीर्ण तालाब था । भव्य बैठकखाने मे विविध प्रकार की कलाकुशलता के छोटे-बडे गलीचे बिछा दिये जावे, उस तरह कमलिनी के भिन्न भिन्न प्रकार के गुफन ने तालाब के पृष्ठ-भाग को सुशोभित कर दिया था । बिलकुल साँझ हो गयी थी । इसलिये उस तालाब मे खिला हुआ एक कमल भी मुझे दिखाई न दिया । सारे फूल कलियों मे सिमटे हुए थे ।

' दूसरे दिन सूर्योदय होते ही मै तालाब के किनारे जाकर खड़ा हो गया । धीरे धीरे कमल खिलने लगे । वे सब नींद से जागनेवाले बालक की ऑखों के समान दिख रहे थे ।

' मै उस तालाब के किनारे बहुत देर तक खड़ा था । मेरा मन रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम् ' वाला मधुर श्लोक गुनगुना रहा

था। लेकिन दो घटे प्रतीक्षा करने पर भी मुझे उस श्लोक का साक्षात्कार न हुआ। एक भी कमल में से भौरा बाहर न निकला।

'मै मन में निराशा लिये मदिर में आया। बाकी के साथी आसपास के बन में घूम रहे थे। मै बन के बिलकुल छोर पर गया। वहाँ मुझे लाल पुष्पो के अनेक गुच्छो से लदा हुआ एक वृक्ष दिखाई दिया। ऐसा भ्रम हुआ जैसे मोगरे के पुष्प प्रातःकाल के अरुण तीर्थक्षेत्र के सगम में स्नान करके आये है। कुछ दूरी पर एक कृषक् जाता हुआ दिखाई दिया। मैने बड़ी उत्सुकता से उससे उस वृक्ष का नाम पूछा। उसके यह बताते ही कि वह अशोक है, मुझे विलक्षण आनद हुआ। मै जल्दी जल्दी वृक्ष पर चढ गया। मन कह रहा था – 'संस्कृत कवियों के इस लाड़ले फूलों की सुगंध कैसी होगी।'

'लेकिन सुगंध से पहले मुझे कॉटों का ही प्रसाद मिला!'

'क्या अशोक में कॉटे होते है?' – लेखक ने प्रश्न किया।

'कॉटे नहीं होते है। लेकिन उस वृक्ष पर भयकर लाल चिऊँटियॉ होती है – लाल चींटें ही कहिए न! जब फूलों का गुच्छ तोडने लगा, तब उनकी टोलियॉ मेरे बदन पर टूट पड़ीं। इतना कसमसाकर काटा था उन्होंने कि क्या कहूँ! और इतने सकट में प्राण डालकर मैंने जो फूल तोडे थे, उन में कटसरैया के फूल से अधिक सुगंध न थी!'

बेचारा लेखक! उसे मेरी ओर देखने का साहस ही न होता था। थोड़ी देर के बाद मुझे नमस्ते कर वह चला गया।

उसके चले जाने पर मुझे लगा – अच्छा होता यदि मै उससे अशोक के फूलों की कहानी न कहता। वह बिलकुल निराश हो गया होगा। उम्र को देखते हुए अच्छा लिखनेवाला यह व्यक्ति यदि लिखना बन्द कर दे तो – तो क्या ऐसा न होगा कि मैंने एक व्यक्ति के विकास में रुकावट डाल दी!

लेकिन व्यक्ति का विकास किस से होता है?

मधुर असत्य से अथवा कटु सत्य से?

आज काव्य के संकेतों को मानकर उसने नायक को नायिका के केशों

में अशोक के फूल सजाने के लिये प्रवृत्त किया। कल जीवन के सारे संकेतों को अँधे की तरह मानकर वह मनुष्यस्वभाव का चित्रण करेगा। उसका लेखन निर्जीव न हो, परंपरागत संकेतो की भीड़ मे उसकी सृजन-शक्ति का दम न घुटे, इसलिये उसे उसके दोषों का ज्ञान करा देना क्या मेरा कर्तव्य न था?

उस युवक का मनोभग कर देने के कारण मेरे मन में जो बेचैनी हो रहीं थी, वह इस विचार से थोड़ी कम जरूर हुई, इस में सदेह नहीं। परतु कभी यह भी लगता था – उसकी कहानी में जब प्रेमिका की केशराशि मे अशोक के फूल सजाने की बात आयी थी, उस समय यदि मैं न हँसता, तो अच्छा होता!

यह तो गनीमत हुई कि अलसाये हुए अवी ने हठ पकड ली, – 'कहानी छुनाओ! भाऊ, कहानी छुनाओ।' वरना– दाँतों में कहीं कुछ थोड़ा सा अटक जाने से मनुष्य बेचैन हो जाता है —। मन को भी यही होता है। मैं अशोक के फूलों में ही खोया रहता।

मैने अविनाश को कहानी सुनाना शुरू किया।

मैने कहा, – 'एक सियार था —'

'नहीं, दूछली कहानी छुनाओ!'

'दूसरी?'

मैं ताड गया कि आज हज़रत की सियार पर कृपा नहीं। अब इसे दूसरी कौनसी कहानी सुनाऊँ?

ईसाप को इसकी कल्पना भी न होगी कि वह माँ-बापों पर कितने उपकार कर रहा है।

मै अवी को ईसाप नीति के बारहसिंगा की कहानी सुनाने लगा —

'तालाब के पानी में अपने सुंदर सींगों की परछाँई देखकर, उस बारहसिंगा को अपने बेढब पैरो पर बडा क्रोध आया। इसी समय शिकारियों की आहट पाकर वह भागने लगा। पैरों ने उस के प्राण बचाने की पराकाष्ठा कर दी, लेकिन सींगों ने धोखा दे दिया। वे एक

झाडी में फँस गये और उनके कारण उस गरीब प्राणी को अपनी जान से हाथ धो बैठना पड़ा। '

मैंने अविनाश की ओर देखा। वह कभी का सो गया था।

लेकिन मुझे जरूर नींद नहीं आती थी। मेरे मन में यह विचार उठा कि अशोक के फूलों मे काव्य माननेवाला मनुष्य और पैरों की अपेक्षा सींग पर अधिक प्रसन्न होनेवाला मनुष्य – दोनों में कुछ साम्य अवश्य है।

यह सच है कि हरिण के सींग सुदर होते है; लेकिन क्या उस सौदर्य का उपयोग सिर्फ अमीरों के बैठकखाने ही सजाने का नहीं है? पद पद पर काम पडनेवाले पैरों को वह हरिण धिक्कारे और केवल शोभा के लिये ही जिनका उपयोग होता है उन पर वह प्रसन्न हो? — क्या यह मूर्खता नहीं है?

मुझे लगा – उस बारहसिगा पर हँसने का कुछ भी कारण नहीं है। जो ऑखो को दिखता है वही पशुओ को अच्छा लगता है। लेकिन क्या मनुष्य भी उस पागल बारहसिंगा को तरह ही बर्ताव नहीं करते? कितने लोग यह जानते है कि जीवन में हमे किसका अधिक उपयोग है? मुझ जैसे अनेक परिचित व्यक्तियो की याद हो आयी जो व्यर्थ की बातों के पीछे पड़कर जन्म-भर दुःखी रहे।

वह एक अच्छी बुद्धिमती स्त्री थी। बीस की उम्र में, आम सभा में झाँसी की लक्ष्मीबाई के आवेश से वह पुरुषजाति पर आक्रमण किया करती थी। पच्चीस की उम्र में उसने एक विद्वान महाशय की मँगनी को ठुकरा दिया था। जब तीस की हुई तो किसी न किसी बहाने वह पुरुषों से मिलने जुलने लगी और पैंतीस की उम्र में उसने स्त्री और बाल-बच्चेवाले एक महाशय से चुपचाप विवाह कर लिया।

जब मैंने उसके विवाह का समाचार सुना तब मुझे गिब्रान की एक कहानी का स्मरण हुए बिना न रहा। इस कहानी का सियार सुबह अपनी परछाई को देखकर कहता है – ' बस, आज नाश्ते में ऊँट के सिवा और कुछ न खाऊँगा। वह दोपहर तक ऊँट की तलाश में मारा मारा घूमता रहता है। अंत में उसके सिर पर सूरज आ जाता है; तब वह अपनी

परछाई की ओर देखता है और कहता है – ' यदि नाश्ते में मूसा ही खाने मिल जाये तब भी कुछ बुरा नहीं ! '

मनुष्य के स्वभाव में भी इस सियार की प्रवृत्ति का थोडा-बहुत अश विद्यमान है, इसमें सदेह नहीं ! काव्यो को देखिए, तत्त्वज्ञान पर लिखे ग्रंथो को पढिये – सर्वत्र आप को यही दिखाई देगा कि जो दूर है, दुर्लभ है, काल्पनिक है उस से ही मनुष्य को अधिक प्रेम हुआ करता है। कोयल की कुहुकुहु और चिडिया की चूॅचूॅ – दोनों में एक सी ही रम्यता है। लेकिन कोकिल के बिना किसी भी काव्यग्रथ का एक पन्ना भी नहीं हिलता ! इसके विपरीत यदि कोई प्रौढ कवि चिडियो पर कविता लिखने लगा, तो हमारे साहित्य-सम्मेलन उसे पागलखाने भेजने का प्रस्ताव पास करने से भी बाज न आयेंगे !

क्राइस्ट और गाधी के तत्त्वज्ञान भी क्या अशोक के फूलों की तरह ही नहीं है ? बचपन में क्राइस्ट का यह वाक्य कि ' एक गाल पर कोई चॉटा मारे तो तुरत ही उसके आगे अपना दूसरा गाल बढा दो ' मुझे नहीं जॅचता था। जिसे यह अनुभव है कि गुस्से मे भरे मास्टर अथवा जेठे-बडे लोग, सौ गाल भी हॉ फिर भी उन्हे लाल किये बगैर न रहेंगे, वह क्राइस्ट कितना भी बडा क्यों न हो, तब भी उसके शब्दों पर विश्वास कैसे रखे ? पिछले बीस वर्षों से महात्माजी के प्रति मेरे मन में आदर है। लेकिन दाडीयात्रा के समय का उनका सोंटा मुझे जितना पसद है, उतना उनका चरखा मुझे अच्छा नहीं लगता। गांधीजी के हृदय परिवर्तन के प्रयोगों को देखकर तो मेरी ऑखों के सामने जग के सारे लोहे को सोना बना देने के लिये पारस खोजने का स्वप्न देखनेवाले मनुष्य की मूर्ति खडी हो जाती है ! —

और मन में आता है – हरएक जानता है कि नारियल का पेड़ कितना भी ऊँचा हो, फिर भी वह आसमान को नहीं छूता। परंतु मनुष्य के विकास की भी कोई मर्यादा है, यह मानने के लिये कोई भी तत्त्वज्ञान तैयार नहीं होता।

सारे कवि भी तत्त्वज्ञानियों की माला के ही गुरिया हैं। जीवन की

लता में कागज के फूल चिपकाने के सिवा वे इसका विचार कभी नहीं करते कि वह आप ही आप किस तरह खिलेगी। संकेत के बिना क्षण-भर भी उनका नहीं चलता।

जब इस तरह सोचने लगता हूँ तो अँधेरी रात भी चाँदनी रात की तरह ही सुंदर लगती है। अशोक के फूल की तरह ही कटसरैया के फूल में भी काव्य के दर्शन होने लगते हैं। यह विश्वास हो जाता है कि देव मनुष्य बनने के बदले मनुष्य की हैसियत से जीने में ही सार्थकता है।

मीना हाथ मे ड्रॉइंग कॉपी लेकर आयी और मेरी विचार-शृंखला टूट गयी। वह जो चित्र दिखा रही थी उसे देखते हुए मैंने पूछा, —

'काहे के फूल है वे?'

'अशोक के।'

बिटिया ने उन फूलों को बड़ी सुंदरता से रंगा था। वे लाल लाल फूल — बिलकुल सुर्ख।

मैंने कहा, — 'अब कल तुम्हारी वेणी के लिये गजरे लाने की जरूरत नहीं रही। ये फूल है ही तुम्हारे पास।'

'वा, वा!' कहती हुई उसने वह कॉपी दूर फेंक दी। उसकी दृष्टि कह रही थी — 'जीवन-कल्पना मे नहीं, अनुभव में है।'

● ● ●

३०

एक घंटा

पन्द्रह वर्ष की अवस्था मे मै चश्मा लगाने लगा। उस समय मेरे मन मे यह आये बिना न रहा कि मेरी उम्र एकदम पचीस वर्ष से बढ गयी है। मेरे मित्रो में कोई भी 'चश्मुहीन' न था। बचपन में मैं एक ऐसे गॉव में रहता था जहॉ यदि लडके चश्मे लगाते, तो लोग सच्चे मन से उसे बीड़ी पीने की तरह, बल्कि उस से भी अधिक बुरी बात मानते थे। आजकल 'ज़ीरो' नबर के चश्मे लगाकर अपने सौदर्य में वृद्धि करनेवाली स्त्रियॉ भी मिल जाती है। लेकिन पचीस वर्ष पहले ऑखें कमजोर होते हुए भी चश्मा न लगाने की ओर ही पुरुषों की प्रवृत्ति रहा करती थी। शायद तत्कालीन पुरुष-वर्ग के मन में ऐसी कोई सुप्त भावना रही होगी कि चश्मे के कारण विवाह के बाज़ार में, प्रथम वर की हैसियत से हमारा मूल्य कम हो जाता है। आज भी हम देखते है कि कॉलेज के अनेक विद्यार्थियों को गणित की अपेक्षा सफेद बालों से ही अधिक भय लगता है। उस ज़माने में शल्य-चिकित्सा और मानस-शास्त्र – दोनो आजकल के समान सर्वसाधारण लोगों से सुपरिचित नहीं हुए थे। इसलिये रोग अथवा मन के गहरे पानी में बहुधा कोई प्रवेश न करता था।

मेरी ऑंखों का मुलाइजा करते वक्त डॉक्टरने कहा,– ' चार वर्ष की उम्र में ही तुम्हें चश्मा लगा देना चाहिये था । '

वैज्ञानिक दृष्टि से यह स्वीकार करने के लिये मै बाध्य था कि चार वर्ष की उम्र में यदि मैं चश्मा लगाने लगता, तो मेरी ऑंखें अधिक अच्छी रहतीं ! लेकिन चश्मे का विरोध करनेवाला मेरा मन उस समय बोला, – ' अच्छा हुआ जो तूने चार वर्ष की उम्र से चश्मा लगाना शुरू न किया । किसी समय गिल्ली या गेंद लगने से चश्मे का शीशा फूट जाता, तो ऑंखें अच्छी होने के बदले तू जन्म-भर के लिये एकाक्ष बन जाता ! '

लेकिन पन्द्रह वर्ष की उम्र में चश्मे का विरोध करनेवाला मेरा मन, जब मैं तीस वर्ष का हुआ, तब वैसा न रहा । इस अवधि में मैंने कितनी ही सुंदर सुदर पुस्तकें पढीं, रमणीय स्थानों को ऑख-भर देखा और प्रिय-जनों के दर्शन का विपुल सुख प्राप्त किया । यदि चश्मा न होता, तो मेरी ऑंखें इस तनाव को हरगिज बरदाश्त न कर सकतीं । इस अवधि में एक उपयुक्त मित्र के नाते चश्मे के प्रति मेरे मन में स्नेह उत्पन्न हो गया । फिर भी, यदि मैं कहूँ कि चश्मे के सब से बडे उपयोग का मुझे कुछ दिन पहले तक पता ही न चला था, तो कोई हर्ज नहीं । अविनाश और मन्दाकिनी के जन्म के बाद ही मुझे उसकी पूरी कल्पना हुई । इस कल्पना से कि मेरे घर बच्चा होगा पुरुष जितना आनंदित होता है, उतना ही वह इस विवचना में भी पड जाता है कि उस नन्हे जीव को किस तरह खिला सकूँगा । ऐसे समय जीवन में पढीं सारी पुस्तकें निरुपयोगी सिद्ध होती हैं। नाना, भाई, चाचा, भाजे, भतीजे आदि सगे-सबधियों को देखकर, कुरुक्षेत्र में अर्जुन क्यों घबडा गया होगा, इसकी कल्पना पितृ-पद पर हाल ही में आरूढ हुए पुरुष को सहज ही हो सकती है । अर्जुन के सगे-सबंधी तो कम से कम धनुष-बाण लेकर भी गये थे । लेकिन पलने के उस अबोध शिशु ने जहॉं रोना शुरू किया, तो उसे चुप कैसे करें, इस विचार से पुरुष बिलकुल रुऑसा हो जाता है ।

मै भी इसी तरह भोचक्का हो गया था। लेकिन पिछले चौबीस वर्षों की हमारी दोस्ती का ख्यालकर, इस कठिन समय मे चश्मा मेरी मदद के लिये दौड़ पड़ा। यह देखकर कि चश्मा दिखाते ही रोते हुए शिशु का रोना निश्चित रूप से बंद हो जाता है, सजीवनी प्राप्त करनेवाले कच की तरह मैं प्रसन्न हो उठा। मेरा चश्मा मेरे बच्चे का सब से अधिक प्रिय खिलौना हो गया।

लेकिन यह अनुभव कि एक का खेल दूसरे के लिये मौत भी हो सकता है, इस विषय मे भी मुझे हुआ। उस दिन खेलते-खेलते मन्दाकिनी ने मेरे चश्मे की एक डडी तोड डाली। फिर क्या पूछना था? ऐनक का और मेरा अक्षरशः विवाह-विच्छेद हो गया। किन्तु जिसके साथ पचीस वर्ष तक सुख की गृहस्थी सजायी थी, उस सहचरी को तलाक देकर क्या कोई सुखी रह सकता है? रामचन्द्र के सीता के प्रति ये उद्गार कि 'जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीय, त्व कौमुदी नयनयोः', अपनी टूटी ऐनक के प्रति मैने भी निकाले। यही नहीं, बल्कि राम ने तो सीता का त्याग कर दिया था, लेकिन मैं उसी ऐनक को दुरुस्त कराने के लिये तुरंत ही एक चश्मेवाले की दूकान की ओर दौड पड़ा।

'दौड पडा' कहने के बदले यह कहना अधिक अच्छा होगा कि मैने दौडने का प्रयत्न किया! क्योंकि ऑख पर ऐनक न होने से मेरे लिये दौड़ना संभव ही न था। इसके बावजूद यदि मै दौड़ता तो चश्मेवाले की दूकान से पहले मुझे किसी अस्पताल में ही जाने की नौबत आ जाती!

चश्मेवालेने कहा, – 'ऐनक ठीक होने के लिये एक घंटा लगेगा।' एक घंटा! इतना थोड़ा समय? ऐनक को उसके हवाले करके मैं दूकान से बाहर निकला। सामने ही वाचनालय था। (मुफ्त नहीं!) मन ने कहा, – 'वाचनालय में हमारा समय कब निकल जाता है इसका हमें कभी पता ही नहीं चलता। इसलिये वहीं चलकर बैठा जाय।'

लेकिन पाँच मिनट के भीतर ही वाचनालय से बाहर आ जाना पड़ा। कोई भी समाचार-पत्र हाथ में लेकर देखता, तो उसके अक्षर पुछे-पुछे-से नजर आते थे। उसमें का प्रत्येक अक्षर छिन्न-विच्छिन्न हुए पुतले की तरह

लगता। यह देखकर कि समाचार-पत्र पढना सभव नहीं है, मैं इधर उधर देखने लगा। परतु नित्य का वह स्थान भी सपूर्ण रूप से परिवर्तित होकर विकृत दिखने लगा था। बहुत दिन के बीमार को जिस तरह हम नहीं पहचान पाते, वही स्थिति मेरी भी हो गयी थी। इसी समय किसी ने मेरी पीठ पर एक हल्का घप जमाकर कहा, – 'क्यों साहब, पहचाना मुझे?' आवाज तो कभी जरूर सुनी थी, इसलिये चेहरे की ओर मुड़कर देखा। लेकिन ठीक से कुछ भी दिखाई नहीं देता था। यदि उस व्यक्ति के मुँह के पास मुँह ले जाकर देखता, तो लोग हँस पड़ते। यह कह-कर कि 'माफ कीजिये, अभी ज़रा जल्दी में हूँ। फिर मिलूँगा', मैं वहाँ से सटक गया।

गुनहगार यदि एक गॉव से भाग जाय, तो दूसरे गाँव में भी उसके पीछे लगी बला थोड़े ही छूट जाती है! मेरी दशा भी उसी प्रकार हो गयी। रास्ता मेरा रोज का जाना-माना था। किंतु अब वह कितना अजीब और ऊँचा-नीचा दिखने लगा! दायीं या बायीं ओर देखता, तो किसी भी तख्ती को ठीक तरह से नहीं पढ सकता था। सब कुछ अस्पष्ट और उदास दिख रहा था! मैं लौटकर जैसे तैसे चश्मेवाले की दूकान पर आया और आँखें बदकर चुपचाप बैठ गया।

एक घटे के बाद फिर चष्मा मेरी नाक पर चढ गया। मुझे सारी चीजें फिर से अपनी-सी लगने लगीं। एक विजयी वीर की तरह सडक की सारी तख्तियाँ पढता हुआ मै वाचनालय में पहुँचा। वहाँ मेरी पीठ पर थाप मारनेवाले उस सजन से खूब लबीचौडी गप्पें हाँकीं और बिलकुल बारीक टाइप के सारे समाचार ही नहीं, बल्कि विज्ञापन भी पढ़कर मैं घर लौटा। पच्चीस वर्ष पहले जब मैंने चश्मा लगाया था उस समय मुझे लगा था कि मेरी उम्र पच्चीस वर्ष से बढ़ गयी है। आज इस एक घटे की महान् आपत्ति के बाद उसे नाक पर रखते समय मेरा यह विश्वास हो गया कि मेरी उम्र पच्चीस वर्ष कम हो गयी है।

बिना चश्मे का बिताया हुआ वह एक घटा!

मनुष्य को सुख का पूरा एक वर्ष जितना ज्ञान नहीं दे पाता, उतना

संकट का एक मिनट सिखा जाता है। और मुझे तो ऐसे साठ मिनटों का अनुभव हुआ था। उस एक घटे ने मुझे जो सिखाया वह मैं सौ पुस्तकों से भी नहीं सीख सका था।

> *' Oh what is that*
> *thing called light*
> *Which I must never*
> *enjoy '*

अंधे बालक पर लिखी उपरोक्त करुण कविता पढाते समय मेरा मन अनेक बार द्रवित हो उठा था। लेकिन अधे के यथार्थ दुःख को मुझे उस कविता की अपेक्षा इस एक घंटे ने ही अधिक महसूस कराया। और उस अधे के एक अनुभव मे दुनिया के कितने ही अनुभव भरे हुए थे। मुझे लगा — दोपहर को भोजन के बाद हम थोड़ा विश्राम करते है। उस समय यदि कोई भिखारी आकर हमारे आराम में खलल पहुँचाता है, तब हम उस पर नाराज़ हो जाते है। लेकिन सुबह से जिस के पेट मे अन्न का एक दाना भी नहीं पहुँचा और जिसके पास ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ उसे वह अधिकारपूर्वक मिल सके, ऐसी स्थिति मे वह क्या करे? यदि हम पर भी उस भिखारी की तरह एक घटा घूमने की नौबत आ जाय तो —

तो? आगे का कल्पना-चित्र देखने की मेरी हिम्मत न हुई! बडे कष्ट से मैंने दोपहर को कर्कश स्वर से द्वार पर चिल्लानेवाले भिखारी को अपनी अन्तर्दृष्टि से दूर किया। लेकिन उसका स्थान एक मैला साफा बाँधे हुए किसान ने ले लिया। कुछ दिन पहले यह किसान मुझे रास्ते में मिला था। एक कागज दिखाकर उसने मुझ से पूछा था कि उसकी मियाद कब समाप्त होती है। उस छोटे-से कागज मे उस मनुष्य के जीवन का दुःख खडा था। दस-बीस रुपयो का ऋण चुकाने के लिये वह गरीब कृषक् सालों से हाथ-पॉव पटक रहा था। बच्चों का पेट काटकर, वह दो-चार रुपये बचाता और साहूकार ब्याज के रूप मे उन्हे ले लेता — यह क्रम बरसो से बराबर एक सा चल रहा था। उसकी हालत ऐसी हो गयी थी जैसे पिजडे में फँसा हुआ चूहा बाहर निकलने के लिये छटपटा रहा हो। मुझे लगा — वह किसान

यदि मै ही होता तो ? वह होना क्या बिलकुल असभव था ? जिस सयोग के कारण मै महात्मा गाधी अथवा 'भालाकार भोपटकर'[१] न हो सका, उसी सयोग के कारण, मै कोई अनाडी किसान अथवा अध-पेट रहनेवाला मजदूर भी हो सकता था। दुनिया एक बडी भारी स्पर्धा है। यह सिर्फ संयोग की बात है कि मुझे खुशहाल जिंदगी का इनाम मिला। लेकिन इस स्पर्धा मे जिन्हें इनाम न मिला, उन्होंने भी तो आखिर टिकट खरीदे ही थे।

'तुम्हें कोई घड़ी-भर राजा बना दे, अथवा एक लाख रुपये देकर यह कह दे कि उसे एक घटे के भीतर खर्च कर डालो, तो तुम क्या करोगे ?'— यह प्रश्न बहुतेरों को बडा कठिन प्रतीत होता है। अभीष्ट आपत्तियों से भी मनुष्य इसी तरह डरता है। फिर सच्ची आपत्तियों का सामना करने के लिये वह जानबूझकर तैयार हो जायेगा, यह सभव ही नहीं है। स्वभावतः अपने निजी सकुचित जीवन में आनेवाले सुख-दुःखों से ही वह सारे जग की कल्पना कर चलता है।

एक प्राचीन लोककथा है। एक अत्यन्त दयालु राजा था। वह इतना भावुक था कि उसकी एक भी अप्रिय रानी न थी। मत्री को महाराज की कडी आज्ञा थी कि प्रजा को किसी भी प्रकार का कष्ट न दिया जाय। राज-महल में सर्वत्र 'प्रजा सुखी तो राजा सुखी', 'राजा प्रजा का पिता है', 'प्रजा राजा की सतान है', इत्यादि वाक्य स्वर्णाक्षरो में चमक रहे थे। यदि कभी अधिक मिष्टान्न खा जाने के कारण राजा को नींद न आती, तो वे रानी से प्रेमालाप करते हुए नहीं बैठे रहते थे, बल्कि बिस्तर पर पडे इस विचार में डूबे रहते थे कि प्रजा कैसी सुखी होगी। अपनी वर्षगाठ के दिन राजा ने जो घोषणा-पत्र प्रकाशित किया था, उसकी घर घर पूजा हुआ करती थी। उसमें महाराज ने — अर्थात् मत्री ने — लिखा था :

> 'प्रिय प्रजाजन, तुम्हारा प्रेम ही हमारा अन्न है, तुम्हारा जय-जयकार ही हमारा वैभव है, तुम्हारा सुख ही हमारा सुख है।'

१ महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध अस्तगत समाचारपत्र – भाला – के सपादक, भोपटकरजी।

यदि भूलकर कभी मंत्री से भेट हो जाती, तो राजा प्रजा के सुख के विषय मे उससे अवश्य पूछताछ करता। मत्री भी कह देता कि, – ' महाराज, सर्वत्र आनद ही आनंद है। '

एक बार भयंकर अकाल पडा। कूओं के साथ साथ मनुष्यों के चेहरे भी सूख गये। क्या खेतो में और क्या जँगलो मे हरियाली कहीं भी नज़र नहीं आती थी। लोगों के शरीर से पसीने की और ऑखों से ऑसुओं की धाराएँ बहने लगीं। लेकिन मन-मौजी निसर्ग को इसकी परवाह कहाँ थी?

मनुष्य वृक्ष के पत्ते खाकर भी पेट भर लेते! लेकिन वृक्षों पर दवा के लिये भी पत्ते न थे! लोगों को इस उक्ति का कि ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता, अत्यन्त भयकर अनुभव हो रहा था।

प्रजा के कुहराम से घबड़ाकर मत्री राजमहल में आया। उसने राजा को भयानक अकाल पडने का समाचार सुनाया। उस दिन रानी ने स्वय अपने हाथ से जानबूझकर राजा के लिये एक विशेष पक्वान बनाया था। वह भीतर ठंडा हो रहा था। इसलिये राजा मंत्री से विशेष बाते न कर सका। लेकिन उसने तुरंत ही सलाह दी, – ' भयंकर अकाल पडा है? ठीक है। घोषणा कर दो कि सब लोग दूध भात खाकर रहे। '

इस कथा के मत्री ने आगे क्या किया यह जानने का कोई साधन नहीं है। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि इस कथा का राजा हरएक मनुष्य के स्वभाव में थोडे-बहुत परिमाण मे अवश्य विद्यमान होता ही है। फिर वह व्यक्ति चाहे महात्मा गाधी हो और चाहे रवींद्रनाथ ठाकुर हो, अथवा कोई मामूली लिपिक या नोकर हो। जग के रंग मे रगे हुए व्यक्ति के अन्तरग में प्रवेश करें, तब भी यही दिखाई देगा। उस जग के रग के भीतर भी एक रंग होता है और वह होता है उसके व्यक्तित्व का! मनुष्य स्वार्थ पर पानी फेर देगा, उपभोग की ओर से मुँह मोड़ लेगा, तात्त्विक विचार करते समय सिर्फ जग के कल्याण को ही ध्यान मे रखेगा, लेकिन उसकी निरपेक्ष वृत्ति के पीछे भी व्यक्तित्व की पार्श्वभूमि होती ही है।

और इसी लिये मुझ जैसे कमजोर ऑखोंवाले को जब बिना चश्मा के एक घटा घूमने पर जिस प्रकार नयी दृष्टि प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार यदि समाज में ऐसी कोई व्यवस्था हो जाय जिससे सभी लोगों को परिचित जीवन के परे थोड़ी देर ले जाया जा सके, तो क्या ही अच्छा हो। मिल मालिक की पत्नी से एक घंटा मिल में काम कराया जाय, पिनल कोड पर ॲगुली रखकर कडी कैद सजा देनेवाले न्यायाधीश को बदी होने का मौका दिया जाय, किसानों से समय पर लगान वसूल न होने के कारण उनके पुरखों का बखान करनेवाले जमींदार को मई के महीने मे सिर्फ एक ही घंटा चिलचिलाती धूप में हल चलाना पडे, चाहे जब हर जगह उपदेश करनेवाले वृद्ध को दो घटे ही बेकार तरुण बनने की बारी आ जावे – तो यह सच है कि जग में सुख की वर्षा न होगी। लेकिन सब को कम से कम ठंड़ी हवा के झोंके तो ज़रूर ही मिल जायेंगे।

कृष्ण ने कुती से वर मॉगने के लिये कहा, तब उस वीरमाता ने उत्तर दिया, – 'विपदः सन्तु नः शश्वत्!' – 'प्रभो, देना ही चाहते हैं, तो एक वर दीजिये! हम पर सदा संकट आते रहे!'

कितनी विचित्र मॉग है यह! उपभोग और संकुचित जीवन की दृष्टि से जरूर विचित्र है! किन्तु आत्म-विकास और पराक्रम के दृष्टि से मनुष्य भगवान से और क्या गॉग सकता है? मनुष्य के भीतर का भगवान कोमल गद्दो पर लोटकर प्रकट नहीं होता है, अपितु कॉटो पर चलने से ही वह प्रकट होता है! व्यक्ति के पराक्रम को कौन जाग्रत करता है? अधरों से लगा हुआ विष का प्याला – अमृत का प्याला नहीं। ताबेजी[1] की यह सुदर उक्ति कि – 'मरणात खरोखर जग जगते'[2] मानवी जीवन पर भी चरितार्थ होती है। व्यक्ति के अधे और सकुचित जीवन का मरण ही, जग का जीवन है। नहीं?

● ● ●

१ भास्कर रामचद्र ताबे – मराठी भाषा के प्रसिद्ध आधुनिक कवि।

२ 'सच पूछा जाय तो मरण मे ही जग जीवित रहता है।'

३१

वियोग

बिस्तर पर लेटा हुआ मै एक समाचार-पत्र पढ रहा था। समाचार-पत्र – विशेषतः दैनिक – हमेशा ही बडे मनोरजक होते है। बहुरूपिये यदि स्वर और वेष बदलकर मनोरंजन करने का प्रयत्न करते हैं, तो दैनिक पत्र विलक्षण और असभव समाचारो को औंधे-सीधे छापकर अपने पाठकों को रिझाना चाहते है। ‘ठनठनपुर मे रक्त की वर्षा हुई’, ‘बजबजपुर में एक स्त्री के सूँडवाला बच्चा पैदा हुआ’, इत्यादि समाचारों से कौन पाठक अपरिचित है ?

ऐसे ही एक समाचार में मैं रम गया था। लेकिन कहीं से भीनी भीनी सुगध आयी और उस समाचार पर से मेरा ध्यान एक क्षण मे उड गया। कदाचित् कोई यह सोचेगा कि मै बीमार था और मेरी पत्नी अथवा मेरे किसी मित्र ने कहीं से ताजे फूल लाकर मेरे सिरहाने रख दिये होंगे और उनकी ही वह सुगध होगी, लेकिन वह सुगध फूलों की न थी। रसोई घर में दिये गये बघार की गध थी। हमारी पाक-शास्त्र-विशारदा रसोईदारिन ने किसी को – शायद सब्जी को – बढिया मसालेदार बघार दिया होगा!

यह स्वाभाविक है कि इससे कोई भी यह सोचेगा कि मैं बडा खाऊ हूं। परंतु वस्तुस्थिति बिलकुल विपरीत है। जिस तरह मेरे मित्रों को यह एक मेरे बारे मे पहेली है, कि मेरा मन किसी भी पुस्तक में कैसे रम जाता है, उसी तरह उनमें से बहुतों का मन खाने-पीने की चीजों में किस तरह खो जाता है, यह मेरे लिये भी एक पहेली है। मैं जब किसी भोज में जाता हूँ, तब वहाँ से लौटने पर मेरी पत्नी बिला नागा मुझ से एक प्रश्न पूछती है,–'कहिये, आज भोज में क्या क्या खा आये?' और आश्चर्य की बात यह है, कि आज तक की परीक्षाओं में पूछे गये सब प्रश्नों से यह प्रश्न मुझे सब से कठिन लगता है। लाख सिर मारता हूँ, फिर भी मुझे सब पदार्थों के नाम याद ही नहीं आते। जब मैं स्कूल में पढता था, उस समय इतिहास के सन्–सवत्, भूगोल के प्रसिद्ध स्थान और अंग्रेजी की लंबी लबी कविताएँ मैं मुखाग्र कह लिया करता था। लेकिन कठस्थ करने की मेरी यह शक्ति भोज में खाये पदार्थों को ध्यान में रखते समय जाने कहाँ छिप जाती है! पत्नी के सामने बार-बार अपनी विस्मरणशीलता का प्रदर्शन न हो इसलिये मैंने मानसशास्त्र के बडे बडे सिद्धान्तों का भी आश्रय लिया। उदाहरणार्थ सहचर्य का नियम (Theory of association) भोजो में घुइयॉ के पत्तों की रसदार साग के साथ आलू की सूखी साग होती है, यह मैंने अनेक बार देखा था। इसलिये यदि मुझे यह स्मरण हो गया, कि भोज में इनमें की एक थी, तो मै निःशंक कह देता था, कि दूसरी थी। मीठी रोटी और खट्टी दाल, जलेबी के साथ मट्ठा इत्यादि अनेक प्रकार की जोडियॉ मै ने मन में निश्चित कर डालीं। इस कारण आजकल मेरी पत्नी इस आनद में निमग्न रहती है कि मै अब अपने भोजन की ओर ध्यान देने लगा हूँ। लेकिन सच बात तो यह है कि साग में यदि अधिक नमक पड़ गया हो, तो भोजन समाप्त होते तक मै यही समझता हूँ, कि वह दाल में ही अधिक हो गया है।

बघार की गध आते ही इस तरह के मनुष्य के मुँह में पानी भर आवे, यह कितने आश्चर्य की बात है! परंतु सच तो यही है कि आश्चर्यजनक पार्श्वसगीत के बिना व्यवहार के गीतों में आनद नहीं आता! इस पहले

आश्चर्य को मात देनेवाली एक अधिक आश्चर्यजनक बात तुरत ही इसके आगे हुई। दवा लाने मै अस्पताल गया। अस्पताल जाने के लिये सब्जी बाज़ार से होकर जाना पडता था। इसलिये नाना प्रकार की सब्जियॉ और फल मुझे दिखाई दिये। उन्हे देखते ही एकदम मेरी चाल मन्द पड़ गयी। एक औरत टोकनी में मूॅगफली लेकर बैठी हुई थी। मै बहुधा मूँगफली नहीं खाया करता। लेकिन इस समय मेरी दृष्टि टोकनियो की उन मूॅगफलियों पर स्थिर हो गयी। आरोग्य-शास्त्र का यह नियम कि मूॅगफली खाने से पित्त बढ़ता है, इस समय तो मुझे अस्पष्ट-सा भी याद न आया। नजदीक ही एक औरत मक्का के भुट्टे लिये बैठी हुई थी। मक्का का भुट्टा भी मुझे विशेष पसंद नहीं। अगर कभी खा लिया तो सिर्फ भूनकर आधा-सा खा लिया करता हूॅ। लेकिन इस समय मन मे आया — उनमे का एक भुट्टा उठा लॅू और समूचा कच्चा ही खा जाऊॅ। हॉ, डॉक्टर लोग कहते भी तो हैं कि हरी साग-भाजी में अधिक 'विटामिन्स' होते हैं। मूॅगफली और भुट्टों को देखकर जब मेरी यह दशा हो गयी तब ककड़ी, सीताफल और केले देखने पर मेरी जीभ की क्या फजीहत हुई होगी, इसकी कल्पना कर लेना ही अच्छा है। यदि मै उस बाजार में बहुत देर घूमता रहता, तो राहर की कच्ची दाल खाने पर भी मेरा मन चला जाता।

बीमारी के कारण तीन-चार दिन तक मैंने कुछ भी नहीं खाया था। यही कारण था जिससे प्रत्येक खाद्य पदार्थ के प्रति मुझे इतना प्रेम होने लगा था। अन्न के इस वियोग ने ही आज उन पदार्थों में भी मिठास निर्मित कर दी थी जिनको खाने में वैसे मुझे कोई रुचि न थी। उस समय मुझे यह कल्पना हो गयी कि 'भूख न जाने जूठा भात'वाली कहावत में कितना तीव्र किन्तु मधुर अनुभव भरा हुआ है। हमेशा अन्न के अतिरेक के कारण मनुष्य की क्षुधा मंद पड जाती है और खाद्य पदार्थो में कोई आकर्षण नहीं रह जाता। वही अन्न यदि चार दिन न मिले, तो अत्यन्त मामूली खाद्य पदार्थ भी बड़े रुचिकर लगने लगते है। अभावो में भाव निर्माण करने की यह कितनी बड़ी शक्ति है!

वियोग के बिना प्रेम पर बहार नहीं आती, यह अनुभव किसे नहीं है?

न जाने प्रकृति ने मनुष्य-मन को क्या इसी प्रकार बनाया है कि जिस से उसे अपने समीप की वस्तु का कोई मूल्य प्रतीत न हो। मेरा ही अनुभव लीजिये। जब मै शिरोडा में रहता हूँ, तब ऐसे अनेक सप्ताह बीत जाते है जब मुझे समुद्र का स्मरण तक नहीं होता। लेकिन पिछले सात-आठ महीनों से मुझे शिरोडा से दूर रहना पड रहा है और इस अवधि में ऐसा एक दिन भी न गया होगा कि जिस दिन सायकाल हो जाने पर मुझे समुद्र की याद न आयी हो। जब मै कोल्हापुर या पूना में रहता हूँ, तब प्रत्येक दिन साँझ को समुद्र के किनारे की बालू का कोमल स्पर्श, नटखट लहरों का रम्य सगीत, सूर्यास्त के समय आकाश और पानी में दिखनेवाला रंग-पंचमी का सिंगार — इस प्रकार एक नहीं, दो नहीं, अपितु अनेक मधुर सवेदनाएँ मेरे मन को गुदगुदा जाती हैं।

जो बात समुद्र की, वही मेरे पुस्तकालय की भी है। मैं जब घर रहता हूँ, तब अनेक पुस्तकों को बरसों हाथ नहीं लगाता। और यदि लगाता भी हूँ तो यह देखने के लिये कि उन मे कहीं दीमक तो नहीं लग गयी है, अथवा अलमारी में डामल की गोलियाँ डालने के लिये या बरसात मे पुस्तकों पर लगी फफूँद को साफ करने के लिये। लेकिन अब वे पुस्तकें रोज दिखाई न देने के कारण, मुझे उनके प्रति विलक्षण प्रेम लगने लगा है। जिन पुस्तकों को फुरसत से पढने के लिये मैंने अलग रख दिया था, उन में से बहुत सी पुस्तकें पढ़ने की उत्कट इच्छा अब मेरे मन में बार-बार झाँक जाती है।

ऐसा जान पडता है कि मानव जीवन मे वियोग के इस महत्त्व को सारे कवियों ने पहचान लिया है। यक्ष का उसकी पत्नी से वियोग होने के कारण ही 'मेघदूत' की कल्पनारम्यता निर्मित हुई है। अलका में वियोग से व्याकुल हुई अपनी पत्नी क्या क्या कर रही होगी, इसका जो करुण-रम्य चित्र, यक्ष मेघ के सामने खींचता है, उसका उद्गम उसके दीर्घ-कालीन वियोग मे ही है। मुझे ऐसा लगता है कि शाप के कारण पत्नी का वियोग होने से पहले वह अलका में उसके साथ कैसा बर्ताव किया करता था, इसका चित्रण करने के लिये कालिदास शायद तैयार नहीं

होता । प्रेमिकाओं का यह राजा उस समय जरा-जरा-सी बातों के लिये भी पत्नी से लडा करता था । कभी कभी दिन-भर उससे एक शब्द भी नहीं बोलता था । कोई अप्सरा दिख जाती, तो यह कहकर कि 'देख, तुझ से वह कितनी अधिक सुंदर है', वह अपनी पत्नी को अपमानित भी किया करता था । यद्यपि ये सब बातें सच थीं, फिर भी कालिदास जैसा महाकवि भी इस चक्कर में पड़ जाता कि, इन बातों से काव्य की निर्मिति कैसे की जाय? 'उत्तररामचरित' में भी क्या यही नहीं दिखाई देता? सीता और राम में एक दूसरे के प्रति कितना भी उत्कट प्रेम क्यों न हो, फिर भी उसका चित्र वियोग की पार्श्व-भूमि पर ही उभरकर दिखता है। 'शाकुन्तल' के चौथे अंक में जो रमणीयता आयी है उसका कारण भी आख़िर दूसरा कौन-सा है?

'शाकुन्तल' के चौथे अक मे जो रमणीयता आयी है उसका कारण भी यही है । पक्षियो के द्वारा रक्षित अनाथ बालिका को आश्रम मे लाकर, कण्व ने उसका नाम शकुन्तला रखा । इस नामकरण-विधि से लेकर प्रियंवदा के द्वारा इस विनोद का विषय होते तक के कि 'चौली के बदले अपने यौवन को ही दोष दे', आश्रम के अनेक प्रसग कल्पना के द्वारा ऑखो के सामने खड़े किये जा सकते है । कण्व-बाबा शिष्यो को पढ़ा रहे है । वेद-मन्त्रो के उच्चार के साथ उनकी गर्दन नीचे-ऊपर हो रही है । यह देखकर शिशु-शकुतला भी, जो हाल ही मे बैठने लगी है, अपनी नन्ही गर्दन हिलाकर बाबा की नकल कर रही है । आगे जब शकुंतला चलने लगती है, तब यह नन्ही बाला कण्व बाबा की पोथी के पन्ने हवा में फेककर देख रही है, कि वे किस तरह उड़ रहे है । और उसके नटखटपन पर क्रोध करते हुए भी, महर्षि उसे गोद मे उठाकर चूम लेते है । गोमती बुआ पाँच-छः वर्ष की शकुन्तला की केशराशि मे कुछ वनपुष्प सजा देती है । उनमे का एक निकालकर शकुन्तला महर्षि के पास दौड जाती है और वह उनके जटाभार में लगा देती है । दस वर्ष की शकुन्तला कण्व-बाबा के 'अह्निका' की बडी तत्परता से व्यवस्था कर रही है — इस प्रकार के अनेक रमणीय चित्र ऑखों के सामने खड़े कर दिये जायें, फिर

भी 'जाते कीं मम शकुन्तला ही आजचि पतिसदनाला '[१] कहकर कण्व जो उद्गार निकालते है उसकी हृदयस्पर्शिता इस मधुर चित्र में न मिलेगी।

जो मनुष्य शृंगार को रसों का राजा मानता है उसके जीवन के अनुभव निःसन्देह एकागी होने चाहिये। मनुष्य के भीतर का निसर्ग शृंगार का भोक्ता है, यह मै भी मानता हूँ। लेकिन उसके भीतर का देव करुण रस के मन्दिर में ही प्रकट होता है। हमारे यहॉ अभी हाल ही से प्रेम-विवाह होने लगे है। ऐसे अनेक विवाहो में एक बात सहज दिखाई देती है।

पति-पत्नी के प्रेम की उत्कटता आगे चलकर उतनी नहीं रहती। इस विचित्र घटना की जड बहुत से मानसिक और सामाजिक कारणों में हो सकती है, लेकिन मुझे लगता है कि इस प्रेम के भाटे का एक प्रमुख कारण यह है, कि इन पति-पत्नीयों का कभी भी वियोग नहीं होता। प्रेम-विवाह की वधू को 'मगलागौरी' की पूजा के लिये तो छोड ही दीजिए, लेकिन किसी भी निमित्त से मायके जाने का शायद मौका ही नहीं आता। इस सकेत को भी, कि पहली प्रसूति मायके मे ही होनी चाहिए, शहर के हर नुक्कड पर प्रसव-गृह होने के कारण, अब कौन पालेगा? इसका परिणाम इतना ही होता है, कि मायके गयी पत्नी कब लौटती है – यह खिंचाव ही पति के मन को नहीं लगता। ठीक ग्यारहवें दिन प्रसूत-गृह का बिल भुगताकर उसे अपनी पत्नी को अपने घर वापस ले आना ही पड़ता है।

'अतिपरिचयादवज्ञा', 'जहाँ उपजता है वहॉ बिकता नहीं' इत्यादि अनुभव-सिद्ध कहावतें क्या वियोग का ही समर्थन नहीं करतीं? गृहस्थी को सुख-सम्पन्न बनाने के लिये मानसशास्त्र और अर्थशास्त्र के पडित हजारों उपाय सुझाया करते है। लेकिन कल यदि मै विधान-सभा का सभासद हो गया, तो मै यह विधान पास कराने का प्रयत्न किये बगैर न रहूँगा कि हर छः महीने के बाद पति-पत्नी को एक दूसरे से कम से कम पन्द्रह दिन दूर रहना ही चाहिए। हॉ, पर मैंने अपना जो यह सकल्प प्रकट कर

१ 'क्या मेरी शकुन्तला आज ही पति के घर जा रही है?'

दिया, यह कोई ठीक बात नहीं हुई ! इसे पढ़कर अनेक मतदाता – विशेषतः हाल ही मे विवाहित युगल – अपने मत मुझे देगे ही नहीं ।

मैत्री प्रीति का ही दूसरा रूप है । इसलिये वह भी इस नियम की अपवाद नही । एक ही शहर या गॉव मे रहनेवाले मित्रो की अपेक्षा भिन्न भिन्न शहरो या गाँवो में रहनेवाले अथवा कभी कभी मिलनेवाले मित्रों का स्नेह ही अधिक दिन तक टिका हुआ दिखाई देता है । होटल के भोजन में कभी भी किसी प्रकार का कोई भी परिवर्तन न होने के कारण, जिस तरह उससे अरुचि हो जाती है, उसी तरह नित्य मिलनेवाले मित्रों की स्थिति होती है । अर्थशास्त्र का यह नियम कि, दुर्लभता के कारण चीजें महॅगी हो जाती हैं, दुनिया के सभी व्यवहारों पर– नहीं, बल्कि भावनाओं पर भी– कम-अधिक परिमाण में घटित होता है ।

हम सब के नित्य अनुभय भी इसी तत्त्व को सिद्ध करते रहते है कि वियोग प्रेम-विकास का एक आवश्यक भाग है । ग्रीष्म में जब बेतहाशा गरमी पडने लगती है, तब मनुष्य को ऐसा लगने लगता है कि वर्षा कब होती है । वह आकाश के काले मेघों की ओर कितनी उत्कठा से देखने लगता है ! लेकिन वर्षा आरभ होने दीजिये । उन्हीं काले मेघो से वह बुरी तरह ऊब उठता है । जब सारी दिशाएँ धुंध हो जाती हैं तो उसे लगने लगता है कि धूप कब नज़र आती है ।

'The evil that men do,
lives after them
The good is oft interred
with their bones'[१]

अँटनी के मुँह से शेक्सपिअर द्वारा कहलाये गये उपरोक्त उद्गार उसके वक्तृत्व को शोभा देनेवाले भले ही हों, लेकिन यह कौन कहेगा कि वे सत्य है ? काल वियोग का ही अत्यन्त भव्य रूप है । और मुझे ऐसा नहीं लगता कि काल ने किसी के साथ अन्याय किया है । समकालीनो ने ईसा

१ 'मनुष्य की सज्जनता उसके साथ ही लुप्त हो जाती है । लेकिन उसकी बुराई ज़रूर पीछे रह जाती है ।'

को कीले ठोककर मार डाला, लेकिन भविष्यकालने अपने हृदय-पुष्प से उसकी पूजा की। जिन अभंगों[१] को मराठी भाषा पीढ़ियों से पूजती आयी है, उन्हें इन्द्रायणी में डुबा देने की कार्रवाई आखिर तत्कालीन लोगों ने ही तो की थी। मनुष्य का सच्चा स्वरूप उसके अन्तर्धान होने पर ही जग को दिखाई देता है। वियोग को इस से अच्छा और कौनसा प्रमाण-पत्र चाहिए?

और इसी लिये कभी किसी समय भगवान ने यदि मेरे सामने प्रकट होकर कहा, – 'वत्स, वर माँग।' तो मैं उस से एक ही वरदान माँगूँगा – 'प्रिय जनों का वियोग।' यह सुनकर भगवान भी असमंजस मे पड जायेंगे। कदाचित् वे मेरी मूर्खों मे गणना करेंगे। लेकिन मैं शरारत-भरी नजर से उनकी ओर देखता हुआ कहूँगा, – 'देखिये प्रभो, आप भी स्वर्ग छोडकर बार-बार पृथ्वी पर अवतार क्यो लेते हैं? इसी लिये न कि वियोग से स्वर्ग-सुख का माधुर्य बढता है?'

● ● ●

१ मराठी भाषा का एक काव्य-प्रकार, जिसका तुकाराम महाराज ने अपने काव्यग्रंथों में उपयोग किया है।

३२

पुस्तक के निशान

पुस्तको में निशान लगाने की आदत केवल अशिक्षितो में ही, चाहे वे बडे क्यों न हो जायें, नहीं पायी जाती होगी। जब जॉर्ज वॉशिंगटन के हाथ में कुल्हाडी आयी, तब अपने पिता के बाग के सब पेड़ों पर उसने अपना हस्त-कौशल दिखाया। उसी तरह बचपन में पेंसिल हाथ आते ही बच्चो को यह लगने लगता है कि कहाँ कहाँ कितनी लकीरे खींच डालूं। अनेक विद्वानो का यह मत है कि शकर की पिडी की पूजा आदि काल की लिंग-पूजा का ही अवशेष है। इसलिये यह कौन कह सकता है कि पुस्तक पढते हुए उस मे लगाए जानेवाले निशानो का उद्गम बचपन की इन आडी-टेढी लकीरों मे नहीं है?

यदि हम इस प्रश्न को भिन्न भिन्न विद्वानो के समक्ष उपस्थित करें, तो इस मे संदेह नहीं, कि इस के अनेक मनोरजक उत्तर प्राप्त होंगे। कोई साम्यवादी पडित कहेगा,—'मालकी हक जमाए बगैर मनुष्य से चुप ही नहीं बैठा जाता। यह सिद्ध करने के लिये ही, कि यह पुस्तक मेरी है, मनुष्य उसमें निशान लगाता है।' कोई मानसशास्त्रज्ञ यह मत प्रकट करेगा

कि – ' पुस्तकों मे निशान लगाना मनुष्य के अहकार का द्योतक है। इसके कारण अपने बाद उस पुस्तक को पढनेवाले के सामने अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने का जो मौका मनुष्य को मिलता है, उसे वह व्यर्थ क्यों जाने देगा ? किलों, मदिरों तथा अन्य दर्शनीय स्थानों की दीवालों को देखिये ! वहॉ दूसरा कोई शिलालेख भले ही न हो, लेकिन कई निकम्मे लोगों के हस्ताक्षरों से वे सारी दीवालें बिलकुल जैसे पुत जाती हैं। मनुष्य-स्वभाव ही है यह। ' यदि हमें कोई कामशास्त्रज्ञ मिल जाये, तो वह एक क्षण का भी विचार न कर, शान्ति से व्याख्यान झाडना शुरू कर देगा। कहेगा, – ' यह बात बिलकुल स्पष्ट है। कामुकता के अनेक प्रकार होते है। कोई लोग चुम्बन लेने के बदले अपनी प्रेमिका को करीब करीब काट ही खाते है। उसी तरह का यह प्रकार है। ऐसे लोगो को किसी भी पुस्तक का शान्ति से उपयोग करते ही नहीं आता। '

किसी भी शास्त्र को ले, फिर भी उसे यह सिद्ध करना कि पुस्तक में निशान लगानेवाले लोग भोले होते हैं, ज़रा टेढी खीर ही होगी। लेकिन मुझे यह शौक़ बचपन से है, यह जरूर सच है। पहले पहले लाल और नीली पेंसिल से पुस्तक का अन्तरंग रग देने में मैं कितना रंग जाया करता था ! जैसे वे वाक्य हाथ से भाग जानेवाले पारे के कण अथवा उड जानेवाले पक्षी ही थे। निशान लगाते समय एक ऐसा विचार भी आ जाता – आगे चलकर हम बडे लेखक बनेंगे, वक्ता होंगे, समाज के नेता बनेंगे। हमें हरएक पुस्तक की अक्षर अक्षर जानकारी होनी चाहिए ! ये रेखांकित वाक्य हमारे बडे काम के है। पर हॉ, चुराने के लिये नहीं, विचार करने के लिये।

बहुत-सी पुस्तकें रग चुकने के बाद मेरे ध्यान मे आया कि मेरी दशा गडकरीजी[१] के ' गोकुल '[२] की तरह हो रही थी। किसी बात को याद

१ राम गणेश गडकरी – मराठी भाषा के प्रसिद्ध आधुनिक साहित्यिक-कवि और नाटककार तथा उच्च कोटि के हास्यरस-लेखक।

२ गडकरीजी के नाटक का एक पात्र जो बड़ा भुलक्कड़ था।

रखने के लिये वह बेचारा अपने दुपट्टे मे गॉठ बॉध लिया करता था। लेकिन उसके सामने यह प्रश्न भी अचानक आकर खडा हो जाता था कि यह भी कैसे याद रहे कि गॉठ बॉधी है। मैने आज तक सैकडों पुस्तकों के उत्कृष्ट भागो पर अपने अभिप्राय लिखकर निशान लगाये है। लेकिन किस पुस्तक मे क्या है, यह मुझे कभी भी याद नहीं आता।

इस सिलसिले मे गडकरीजी का नाम निकल आया है, इसलिये उन्हीं के नाटकों को लीजिये। मेरी इन पुस्तकों को यदि कोई सुंदर चौक पूरनेवाली कुशल कन्या देख ले, तो वह भी आश्चर्यचकित हो जायगी। वैसे वह बात कि इतने छोटे स्थान में रगो की इतनी विविधता से सजावट हो सकती है, उसे स्वप्न में भी सच न लगती। परतु अब उन निशानों को देखकर, मैं उससे भी अधिक आश्चर्यचकित हो जाऊँगा, इसमें सदेह नहीं। उत्कृष्ट मानकर जिन भागों पर मैंने अपने अभिप्रायों के साथ निशान लगाये है, उन में के तीन अवतरण ही देखिए।

'यदि यह पता चल जाय, कि कल क्या होनेवाला है, तो ससार नीरस हो जायगा। इसलिये विधाता ने प्राणिमात्र का भाग्य ऑखो से न दिखाई देनेवाले ललाट पर लिख रखा है। लेकिन सारे विश्व का संसार जिसे रुद्र-शक्ति की इच्छा से चलाना है, उस महेश्वर को अवश्य, इसलिये कि वह अपना भाग्यलेख पढ़ सके, ललाट पर तृतीय नेत्र का लाभ हुआ है। यह त्रिकालज्ञ तृतीय नेत्र हम नश्वर जीवो के भाग्य में नहीं।'

(एकच प्याला)[1]

'जन्म लेकर आशावान मानवी जीव को ससार की पाठशाला में इतना ही पाठ पढ़ना पडता है कि'—

'मोह नसावा। त्याग ठसावा।
भावहि हृदयिं विरावा॥

1 (एक ही प्याला) गडकरीजी का मराठी नाटक।

आशामय हें । स्वप्नाचि आहे ।
हा भवि अनुभव यावा ।।
जीव निद्रानीं । नयन जलांनीं ।
ब्रह्मार्पणचि करावा ।। '[1]

(भावबंधन)[2]

' भविष्य का अज्ञान ही सृष्टि के लौकिक प्रपच का सार्वत्रिक सूत्र है । भावी ससार-रचना के विधाता के अधिकारों को अपने हाथ में लेकर, हम सदिच्छा और भोली आशा से जब जब सभाव्य की भुरभुरी बालू पर मन के महल खड़े करने लगते हैं, तब काल-पुरुष हमारे पीछे खडा होकर निर्दय विनोद से हँसता रहता है । यदि काल मृदु हृदय के गलीचे को रौंदकर न आता होता, तो हम उसके पदचाप सुन सकते । तारों की इस चमक का भला क्या अर्थ होगा? यदि हमें इसका पता लग जाय कि काल की ये हजारों ऑखें किस मतलब से चमकती रहती है, तो कितनी ही निराशाएँ पहले से ही दूर हो जायेंगी । '

(पुण्यप्रभाव)[2]

अठारह-बीस वर्ष पहले बड़ी रुचि से रेखाकित किये इन अवतरणों का कल्पनाविलास आज भी मुझे बडा मनोहारी लगता है । यही सच है कि कल्पना शुक्र की चॉदनी की तरह होती है । वर्ष ही नहीं, लेकिन सादियों — नहीं, बल्कि युग भी गुज़र जाये, फिर भी उसका स्निग्ध तेज रच मात्र भी मन्द नहीं होता । लेकिन शुक्र की चॉदनी का सौंदर्य मुझे मोहित भले ही करता हो, फिर भी मेरे जीवन मे हस्तक्षेप करने का उसे क्या अधिकार

१ ' कभी मोह न करना चाहिए । जीवन त्यागमय होना चाहिए । हृदयों म जो भाव आवें वे वहीं के वहीं गल जायें । जीवन में यह अनुभव हो कि वह एक आशामय स्वप्न है और अन्त मे हमे अपने नयन जल से अपने प्राणों को ब्रह्मार्पण करना है । '

२ गडकरीजी का मराठी नाटक ।

है ? मेरी कुंडली का शुक्र प्रभावकारक है अथवा मेरे हाथ के शुक्र का 'माउँट' विशेष ऊँचा नहीं है – सिर्फ इतने से ही अगर यह निश्चित होता है कि मेरी कला बढेगी या घटेगी, तब तो इसे अंधेरनगरी का न्याय ही कहना होगा।

मै उन लोगों में से हूँ जो यह कहते हैं कि मानवी जीवन का ग्रहो से कोई संबध नहीं। लेकिन मैने ही तो गडकरीजी के उपरोक्त अवतरणों पर निशान लगाये थे। उन अवतरणों मे जो तत्त्वज्ञान व्यक्त किया गया है क्या उसका मानवी जीवन से सचमुच निकट का संबध है? यदि मै इस तत्त्वज्ञान को स्वीकार करता कि आँखो के पानी का उपयोग केवल प्राणो को ब्रह्मार्पण करने के लिये ही है, तो नौ वर्ष पहले किसी की दो आँखों को देखकर तांबेजी[1] द्वारा लिखी निम्न पंक्तियो को निरंतर क्यों गुनगुनाता रहता ?

'अगाध दुर्मिळ जनीं
दिसे मज कांहिं लोचनीं ॥
या डोळ्यांच्या खिडक्यांभीतरिं
अफाट अनुपम दिसे माधुरी
प्रिये जिवलगे, काळिज त्यावरि
टाकिन कुरवंडुनी ॥
अथांग भरला अपार सागर
हेलकावतो अगाध सुंदर
नाचति रविकर जल-लहरींवर
नाचे मन पाहुनी ॥
मदनाचा कुणि तरुणि पाळणा
हलवी गाउनि दिव्य गायना

१ भा. रा. तांबे — मराठी भाषा के एक प्रसिद्ध आधुनिक कवि।

जादूची कां ही गे रचना
कीं भासचि हा मनीं ? ॥ '[१]

गडकरी का रामलाल[२] यह कहता है कि मनुष्य को अपना भाग्य आँख से न दिखे, इसलिये ईश्वर ने वह उसके ललाट पर लिख रखा है। लेकिन आज का मनुष्य कोई सृष्टि की बाल्यावस्था का मानव प्राणी नहीं है। वह दर्पण में अपना ललाट देख सकता है। यही नहीं, अपितु उसे अपने चेहरे के चाहे जितने फोटो भी देखने को मिल सकते हैं। रामलाल को इस बात का दुःख होता है कि शकर का तृतीय नेत्र हम मरणशील मानवों के भाग्य में नहीं है? शरद[३] को 'रघुवंश' के श्लोक बडी रसिकता से पढानेवाले इस डॉक्टर के ध्यान में यह बात कैसे नहीं आयी कि शकर को सारे जीवन में मदन को जलाने के सिवाय इस तृतीय नेत्र का और कोई भी उपयोग न हुआ। उस बेचारे को भिल्लनी बनी पार्वती को खोजने के लिये कितने कष्ट हुए? इस आँख का भविष्य जानने के काम में कुछ उपयोग होता, तो क्या शकरजी भस्मासुर आदि को बार-बार वरदान देने की मूर्खता कभी करते? इस तीसरे नेत्र से शकर ने मदन को भस्म कर दिया। लेकिन अनंग होकर भी मदन आखिर अमर तो हो ही गया न? यह उदात्त वर्णन कि-'मरणात खरोखर जग जगते। अधि मरण

१ 'तुम्हारे लोचनों में मुझे कोई ऐसी चीज़ दिखाई दे रही है जो अगाध है और ससार में दुर्लभ है। हे प्रिये, तेरी इन आँखों की खिडकियो के भीतर विशाल और अनुपम माधुर्य दिखाई दे रहा है। उस पर मैं अपना हृदय निछावर कर दूँगा, तेरी आँखों में सुदर, अथाह और असीम सागर भरा हुआ है। उसकी लहरों पर रवि की किरणे नृत्य कर रही है। यह देखकर मेरा मन मयूर भी नृत्य कर रहा है। कोई तरुणी दिव्य गीत गाती हुई मदन के पलने को झुला रही है। प्रिये, क्या यह सारी रचना जादू की है अथवा मेरे मन का यह निरा भ्रम ही है?'

२ 'एकच प्याला' नाटक का एक पात्र।

३ उक्त नाटक का एक पात्र।

अमरपण मग येतें '[१], शहीदों की तरह ही क्या मदन पर भी चरितार्थ नहीं होता ?

जीवन में कब क्या हो जायेगा, उसका कोई ठिकाना नहीं । लेकिन इस अर्थ की कि ' आशा के मंदिर बालू के किले होते है ', ' मानव भगवान् के हाथ का खिलौना है ', ' हुइ है वह जो राम रच राखा ', ' दुनिया में सुख जव के बराबर और दुःख पहाड के बराबर है ' आदि उक्तियाँ मनुष्य को अच्छी लगती है, यह अवश्य सच है । मानवजाति के मन की दौड अभी तक हार्डी के निराशावाद के परे जाती ही नहीं । महाराष्ट्र को आनदवन बनानेवाले समर्थ रामदास जैसे अमर आशावादी भी अगर मनुष्य को —

' मरे एक त्याचा दुजा शोक वाहे ।
अकस्मात तोही पुढे जात आहे ॥ '[२]

जैसा मानवी जीवनका दुर्बल वर्णन सिखावे, तो यह कितने आश्चर्य की बात है ?

इस प्रकार के निराशावादी तत्त्वज्ञान का उद्गम भविष्यफल की तरह मनुष्यों की दुर्बलता में ही होता है । जब कोई बात उनके मन के मुताबिक नहीं होती, तब छोटे बच्चे गला फाडकर रोने लगते है । जिस तरह आँसू दुर्बलों के अन्तिम शस्त्र है, उसी तरह क्या ग्रहो पर विश्वास और निराशावादी तत्त्वज्ञान अपंग और अपाहिज मनुष्यो की बैसाखियाँ ही नहीं है ?

एक प्राचीन कथा है । किसी ज्योतिषी ने एक राजा से कहा, – ' आप शीघ्र ही मरेंगे । ' राजा ने उसे पूछा, – ' आपके ग्रह क्या कहते है ? ' ज्योतिषी ने अकड़कर जवाब दिया, – ' मै शतायु हूँ । ' राजा ने तुरत

१ ' मरने से ही वास्तव मे जग जीवित रहता है। पहले मृत्यु होती है और फिर अमरत्व प्राप्त होता है । '

२ ' एक मरता है, तो दूसरा उसके लिये शोक करता है। लेकिन उसके बाद ही अकस्मात वह भी चल देता है । '

तलवार निकालकर उसका शिरच्छेद कर दिया। कुंडली के बलवान् ग्रहों में से एक भी बेचारे उस पुस्तकी पडित की सहायता के लिये न दौडे। सत्ताधारी राजा की ही बात क्यो ले? इसी तरह की एक हरिकीर्तनकार की भी कहानी है। दाहिने हाथ से बायीं कोहनी को कसकर पकडे हुए उसने अपना कीर्तन सदा की तरह मग्न होकर के समाप्त किया। उसके सामने बैठे हुए एक श्रोता को, जो क्षण क्षण में स्वय आडे-टेढे हावभाव कर रहा था, कीर्तनकार के आज के इस अभिनय का कोई अर्थ समझ में न आया। कीर्तन समाप्त होते ही उपरोक्त अभिनयपटु महाशय बडी जिज्ञासा से कीर्तनकार के पास गये और बोले, – 'आपकी कोहनी को क्या हो गया है, महाराज?' कीर्तनकार ने उलटकर उन्हीं से हँसते हुए पूछा, – 'आप क्यों बीच बीच मे हाथ नचा रहे थे? कौन से झटके आ रहे थे आप को? हनुमानजी की उडान का वर्णन हो रहा था, उसी समय श्रोतागण आपकी ओर देखने लगे। तब मै असमजस में पड गया था!' श्रोता महाशय बोले, – 'आप क्या जाने, महाराज? मै कितने सकट में था! मुझे तो खटमल काट रहा था, वह यदि आपको काटता तो —'

कीर्तनकार ने बायें हाथ की अस्तीन ऊपर चढायी। खटमल पीडित महाशय ने देखा – दबाकर रखने के कारण अधमरा हुआ एक छोटा बिच्छू था वहाँ। उसने जहाँ डक मारा था, वह जगह साफ दिख रही थी।

खटमल काटने के कारण बौखला जानेवाले उस उथले मनुष्य की वृत्ति ही अभी तक दुनिया में बहुत दिखाई देती है। गडकरी के नाटकों के इन अवतरणों पर निशान लगाते समय बीस वर्ष पूर्व मुझे लगता था – जीवन कितना दुःखमय है? लेकिन जिस भविष्य-फल से डरते डरते मैंने पिछले बीस वर्ष व्यतीत किये, वे क्या केवल दुःखमय थे? समुद्र की लहरों के हिंडोले में बैठ कर लिये झूले, बहन अथवा पत्नी की गोद मे सिर रख कर अनुभूत किया हुआ बचपन, जीवन के प्रवास में भिन्न भिन्न मार्गों से आकर मिले हुए और एक दूसरे का पाथेय खाने में आनद माननेवाले साथी, प्रेम की चाँदनी में और ध्येय की धूप में काल-पर्वत की एक एक श्रेणी लाघते समय हुआ अनुपम आनद, जिनकी स्मृतियों से भी मन को

सजीवनी प्राप्त होती है ऐसे त्याग और भोग के दिव्य क्षण – ऐसे कितने सुख गिनाऊँ ? जिनके एक एक पन्ने और पत्ते से आनद का गुलाब जल अहर्निश शरीर पर पड रहा है वे ये पुस्तके और पेड – जिनकी कलियॉ खिलीं कि मेरा मन आनंद से नाचने लगता है ऐसे ये फूल और बच्चे – भाटे मे भी जिसके अन्तरंग की गहराई कम नहीं होती ऐसा यह समुद्र औस उसी के समान अनेक सुहृद – आनद के ये सारे भंडार – जिस भविष्य के विषय में मैं सशक था, उसी ने क्या मुझे इन्हे नहीं दिया ?

गडकरी की यह कल्पना ही गलत है कि कालपुरुष पीछे से चोरी-चोरी आता है । मुझे लगता है – कालपुरुष वायु वेग से दौड़ता रहता है । लेकिन मनुष्य के स्थिर-प्रिय मन के लिये अवश्य उसकी गति से आगे बढना असभव होता है । तब भी वह सब को खींचता हुआ – घसीटता हुआ ले जाता है । इस गडबड़ी और छटपटी में किसी के शरीर में खरोंच लगती है, किसी को ठोकर लगती है, किसी को जख्म लग जाता है और दुर्बल मनुष्य इन छोटे-मोटे जख्मो को हौवा मानकर, इस प्रगति-प्रिय पुराण-पुरुष के नाम से रोते रहते है ।

काल की यह प्रगति-प्रियता कम से कम मुझे तो बार-बार जॅचती है । बीस साल पहले मैंने गडकरी के नाटकों के उन अवतरणों में निशान लगाये थे न ? अब पॉच-छः साल पहले मैंने गाल्सवर्दी का जो नाटक पढ़ा था उसे देखिये । उसके किस भाग पर मैंने निशान लगाये है ? तो Justice का यह वाक्य —

'Men like the prisoner are destroyed daily under law for want of that human insight, which sees them as they are patients and not criminals '[1]

१ 'गुनहगारो की तरह हज़ारो मनुष्यो को कानून के नाम पर हर रोज बालि दिया जा रहा है । इसका कारण एक ही है – अन्तर्दृष्टि का अभाव । कमज़ोरी और अपराधी वृत्ति – इन में क्या फर्क है, इसे दुनिया ने अभी तक जाना ही नहीं ।'

'Strife' में हडताल करनेवाले मज़दूरों के नेता रौबर्टस् के उद्गार भी कितने हृदयस्पर्शी है —

> 'It is not for this little moment of time we are fighting, not for ourselves, our own little bodies and their wants, it is for all those that come after throughout all time'[१]

सच ! भविष्य का भय किसे होता है ? उसे, जो यह मानता है कि जीवन केवल एक मनुष्य का सग्राम है। जिंदगी के छोटे-मोटे जख्म भी उसे व्याकुल कर देते हैं। उसे लगने लगता है कि मैं हार गया हूँ। लेकिन जीवन समर-भूमि भले ही हो, फिर भी जिसकी यह श्रद्धा है कि उस पर मैं मानव-जाति की लडाई लड रहा हूँ, वह अधिक जख्मी हो जाने के बाद भी हँसता ही रहता है। उसका यह विश्वास होता है कि आज नहीं तो कल उसका पक्ष अवश्य ही विजयी हो कर रहेगा।

आप यह प्रश्न पूछेंगे कि किसी समय गडकरी के उन निराशावादी अवतरणों में निशान लगानेवाले मनुष्य को यह तत्त्वज्ञान कैसे जॅचने लगा ? शायद आपके मन में यह देखने की उत्सुकता भी पैदा होगी कि इस लघुनिबध को लिखते समय मेरे समीप पडी हुई अनेक पुस्तकों के किन किन भागों पर मैंने निशान लगाये हैं ? लेकिन मेरे पास की पुस्तकें दूसरों की होने के कारण मैंने उन में एक भी निशान नहीं लगाया है। और सच कहूँ ? पुस्तकों के सारे निशान पुस्तकों में ही रह जाते है। जिनके निशान हम कभी नहीं भूलते ऐसा एक ही ग्रथ है। वह है हमारे द्वारा अनुभव किया हुआ जीवन।

● ● ●

---

१ 'हम इस एक क्षण के लिये अपने खुद के लिये अथवा अपने क्षुद्र के लिये और उसकी क्षणिक भूख के लिये नहीं लड रहे हैं। हमारी यह बाद में आनेवाली मानव जाति के लिये है।'

२३

मेरा गीत

कभी कभी बिलकुल मामूली कामों से भी हमें अरुचि हो जाती है। बारह बजे रात तक जागकर उपन्यास पढनेवाला पाठक किसी दिन हाथ में सर्वोत्तम उपन्यास होते हुए भी, दिन दहाड़े म्याल की ओर दृष्टि लगाये बैठा रहता है, तो इसका दूसरा कारण क्या हो सकता है? सत्ताईस मील की दौड में जो पहला नबर आया है, उस पुरुष का आत्म-चरित्र पढकर देखिये। आपको उस मे एक ऐसे प्रसग का वर्णन जरूर मिलेगा जहाँ वह लिखता है कि एक दिन बच्चे ने मुझ से खिलौना माँगा। लेकिन उसे अलमारी से निकालकर देने में मेरी जान पर आ गया था।

उस दिन मेरी भी हालत इसी तरह की हो गयी थी। मैं बिलकुल उकता गया था। दाढ़ी बनाना कोई कविता रचना अथवा विवाह करना नहीं होता। लेकिन मुझे लगने लगा कि वह बडा त्रासदायक काम है। पट्टे पर ब्लेड में धार करो, फिर ब्लेड उस्तरे मे मजबूती से लगाओ, ब्रश से साबुन का फेन निकालकर उसे गालो पर मलो – छि! छि! मेरे मन में यह कल्पना आ गयी कि दाढी बनाने की अपेक्षा बम बनाना भी सरल होगा।

मैने नौकर को एक नाई खोज लाने का हुक्म दिया।

पॉच मिनट के भीतर वह कोलबस की विजयी मुद्रा से लौट आया। उसके पीछे एक ढलती उम्र का व्यक्ति बगल में पेटी दबाए खडा था।

उस नाई की ओर मैने बडे कुतूहल से देखा। उसकी मुद्रा किसी दार्शनिक की तरह दिख रही थी। लेकिन उसकी पेटी का सामान बिलकुल ही मामूली था। शायद दाढी में वह कपडे धोने का साबुन ही लगा रहा था।

'कहिये साहब, क्या उलटी बनाऊँ?'— उसने प्रश्न किया।

'उलटी?'

मैने हाल ही में एक हास्यरस का चुटकिला पढा था, उसकी मुझे याद हो आयी .

एक महाशय को अपने मित्र से कुछ काम करा लेना था, इसलिये वह उसके घर गया। उसने हाथ जोडकर प्रार्थना कर देखी, किन्तु कोई सफलता नहीं मिल रही थी। अन्त में उस गरजमद महाशय ने अपने मित्र की दाढी को हाथ लगाने का निश्चय किया। लेकिन बेचारे के हाथ में मित्र की दाढी न आती थी। वह चकित हो गया। वह यह भी भूल गया कि किस काम के लिये आया हूँ। वह बोला,— 'तुम्हारी दाढ़ी इतनी चिकनी कैसे हो गयी?'

मित्र ने कहा,—'इसे उलटी कहते है!'

'मै भी भई, इसी तरह की बनवा लूँगा!'

मित्र ने जानकारी दी,— 'ऐसी दाढी बनवाने से पहले क्लोरोफॉर्म लेना पडता है!'

इस चुटकिले के स्मरण से सावधान होकर, मैने घर पधारे हुए उस स्थितप्रज्ञ नाई महाशय को उत्तर दिया,— 'उलटी नहीं, सीधी ही बनाओ।'

नाई जब अपना काम शुरू करता है, तब फिल्म देख रहे बुजुर्ग दर्शकों अथवा परीक्षा के परचे जॉचनेवाले वृद्ध परीक्षकों की आत्माएँ उसके शरीर में सचार करती होंगी!

जिसके हवाले मैने अपना सिर कर दिया था, उस कारीगर ने उसे एक बार इधर घुमाया, एक बार उधर घुमाया, बीच ही मे मुझ से गरदन उठवाकर, मुझ में आत्म-विश्वास निर्मित किया। तुरत ही मेरी गर्दन नीचे झुकाकर, मुझे विनय का महत्त्व जॅच दिया। मुझे लगा कि नयी साड़ी पहनकर बलखानेवाली नन्ही बालिका भी मेरे बराबर गरदन की हलचल न करती होगी!

एक पुरानी कहावत है कि 'राजा लूट ले और बारिश बरबाद कर दे, तो उसे चुपचाप बरदाश्त करना चाहिए!' नाई का भी नाम यदि इस तालिका में शामिल कर दिया जाय, तो कोई हर्ज़ नहीं। वह सिर पर चपतें जमाए अथवा पवन-चक्की की तरह उसे मनमाना घुमावे, फिर हूॅ या चॅू करने की गुंजाइश नहीं। न जाने नाई के हाथ में उस्तरा होने के कारण ही, क्या हम उसके ये अत्याचार चुपचाप सहन कर लेते हैं।

दाढ़ी के साथ ही मेरे गालों में ही नहीं, बरन सारे शरीर में भी जलन होने लगी। मुझे लगा – शायद 'ध' का 'मा' हो गया होगा[1]! मैंने 'सीधी' कहा था। लेकिन उस बूढ़े नाई ने 'उलटी' सुन लिया हो तो!

मन मे आया कि मुॅह खोलकर कुछ कहॅू, तभी ऑखों से पानी बहने लगा। यह सोचकर कि नाई का हृदय-परिवर्तन करने के लिये शब्दों की अपेक्षा ऑसू ही अधिक समर्थ हैं, मै चुप रहा।

वह अपना काम उसी तरह किये जा रहा था। लेकिन वह धीरे धीरे कुछ गुनगुनाने लगा। उसका स्वर कानों में पडते ही मेरा विश्वास हो गया

१ मराठों के इतिहास का यह सदर्भ है। पेशवा राघोबा दादा ने गारदियों को यह लिखित आज्ञा दी थी कि नारायणराव पेशवा को 'धरो' अर्थात् पकड़ लो। लेकिन राघोबा की पत्नी ने जो अपने पति को पेशवा पद पर आसीन देखना चाहती थी, राघोबा के अनजाने आज्ञा-पत्र 'ध' शब्द के बदले 'मा' कर दिया जिस से 'धरो' का 'मारो' हो गया और नारायणराव का वध कर दिया गया।

कि केशवसुत[1] की यह उक्ति कि 'गाण्याने श्रम वाटतात हलके'[2] बिलकुल झूठ है।

लेकिन इसी समय —

वह जो गुनगुना रहा था, वे पँक्तियाँ मेरे ही गीत की थीं —

'प्रेमवेडी बालिका
करुणा न ये काय कान्ता ?
प्रेमवेडी बालिका —'[3]

भर्राया हुई आवाज में उसके द्वारा गुनगुनाया गया वह गीत सुनते सुनते मेरी दाढ़ी कब बन गयी इसका मुझे पता तक न चला !

उसके चले जाने पर भरपूर स्नो लगाकर गालों को हिमालय की शोभा प्रदान करता हुआ मै लगातार उसकी चतुरता की सराहना कर रहा था। अपने हस्त-कौशल्य का उसे पूर्ण विश्वास रहा होगा। लेकिन गाने का क्लोरोफॉर्म देकर वह अपनी शल्यक्रिया मे सफल हो गया था !

यदि वह कोई दूसरा गीत गुनगुनाने लगता, तो क्या मै उसमें इतना खो गया होता ? कदापि नहीं। गर्दभ-स्वर में एक बूढे नाई का गाना सुनकर खुश होने के लिये मैं कोई गदहा न था।

उस गाने से मुझे जो आनद हुआ, वह बिलकुल भिन्न प्रकार का था ! एक बूढा नाई, जो अपने हस्ताक्षर भी ठीक से न कर सकता होगा, मेरा गीत गुनगुना रहा था। मेरी प्रतिभा की यह विजय – उस से अच्छी दाढी बनाते नहीं बनती, इसलिये उस पर मुझे जो क्रोध आया था, वह मेरे अहकार का समाधान हो जाने के कारण, न जाने कहाॅ गायब हो गया था।

१ मराठी भाषा के आधुनिक प्रसिद्ध कवि।

२ 'गाने के कारण हम तकलीफ को भूल जाते है।'

३ 'सूना मदिर' के आधार पर बनी मराठी फिल्म – 'देवता' का यह गीत है। नायिका अपने प्रियतम के चित्र को देखती हुई कहती है – 'इस प्रेम-दीवानी लड़की पर आपको करुणा क्यो नही आती ?'

सच, मनुष्य की बुद्धि की अपेक्षा उसके अहकार को सतोष देना कितना सरल है। हम चाहे तो उस धूर्त नाई की बात छोड दे! 'ब्रॅडीची बाटली'[१] के 'बगाराम'[२] को देखिये। वह बिलकुल बुद्धु है। उडाने की और पीने की 'दारू'[३] मे क्या अन्तर है, यह भी वह नहीं जानता। उसकी यह कल्पना होती है कि 'कोल्ड ड्रिंक हाउस' में रखे रंगबिरगे पेय ही ब्रैण्डी, विस्की और शैपेन है। टेलीफोन की घर्र घर्र आवाज कानो में पडते ही वह विश्वासपूर्वक कह देता है कि जिन डॉक्टर साहब को बुलाना है, वही यह खर्राटा भर रहे है। और वही मनुष्य जीवन का प्रमाण-पत्र मॉगने आये हुए बूढे से, क्लर्क के नाते किस तरह बर्ताव करता है, क्या यह देखने योग्य नहीं है? काम बहुत दिन से रुका रहा, इसलिये वह वृद्ध साहब से शिकायत करने की धमकी बगाराम को देता है। तुरत ही बगाराम महाशय उस भीष्माचार्य को कुरसी पर बैठा कर चाय पीने का आग्रह करने लगते है। चाय देने लायक मेहमानी करने के बाद बूढे के अहकार का समाधान हो जायेगा। यह शरीर में मास्तिष्क का जरा भी बोझ न रखनेवाले इस बुद्धू क्लर्क की समझ में आ जाता है। क्या यह बडे आश्चर्य की बात नहीं है?

छि! यह अत्यन्त स्वाभाविक बात है। मनुष्य विद्वान् हो, आथवा अनाडी। यह तत्त्व उसे निसर्ग ही सिखा देता है कि दूसरे के अहकार का समाधान कर देने से अपना काम आसानी से सिद्ध हो जाता है। दो आदमी किसी छोटे बच्चे से पूछें – 'तुम किसके हो?' तो जिसके हाथ में चिज्जी होगी उसके गले में बाहें डालकर वह बच्चा उस प्रश्न का बिलकुल सक्रिय उत्तर दे देगा। तरुण-तरुणियो के प्रेम-प्रत्रों में तो एक दूसरे के अहंकार की तृप्ति के लिये स्पर्धा ही चला करती है। 'तुम्हारे सहवास में झोपडी में भी मुझे स्वर्ग-सुख मिलेगा' – इस तरह लिखनेवाले तरुण को झोपड़ी की धूल से भरी जमीन और स्वर्ग की हरसिंगार के फूलों से

१ (ब्रैण्डी की बोतल) – एक मराठी फिल्म।

२ उस फिल्म का एक पात्र।

३ मराठी में दारू का अर्थ शराब और बारुद दोनो होता है।

सुगंधित हुई भूमि – इन में का अन्तर मालूम न होता हो, यह बात नहीं है। परतु प्रेम की लता खिलने के लिये सिर्फ त्याग के जल-सिंचन से ही काम नहीं चलता। उसके विकास के लिये अहकार के सतोष की धूप भी आवश्यक होती है।

केशवसुत की एक छोटी-सी कविता है। उसका प्रेमी अपनी प्रेमिका से पूछता है, – 'तुम किसकी हो?' वह उसके कधे पर मस्तक रखकर उस स्पर्श से सूचित करती है कि – 'मैं तुम्हारी हूँ।' इसके बाद वह पूछता है, – 'मै किसका हूँ?' वह उसके मस्तक को हाथ में लेकर उसे सहलाती है। विद्यार्थि-अवस्था में जब मैंने यह कविता पढी थी तब मैंने उसका यह अर्थ किया था कि प्रेम की बाढ में अहंकार का वृक्ष बह जाता है। अब मुझे लगता है – 'अहकार वृक्ष की तरह नहीं है, नागरमोथा की तरह है।'

कई लोग यह कहेंगे कि तरुण और तरुणियों के उदाहरण लेकर जीवनविषयक सिद्धान्तों को निर्मित करना बडा धोखे का है। उनका समाधान करना कोई बडी कठिन बात नहीं है। मनुष्य के आयु के साथ उसका अहकार बढ़ता जाता है। कम नहीं होता। 'माझा मुलगा'[1] फिल्म का बाप पुत्र को नौकरी करने के लिये कहता है, सो क्या केवल पुत्र के कल्याण की चिन्ता से? छि! यदि वैसा होता, तो अपने पुत्र को शोभा दे ऐसी कोई अच्छी नौकरी वह पहले ही खोज देता। वास्तविकता कुछ और ही है। बाप ने जिंदगी भर नौकरी की थी। इसलिये उसकी यह अहभाव-भावना ही कि मैंने जो किया वही मेरा पुत्र भी करे, उसके पुत्र-प्रेम की अपेक्षा अधिक प्रभावशालिनी सिद्ध हुई।

इससे भी अधिक मनोरजक उदाहरण मैंने देखा है। मेरे एक स्नेही का एक दकियानूसी महाशय की लड़की से प्रेम हो गया। उस लड़की को मेरा मित्र पसद था। लेकिन उसके दकियानूसी पिताजी को मेरे मित्र का नंगे सिर घुमना, पैजामा पहनना इत्यादि इत्यादि बातें बिलकुल पसद

1 मेरा लड़का।

न थीं। वे अपनी लडकी के लिये दूसरे वरों की तलाश भी करने लगे। नज़दीक का मैदान छोडकर दूर की टेकडी पर हवाई जहाज उतारने की तरह ही था यह।

परंतु उन्हें मनाया कैसे जाय? जब मुझे यह दिखने लगा कि मेरे मित्र की हालत 'रोमियो' जैसी होगी, तो मैने उसे तुरत एक सुदर 'सोला'[1] खरीदने की सलाह दी।

उसने आश्चर्य से पूछा,– 'सोला?'

'हॉ, यदि उस लड़की को चाहते हो, तो सोला खरीदने का यह व्यर्थ खर्च तुम्हे सहना ही होगा।'

शीघ्र ही विवाह के मुहूर्त आये। जगह जगह विवाह होने लगे। हर एक भोज में मेरा मित्र सोला पहनकर अपने भावी ससुर की पॅक्ति मे बैठने लगा। यह देखकर कि उसके अन्य सब साथी शर्ट पहने हुए ही भोज में सम्मीलित होते है और वह सोला पहनकर बैठने का नीति-धैर्य दिखा रहा है, उस लडकी के पिता को लगा कि लडका सुधर गया? उसी महीने के अंतिम मुहूर्त पर मेरे मित्र का विवाह हो गया। यह तो गनीमत हुई कि उस बूढे ससुर को इसका पता न चला कि उसके दमाद बाबू ने विवाह के दूसरे दिन ही अपनी पत्नी को 'आमलेट' खाना सिखा दिया। वरना वह दामाद बाबू पर 'चार-सौ बीस' का मुकद्दमा चला देता।

यह बात याद आती है तो आज भी मुझे हॅसी आ जाती है। लेकिन हँसी धीमी पडने पर लगता है – बेचारे उस मामूली मनुष्य पर हँसने में क्या लाभ है? असाधारण मनुष्यों को भी अहंकार के जाल से कहॉ निकलते बनता है? बिलकुल चोटी का कलाकार लीजिए। उसे प्रशसा का अजीर्ण कभी नहीं होता। स्वय अपने छोटे-मोटे दोषों को खुले मन से स्वीकार करने को कभी तैयार नहीं होता। गुणी मनुष्यो के आसपास निर्बुद्ध मनुष्यो की भीड़ हमेशा दिखाई देती है, इसका कारण अध अहकार ही है। सुभाष बाबू का त्रिपुरी कॉग्रेस के सभापति की हैसियत से चुनाव होते ही गाधीजी

[1] नहाने पर पूजा-पाठ और भोजन के लिये पहनने का रेशमी वस्त्र।

ने आम तौर से यह कहा कि ' यह मेरी हार है ', इसमें जितनी राजनीति थी, उतना ही अहकार भी था ।

सच तो यही है कि ' अह ब्रह्मास्मि ' वाले वेदवाक्य से लेकर ' जैसे अँधकार कह रहा था कि मैं ही मैं हूँ ' वाले वर्णनात्मक वाक्य तक सर्वत्र अहकार का साम्राज्य फैला हुआ है। इसलिये यह देखकर कि नाई मेरे द्वारा रचित गीत गुनगुना रहा है, यदि मैं यह भूल गया कि उसका हाथ कोमल नहीं है, तो आश्चर्य क्या है? यह सिद्ध करने के लिये कि मनुष्य के स्वभाव में अहंकार कितना प्रभावशाली है, ऐडलर जैसे मानसशास्त्रज्ञ अथवा शेक्सपीअर जैसे साहित्यिक के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। कोई मामूली फोटोग्राफर भी वह सिद्ध कर सकेगा। फोटो खिंचवानेवाला मनुष्य उसे हमेशा जता-जताकर कहता रहता है — ' देखिए, मेरा फोटो बहुत बढिया निकलना चाहिए, साहब ! ' अब फोटो का अच्छा निकलना केवल फोटोग्राफर की कुशलता पर ही अवलबित नहीं होता। कैमरा के सामने बैठनेवाले मनुष्य की सूरत का भी वह प्रश्न होता है !

कोई पूछेगा, ' Paint me as I am ' कहनेवाला क्रॉमवेल तो अहकार से अलिप्त था न? कुरूप मनुष्य यदि चित्रकार से यह कहे कि मेरा हू-बहू चित्र निकालो, तो यह कोई मामूली बात नहीं है। लेकिन मुझे लगता है — क्रॉमवेल को अहंकार के कारण ही उपरोक्त उद्गार निकालने का साहस हुआ। अपने पराक्रम पर उसे विश्वास था। वह अपने मन में तीव्रता से यह महसूस कर रहा था कि सारे देश में मै पूजा जा रहा हूँ। उसे इस बात का विश्वास था कि लोग अपने पूजनीय का रूप नहीं देखते, पराक्रम देखते हैं। इसी लिये वह ये अमर उद्गार निकाल सका।

अहकार जीवन का एक आवश्यक अंश भले ही हो, लेकिन यह झूठ नहीं कि वह वर्षा की तरह है। वर्षा की एक भी बूँद न गिरे, तो फसले जल जाती है, परतु अतिवृष्टि हुई तो वही फसलें सड जाती हैं। अहंकार के अभाव में मनुष्य पाषाण बन जायेगा। परतु उसके अतिरेक से वह

हिंसक पशु बन जाता है। मेरे मन में प्रश्न खडा हुआ – इन दोनों का स्वर्णमध्य (Golden Mean) निकालना सभव है क्या ?

सभव है। लेकिन उसके लिये वर्तमान समाजरचना को बदलने की जरूरत है। जिस समाज मे मुट्ठी-भर लोग ही विद्वान की हैसियत से अकड़कर घूम सकते है, उस समाज में यदि मनुष्य के अहंकार को अवास्तव स्वरूप प्राप्त हो जावे, तो आश्चर्य क्या है ? मेरी दाढ़ी बनाने आये उस नाई को यदि कविताएँ बनाने लायक शिक्षा और उन्हें लिखने का अवसर प्राप्त होता, तो वह मेरा गीत क्यो गुनगुनाता रहता ? और वह यदि मेरा गीत न गुनगुनाता, तो मेरा अहकार जाग्रत ही न हुआ होता।

अरे हाँ ! पर यह तो सभी गुड गोबर हो गया। उस जैसा स्वयं कविता रचनेवाला मनुष्य बगल में पेटी दबाये मेरी दाढ़ी बनाने आखिर आता ही क्यो ?

● ● ●

३४

गुमे हुए कागज़

आज कहानी भेज ही देनी थी। डाकखाने से डाक छः बजे निकल जाती है। मैंने घड़ी की ओर देखा। पाँच बज चुके थे। मेरी कहानी की प्रति-लिपि तैयार करनेवाले लिपिक के द्वारा लाये गये कागजों को मैं जल्दी-जल्दी जाँचने लगा।

दो कागज़ जाँच चुकने के बाद, मैंने तीसरा कागज उठाया ही था कि—

मेरी समझ में ही न आता था कि मैं क्या पढ रहा हूँ। आप जानते है कि देहातों में अकसर बीच के भाग काटकर फिल्म दिखाई जाती है, और उसे देखते समय दर्शकों की जो स्थिति हो जाती है, ठीक वही इस समय मेरी हो गयी।

इस ख्याल से कि पन्ने शायद उल्टे लग गये हो, मैंने सब कागजों को उलट-पलटकर देखा। लेकिन एक पन्ने का दूसरे से कोई सबध ही नहीं जुड रहा था। यह कहानी है या कि कोई पहेली, यह स्वय मैं ही नहीं समझ पा रहा था।

मूल हस्त-लिखित देखा। उसमें से तीन-चार पन्ने ही गायब थे।

घड़ी में सवापाँच हो गये थे ।

मैंने लिपिक को बुलाया । उसने सीधे कान पर हाथ रख दिये । बोला, – ' जितने कागज़ आपने दिये थे, उतनों की नक़ल करके ले आया हूँ । '

मैं बडे असमजस मे पड गया । आज की डाक से कहानी जा ही नहीं सकती थी । लेकिन कम से कम कल तो —

छि ! कल कितने रग में आकर कहानी लिखी थी ! अब यदि फिर से लिखने बैठूं, तो वही रग कैसे आयेगा ?

मैंने जो कागज लिखे थे, वे आखिर गये कहाँ ? क्या अवी ने उनके पतग बना डाले या कि मदा ने यह देखकर कि वर्षा हो रही है, उनकी नावें बना डालीं ?

बौखलाहट में हाथ-पाँव पटकता हुआ मै उन कागजों को खोजने लगा । नजदीक ही समाचार-पत्रों की रद्दी के दो-तीन ढेर पडे हुए थे । मुझे उन में से कुछ कटिंग निकालने थे, इसलिये मैंने उन्हे अभी तक पेन्शन नहीं दी थी । उन ढेरों को उलटते पलटते समय, इतिहास-अन्वेषकों के प्रति मेरा जो आदर था वह द्विगुणित हो गया । लेकिन साथ ही साथ मैंने मन में यह निश्चय भी कर लिया कि यदि कोई मुझे जागीर दे, तो उस जागीर के इतिहास का अन्वेषण मै कभी न करूंगा । इतने समाचार-पत्रों को मैंने उलट डाला – उन में ऐसा एक भी अंक न था कि जिस में मोटर की दुर्घटना और अभिनंदनीय विवाह का उल्लेख न रहा हो । परतु उन बातों से मुझे क्या लाभ था ?

मैंने अपनी कहानी मे नाती के लिये जीवित रहने की स्पर्धा से एक वृद्ध मनुष्य का मन किस प्रकार तरुण हो जाता है, इसका चित्रण किया था ।

समाचारपत्रों की रद्दी को लात मारकर दूर हटाया और फिर फटाक से मैंने अलमारी के दरवाज़े खोले । उन में रखीं सारी पुस्तकें बाहर निकालीं, कॉपियाँ उलट-पलटकर देखीं, इस अन्दाज से कि पत्नी सुन ले, दो-चार क्रोध-भरे शब्द भी मुँह से निकाले । लेकिन इन मे से किसी का भी कोई उपयोग न हुआ ।

अन्त में हताश होकर मैं बैठ गया। मुझे लगा कि मेरा जीवन ही दुर्घटनामय है। मेरे बारे में दैव का यही सकेत दिखता है कि कोई भी बात मेरे मन के अनुकूल न हो।

मेरे जीवन के अनेक प्रसग मेरी ऑखों के सामने मूर्त हो गये। मुझे दो बार सॉप ने काटा। पहली बार हम आठ लोग घूमने जा रहे थे और उन में मैं सब से पीछे था। दूसरी बार चार आदमियों में मै ही सब से पहला था। मतलब यह कि मुझे त्रास होना है, यह निश्चित ही दिखता है।

अब उस कहानी को कल फिर से लिखना पडेगा। लेकिन क्या वह मन के लायक लिखी जायेगी? छि! पहली बार के लिखने में एक विलक्षण प्रकार का माधुर्य हुआ करता है। पहले प्रेम-कटाक्ष और पहले चुम्बन का माधुर्य बाद के कटाक्षो और चुम्बनों में प्राप्त होना सभव नहीं।

मैं जो कल लिखूँगा, वह लेखन एक लिपिक की तरह होगा। उसमें आज की कला उतरे, यह सभव ही नहीं। किसी ने जो कहा है कि कला बिजली है, सो झूठ नहीं। कुशला रसोईदारिन की रसोई भी सदा सुंदर नहीं बना करती। फिर लेखन की क्या बात!

सारी रात मै उन गुमे हुए कागजों के बारे में सोच रहा था। बीच ही में एक बार मेरे दिल में आया कि मैंने उन्हें कहीं अपने बेग में तो नहीं रख दिया है। इसलिये मै बिस्तर से उठा, बत्ती जलायी, सारा बैग छान डाला और निराश होकर बिस्तर पर आकर फिर पड रहा।

सुबह उठकर चुपचाप लिखने बैठा। लेकिन पद-पद पर मेरा मन बेचैन हो जाता था। किसी नये अभिनेता को रग-मच पर प्रथम बार ही काम करते समय जो चिन्ता होती है, वही मुझे भी इस समय बेचैन कर रही थी।

मैंने जैसे तैसे कहानी समाप्त की। लेकिन लिखने के बाद हमेशा जो आनद मुझे मिला करता था, वह इस बार न मिला। शाम को वह कहानी डाक में छोड़कर, मैं घूमने गया। मन पर एक प्रकार की खिन्नता छाई हुई थी ही। पश्चिमीय आकाश में रगबिरंगे फव्वारे देखकर, वह छाया और भी अधिक बढ़ गयी। मुझे लगा कि किसी समय भी देखें सायकाल

की शोभा कभी भी फीकी नहीं लगती। लेकिन मानवी जीवन की शोभा अवश्य – मानवी जीवन एक ऐसा उद्यान है जिसकी लताओं पर केवल एक बार ही बहार आती है। यहाँ कल लिखी गयी कहानी की तरह कहानी आज लिखते नहीं बनती।

मै जब घर लौटा तब पत्नी ने कहा कि कल के गुमे हुए कागज मिल गये है। लेकिन इस समाचार को सुनकर मुझे आनद होने के बदले खेद ही हुआ। वे कागज यदि अब मैंने पढ़े और आज का लिखा मजमून उन में लिखे मज़मून की तुलना मे मुझे नीरस लगा तो —

सहमते-सहमते ही मैंने उन्हें हाथ मे लिया। पत्नी से यह तक न पूछा कि वे कहाँ मिले। अपने कमरे मे जाकर मैंने उन कागज़ो पर कुछ इस तरह का आक्रमण कर दिया जैसे एक भूखा शेर अपने शिकार पर झपटता है! मुझे ऐसा लगा जैसे गुनहगार के पिंजडे से मै मुक्त हो गया हूँ, अथवा मियादी बुखार मे मुझे पसीना आना शुरू हो गया है।

उन कागजो का मजमून, और जो मज़मून मैंने आज लिखा था – दोनो में बहुत अन्तर था। लेकिन आज का मजमून भी कल की तरह ही अच्छा था। कल न सूझी हुई कुछ सुदर कल्पनाएँ आज सूझ जाने के कारण, दो-तीन स्थानो पर तो आज का ही मज़मून अधिक सुदर बन पडा था।

'डाइमंड' कुत्ते ने लैम्प उलटकर न्यूटन का अनमोल ग्रंथ जला डाला था, फिर भी वह गणितज्ञ उस कुत्ते पर क्रोधित क्यों नहीं हुआ, इसका कारण अब मेरी समझ मे आया। उसे यह विश्वास था कि मैंने जो लिखा था, वह फिर से लिखा जा सकेगा यही नहीं, किन्तु उससे भी अधिक अच्छा मै लिख सकूँगा। वह उन लोगों मे से न था जो भूत-काल की ओर लालची की तरह देखते बैठे रहते है, बल्कि भविष्य की ओर हँसते हुए दौड़नेवालों मे था।

मुझे लगा कि टेनिसन की 'Home They Brought Her Warrior Dead' कविता इस अनुभव पर एक रूपक ही है। उस कविता की पत्नी पति का शव देखकर आँसू नहीं बहाती। लेकिन जब उसका नन्हा

बच्चा उसकी गोद मे रखा जाता है, तब वह तुरत ही फूट-फूटकर रोने लगती है। क्या उसके ऑसुओं से यही विश्वास व्यक्त नहीं होता कि भूत-काल निर्जीव है और भविष्यकाल सजीव है।

उन गुमे हुए कागजों के लिये कल रात-भर मेरे मन में जो बेचैनी हो रही थी, उसके लिये स्वय मुझे ही अपने आप पर हॅसी आने लगी। सायकाल के समय मुझे लगा था कि साध्य-बेला की शोभा कभी भी फीकी नहीं होती। अब मुझे लगा कि मानवी जीवन का सौन्दर्य सायकाल की अपेक्षा भी अधिक रमणीय है। उसमें नित्य नये नये रगों की छटाऍ दृग्गोचर हो रही हैं। मनुष्य जब जॅगली अवस्था में था, तब वह झोपडियों में रहता था, आज बॅगलो में रह रहा है। उस अवस्था में वह चकमक पत्थर से आग पैदाकर अपना घर प्रकाशित करता था। आज बटन दबाकर विद्युद्दीप से वह उजेला ले रहा है। पेट के दर्द से छटपटाता हुआ भगवान के आगे जाकर नाक रगडने के बदले आज वह अपने कुशल हाथों से उस रोग पर शल्य-क्रिया कर सकता है। ये सब बाते मानव-जाति का भविष्यकाल के प्रति उज्ज्वल विश्वास होने के कारण ही हुई है।

फिर मुझे कल यह क्यों न लगा कि गुमे हुए कागजों के मजमून की अपेक्षा अधिक अच्छा मजमून मै लिख सकूँगा ?

कल की मेरी दुर्बलता का कारण क्या सामान्य मनुष्य की भूतकाल के प्रति अधश्रद्धा ही नहीं है ? भविष्य ऑखों से नहीं दिखता, इसलिये मनुष्य यदि उसके विषय में सशंक हो, तो इसे हम स्वाभाविक मान भी सकते है। लेकिन, क्या वर्तमान पर उसका विश्वास नहीं होना चाहिए ?

'सिटैडेल' उपन्यास में एक ऐसे प्रसग का वर्णन है जब कि एक गिरी हुई खदान में एक मजदूर को उसका हाथ काटे बगैर ऊपर लाना संभव नहीं होता। हाथ काटने के लिये यदि उसे क्लोरोफॉर्म दें, तो जल्दी जल्दी लाये गये बैग में रखी क्लोरोफॉर्म की बोतल ही फूटी हुई मिलती है। जिस स्थान पर ये सब लोग खडे हुए होते है, वह कब टूटकर गिर जायेगा इसका कोई ठिकाना नहीं रहता। इसलिये अफीम का इन्जेक्शन

देकर उस मजदूर के पूरी तरह से बेहोश न होते हुए ही उसका हाथ काट देना पडता है। उस समय डॉक्टर कहता है – ' यहाँ पुस्तकें किस काम की है ? '

क्या भूतकाल भी पुस्तकीय ज्ञान के समान ही नहीं है ?

इस डॉक्टर की विचार-शक्ति यदि मुझ मे रही होती, तो गुमे हुए कागजो के लिये खार खाने मे समय न खोकर, मै तुरत ही लिखने बैठ जाता। उस डॉक्टर पर जो मौका आ गया था वैसा मौका जीवन में हरएक पर कभी न कभी अवश्य आता ही है। लिखे हुए कागजों की ही कौन बड़ी बात है ? उनकी अपेक्षा अधिक मूल्यवान हमारी कितनी ही चीजें गुम जाती है। किसी की पढाई की उम्र व्यर्थ गुज़र चुकती है, किसी को नाम कमाने का अवसर प्राप्त नहीं होता, कोई प्राप्त अवसर से लाभ ही नहीं उठाए रहते, किसी की प्रीति-देवी की मूर्ति जिसे वह सगमरमर की मानता है, मिट्टी की निकल जाती है। अनेक बार यह अनुभव होता है कि जीवन दुर्घटनाओं से भरा है ! तो क्या इसलिये ये सब लोग अपनी खोयी हुई चीजो के लिये सिर्फ रोते रहें ?

मेरे सामने कल लिखे हुए और आज लिखे हुए कागज पडे थे। दोनों में नाती के लिये जीवित रहनेवाले – अपने पर अवलबित रहनेवाले नन्हे जीव के लिये हाथ-पॉव पटकनेवाले एक वृद्ध का स्वभाव-चित्र था। वह स्वभाव-चित्र ही इस प्रश्न का उत्तर दे रहा था।

लेकिन यह स्वभाव-चित्र जिन कागज़ों पर लिखा था, वे खो गये, इसी लिये तो मैं कल इतना बेचैन हो गया था !

● ● ●

३५

सुखी बचपन

मेरे बचपन में 'शारदा'[1] नाटक की महाराष्ट्र मे बड़ी धूम थी। वह एक अत्यन्त लोकप्रिय नाटक था। इस नाटक में कारुण्य और हास्य का अत्यन्त मनोहर मिश्रण है। उसका स्वाभाविक विनोद – सेहरा बाँधनेवाले बूढे दूल्हा का मजाक किसे अच्छा न लगेगा? उस नाटक के 'सिर्फ पौन सो वर्ष' के बूढे श्रीमत के सामने उसकी भावी वधू शारदा दिखाने के लिये लायी जाती है। उसे देखते समय, बूढा उस लडकी से बकवाद करने लगता है और यह देखकर कि वह नाराज हो गयी है, क्षमा माँगने के लिये अपने ही मुँह पर चाँटा मार लेता है जिसके परिणाम स्वरूप उसका नकली दाँतों का सेट पट-से नीचे गिर पडता है और साथ ही उसके तारुण्य के स्वाँग का भी भडा फोड हो जाता है। यह प्रसग अत्यन्त ही मनोरंजक है।

लेकिन केवल विनोद ही शारदा की लोकप्रियता का एकमात्र कारण

---

१ जरठ कुमारी विवाह पर देवल के द्वारा लिखा गया एक प्रसिद्ध मराठी नाटक जो किसी समय समूचे महाराष्ट्र में अत्यन्त लोकप्रिय था।

न था। उस समय बिलकुल गरीब मज़दूरों से लेकर, रसोईघर सम्हालनेवाली धार्मिक और पवित्र वृद्धाओ तक – हरएक 'शारदा' के किसी न किसी गीत को गुनगुनाता रहता था। 'जय कृष्ण तट वासा', 'बगुनि त्या भयकर भूता', 'कधि करती लग्न माझें', 'माया जळली का', 'म्हातारा इतुका न'[1] – आदि एक नहीं, दो नहीं – शारदा के कितने ही गीत मुझे आज भी कंठस्थ हैं। लेकिन, जिसने इन सब गीतों से भी अधिक मेरे मन को प्रभावित किया था वह बचपन के विषय का निम्न गीत था। जिस प्रकार किसी निर्मल जलाशय मे छोटी छोटी मछलियाँ उछलती-कूदती दिखाई देती है, उसी तरह उस समय मुझे यह भ्रम हुआ करता था कि इस प्रसादपूर्ण गीत मे मेरे मन की कितनी ही भावनाएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं —

'बालपणींचा काळ सुखाचा आठवतो घडिघडीं
तशि न ये फिरुन कधिं घडी ॥ धृ० ॥
किती हौसेनें टाकिली असती त्यांत मागुती उडी
परि दुबळी मानव-कुडी ॥
मनिं नव्हती कशाची चिन्ता, आनंद अखंडित होता
आक्रोश धारणापुरता ॥
जें ब्रह्म काय तें मायबाप ही जोडी
खेळांत काय ती गोडी ॥'[2]

आठ वर्ष की अवस्था से लेकर बारह-तेरह वर्ष की अवस्था तक, जब मेरे मन में कोई भी काँटा चुभने लगता, तब यह गीत मैं मन ही-मन

१ 'शारदा' नाटक के गीतों की पंक्तियाँ।

२ 'बचपन का सुखदायी समय हर घडी याद आता है। जीवन में वैसा समय फिर कभी नहीं आता। मैं बडे शौक से फिर से बच्चा हो जाता, पर क्या करूँ, इस दुर्बल मानव-देह के लिये अब वह असभव है। उस समय मन में कोई चिन्ता न थी। आनंद अखंडित था। रोना सिर्फ पेट भरने के लिये था। माँ-बाप ही भगवान थे। जो कुछ मज़ा था, वह सिर्फ खेल में ही था।'

गुनगुनाया करता। नींद की दवा खा लेने से वेदनाओं के कारण तडपने-वाले रोगी को जिस तरह नशा आ जाता है, उसी तरह इस गीत से मेरा मन सारी चुभन को भूल जाया करता था।

लेकिन इस गीत का जादू चार-पॉच साल तक ही रहा। जब मै तेरह वर्ष का था तभी पिताजी मुझे अनाथ कर गये। बचपन में परब्रह्म लगने-वाली मॉ के विश्वरूप-दर्शन का ही मुझे बारबार दर्शन होने लगा! बचपन के खेल छुकडपन मे शामिल हो गये और मुझे यह विश्वास हो गया कि बचपन का अखड आनद अमरुद की फॉक और चने की डाल पर सतोष माननेवाले पिंजडे में बद तोते का आनद था।

आगे चलकर, दो-चार साल के बाद मै कॉलेज मे भरती हुआ। उस समय गडकरीजी[1] ने एक जगह लिख रखा था कि आधे टिकट में सफर करना और नाटक देखना बचपन का सुख है। इसे पढ़ने पर मुझे रह रहकर उस गीत का स्मरण होने लगा। लेकिन वह आनद की दृष्टि से नहीं, किन्तु मजाक की दृष्टि से! मै मन में कहने लगा—ये कवि लोग बडे झूठे होते है। वे पूरी तरह जानते हैं कि किसी को भी अपने बचपन की याद नहीं रहती। इसलिये उसके बारे में मनमानी गप्पें हॉकने मे उनकी गॉठ से क्या खर्च होता है! क्या अमृत का भी वे बडे मजे से वर्णन नहीं करते? बचपन का उनका वर्णन भी उसी प्रकार का है।

जब शाला मे पढ़ता था, तब मै बचपन के पक्ष का वकील था। अब मैंने उसके विरुद्ध वकालतनामा ले लिया है। दॉत आने लगते है, तो छोटे बच्चे किस तरह परेशान हो जाते हैं। हवा मे थोडा भी परिवर्तन होता है, तो छोटे बच्चे किस तरह बीमार पड जाते है। रसोईघर में रखे पानी के पीपे का नल यदि मौज के लिये कहीं खोल दें, तो उन पर तुरत ही किस तरह चपतें बरसने लगती है। यदि कभी रात को रोने की सनक आ जाये, तो घर के बडे किस तरह उनपर नाराज हो जाते है—ये सब बातें मेरी नजरो के सामने लहराने लगीं। उस गीत की एक पंक्ति का स्मरण

१ राम गणेश गडकरी—मराठी के प्रसिद्ध नाटककार, कवि और हास्यलेखक।

करके तो मुझे हँसी ही आ जाती। इस पंक्ति मे कवि कहता है कि मै बडे शौक से फिर से बच्चा हो जाता। मुझे लगा करता कि यदि ब्रह्माजी का बाप भी मुझ से बचपन को फिर से स्वीकार करने का आग्रह करने लगे, तो मै उससे कहूँगा – 'भगवन्, मुझे एकदम पोपले मुँह और गजी खोपडी का बूढा बना दो, चाहो तो अपने विमान में बैठाकर साथ में बैकुठ ही ले चलो। लेकिन फिर से बचपन? क्षमा करो महाराज। आपके वे तुकारामजी लिख गये है – 'लहानपण दे गा देवा। मुगी साखरेचा रवा'! क्या तुकाराम महाराज ने यह कभी नहीं देखा था कि शक्कर के कणों के लिये दौडनेवाली चिऊँटियाँ पैरो तले किस तरह रौदी जाती है।'

कॉलेज के रमणीय उपवन से अपने राम शीघ्र ही बाहर निकले। तुरत ही गन्ना चरखे मे डाल दिया गया। पेट के लिये हाथ-पाँव पटकना, निरपेक्ष प्रेम का अभाव, गृहस्थी की राह कटकापूर्ण और गड्ढो से भरी हुई – इन सब नये अनुभवों के कारण जी जैसे पूर्णतया ऊब जाया करता। मै स्वयं अपने आपको यह कह कर संतोष देने लगा कि छाया से जब धूप में आते हैं, तो पहले पहल इस तरह के कष्ट होते ही है। रणभूमि में विजय प्राप्त करनेवाला सैनिक सेना में जिस दिन भरती हुआ होगा, उस दिन वहाँ का अनुशासन और कठिन परिश्रम देखकर रो दिया होगा। है क्या उसमे बडी बात! कली को तितली से कोई त्रास नहीं होता। उसी तरह उसकी सुगध से भी किसी को नशा नहीं चढ़ता। मुझे उस बचपन की जरूरत नहीं। उसमे कोई आनंद होगा भी तो वह अज्ञान का है! कहते हैं कि बचपन में कोई चिन्ता नहीं होती। ठीक है। न होती होगी। बड़े लोग बच्चों की चिन्ता किया करते है, इसलिये बच्चे निश्चिन्त रहते हैं। ऐसा परतंत्र जीवन बिताने में कौनसा पुरुषार्थ है?

लेकिन पुरुषार्थ कोई बाडी की साग-भाजी नहीं है!

यह सच है कि प्रौढावस्था पराक्रम की उम्र है। लेकिन जीवन की रणस्थली में साधारण मनुष्य को जखम ही अधिक लगते हैं। इस रणस्थली की उसे कोई कल्पना नहीं होती। किस तरह लडा जाये, यह भी उसे कोई नहीं सिखाता। इस के कारण जो वार वह आसानी से रोक सकता है,

वे भी उसके शरीर को स्पर्श कर जाते है। पहले पहल अपने जख्मों से बह रहे रक्त की ओर वह अभिमान से देखता है। लेकिन आगे चलकर सतत बहनेवाले जख्मों के कारण वह कमजोर हो जाता है। उसके शरीर की तरह उसका मन भी शिथिल पड़ जाता है। रणस्थली से चाहे वह ना भागे, फिर भी उसे ऐसा लगने लगता है कि आक्रमण करने के बदले अपना बचाव करने की नीति ही स्वीकारनी चाहिए – जलते हुए अगारों का कोयले में रूपान्तर हो जाता है।

चालीस की सीमा के करीब पहुँचते ही यह अनपेक्षित अनुभव भी मुझे हुआ। मन के उत्साह में एकदम भाटा आ गया। कोई कुछ भी कहे, चालीस के इस पार मनुष्य वीर होता है, लेकिन चालीस पार करते ही वह राजनीतिज्ञ होने लगता है। यह जीवन का एक कटु सत्य है। उस समय मन को यह लगने लगता है कि बड़ी लड़ाई में हार जानेवाली प्रौढावस्था की अपेक्षा क्षुद्र विजयों में आनद माननेवाला बचपन ही अच्छा है। नन्हे अविनाश को प्यार करते समय 'बालपणींचा काळ सुखाचा' गीत मैं पुनः पुनः गुनगुनाने लगा, इसका भी दूसरा और क्या कारण हो सकता था? शेलीने भी कहा है कि अपने उत्कट दुःखों को वर्णन करनेवाले गीत ही अधिक रमणीय होते हैं। उसी का जैसे अनुभव कर रहा था मै।

ऐसे गीतों से क्षण-भर के लिये हम अपने दुःख भूल जाते हैं। लेकिन उनका निर्मूलन कैसे हो? बिस्तर पर बीमार पडे हुए किसी रोगी की तरह मेरा मन बेचैन होने लगा। बाहर निरभ्र धूप हो, सुदर चॉदनी पड रही हो, सामनेवाले वृक्षों की चोटियों पर पक्षी कलरव करते हों, चील वायुयान की तरह आकाश मे मडराती हो अथवा नजदीक की मिल के धुएँ के गुब्बारे मेघों से मिलने के लिये नृत्य करते हुए ऊपर जा रहे हों – रोगी को यह सब पडे-पड़े ही देखना पड़ता है। जीवन का प्रवाह उसे दिखता है, लेकिन उसमें क़दम रखने का मौक़ा उसे नहीं मिलता।

मेरे मन की भी उसी तरह की असहाय स्थिति हो गयी थी। अविनाश की बाल-लीलाएँ देखने में, उसके साथ खेलने मे एक प्रकार का

काव्य था। चाँद को 'दीया' कहकर वह उसकी ओर उँगली दिखाता, तब क्षण-भर के लिये यह भासित होता जैसे जीवन के आनद की एक अद्भुत-रम्य धरोहर ही मुझे मिल गयी है। जब बारिश होने लगती, तब ओलती के नीचे हाथ रखने मे उसे कितना आनद मिलता? पके आम को वह बार-बार सूघता रहता। मोटर की आवाज़ सुनते ही, सब खेल छोडकर एकदम वह उठ पडता। मोटर किसी की भी हो, ठेला हो या कार, कोई खटारा भी धूल उड़ाता हुआ और कर्कश आवाज़ करता हुआ सड़क से गुजरे, फिर भी पट्ठा उस पर खुश ही होता।

जीवन की ओर नयी दृष्टि से देखनेवाले बालक से प्रौढ मनुष्य को कितनी ईर्षा होती है। मुझे भी वह हुई।

लेकिन वह क्षण-भर के लिये ही। बालक की उस दृष्टि में काव्य भले ही हो, लेकिन वह मानवजाति के प्रारभिक काल को शोभा देनेवाला काव्य होता है। प्रौढ़ मन को रिझाता है, पर उस पर बहार नहीं ला सकता।

बात-की-बात में दो साल बीत गये और वह बोलने लगा। जब तक बोलते नहीं बनता था, तब तक मेरे दाढ़ी बनाते समय वह जल्दी जल्दी आकर मेरे पास बैठ जाया करता, साबुन लगा मेरा चेहरा देखकर अपना मनोरंजन कर लिया करता और यदि अधिक ही गडबड़ करता, तो सहारा गोल्ड ब्लेड का रगीन आवरण उसके हाथ में दे देनेसे उस पर का छोटे ऊँट का चित्र देखने में वह पूर्णतया खो जाया करता। लेकिन तुतलाकर बोलना शुरू करने पर उसने मुझसे प्रश्न किया, — 'दाली क्यों बनाते हो?'

सच! मैं दाढ़ी क्यों बनाता हूँ? दूसरे बनाते है, इसलिये? बढी हुई दाढ़ी अच्छी नहीं लगती, इसलिये? यदि चिरजीव पूछे, — 'वह क्यों अच्छी नहीं लगती?' तो इस प्रश्न का क्या उत्तर दूँगा?

बालहठ से भी बालप्रश्न बिकट होता है, इसका मुझे हर रोज अनुभव होने लगा। घर की रसोईदारिन मासिक धर्म की छुट्टी ले लेती और माँ ने कहीं उससे कह दिया,— 'बेटा, मौसी को मत छूना।' तो तुरंत ही वह प्रश्नों की झड़ी लगा देता। 'उन्हे क्या हो गया है?', 'क्यों न

छिङ्कूँ ? ', ' क्या वे गदी हैं ? ', ' क्या वे रोज़ अपने दाँत साफ नहीं करतीं और इससे उन्हें गदगी लग गयी है ? महाभारत मे एक कथा है कि धर्मराज ने यक्ष के प्रश्नों के उत्तर देकर अपने भाइयों के प्राण बचाये। लेकिन धर्मराज के बच्चा होने के बाद, उस बच्चे के कितने प्रश्नों का उन्होंने उत्तर दिया, यह अवश्य महाभारत में कहीं भी नहीं लिखा है।

रास्ते से चलते समय ' वह क्यों लोता है ? ', ' कुत्ता क्यों सोता है ! ' इत्यादि प्रश्न पूछकर अविनाश मुझे बिलकुल परेशान करने लगा। गवाह को विरुद्ध पक्ष का वकील भी इतना परेशान न करता होगा। उसके प्रश्नों के, मेरे द्वारा दिये गये उत्तरों का यदि सकलन करें, तो विदूषक के साम्राज्य में लोकप्रिय होनेवाला एक छोटा-सा ग्रथ ही तैयार हो जायेगा।

मेरे उत्तरो से उसे अनेक बार सतोष न हुआ करता। लेकिन उसके निरतर प्रश्न पूछने के कारण मुझे अवश्य एक नयी दृष्टि प्राप्त हुई। बचपन का समय केवल काव्यमयता के कारण सुखी होता है, यह बात नहीं है। काव्य के बराबर ही बालक की जिज्ञासा भी प्रबल होती है। और जिज्ञासा ही प्रगति की माता है!

चालीस की सीमा के भीतर आते ही मेरे मन पर जो निराशा छाई थी, उसका कारण अब मुझे स्पष्ट हुआ। ज्ञान, प्रेम, यश, धन इत्यादि के पीछे दौड़नेवाले मेरे मन को उसका सच्चा मूल्य मालूम हो चुका था। अब किस के पीछे दौडूँ, यही मेरी समझ में नहीं आता था। मेरा मन बैठ गया था।

लेकिन अविनाश के उस एक प्रश्न ने उसे जगा दिया – ' वह बच्चा क्यों लोता है ? '

रास्ते पर एक छोटा बच्चा रो रहा था। उसका वह रुदन देखकर, इस बालजीव से चुप नहीं बैठा जाता था। उसने पूछा कि वह क्यों रोता है। और मेरे आसपास के लाखों लोग रो रहे हैं, अखिल मानवजाति की आँखों से अखड अश्रु बह रहे हैं, फिर भी मै जग की ओर उदासीनता से देखने लगा था। छि! चालीस के जीवन के बाद पूर्ण-विराम नहीं आ सकता, प्रश्नचिन्ह ही आता है। जीवन के पिछले

अनुभवों को ध्यान मे रखकर अपने सामने खडे हुए प्रश्नों के क्रियारूप से उत्तर देने में ही जीवन की सफलता है।

बालकों की लीलाएँ देखकर आजकल भी मुझे 'बालपणींचा काळ सुखाचा '[1] इस मधुर चरण की याद हो आती है। परंतु उस पंक्ति को गुनगुनाते हुए मुझे लगता है कि बचपन की रम्यता अज्ञान में नहीं, जिज्ञासा में है – जिज्ञासा के कारण मनुष्य जिस पराक्रम के लिये प्रवृत्त होता है, उसमे है।

● ● ●

१ 'बचपन का समय सुखदायक होता है।'

३६

एक कतरन

मैंने बंबई के अपने मित्र का वह पत्र बड़ी उत्सुकता से उठाया। ग्रीष्म में हवा का एक छोटा-सा झोंका मनुष्य को कितना आल्हाद-दायक मालूम होता है! जीवन की चिलचिलाती धूप में भी दो पंक्तियों के पत्र के कारण मनुष्य के अन्तःकरण को उसी तरह की ठडक प्राप्त होती है। हमारे आस-पास के लोगों को अपने आधे से अधिक दुःखों का पता ही नहीं चलता। इस कारण प्रेम के सोते बिलकुल निकट बहते हुए भी कुटुम्ब का मनुष्य अनेक बार अतृप्त रहता है। 'मुझे प्यास लगी है'– यह वह उन सोतों से नहीं कहता। और इसे प्यास लगी होगी इसकी कल्पना ही न होने के कारण वे सोते उसकी ओर दौड़कर नहीं आते।

ऐसी स्थिति में अपनी प्रेम की प्यास को मनुष्य पत्रों से ही बुझा लेता है। तैल-चित्र की तरह जब मनुष्य दूर हो तभी उसका अन्तःसौन्दर्य आँखों में भरता है शायद। लेकिन मेरा अनुभव यह है कि प्रत्यक्ष भेंट की अपेक्षा पत्रों में ही मनुष्य के मन का प्रेम अधिक प्रकट होता है।

और इस समय तो प्रेम के चार शब्दो की मुझे बडी आवश्यकता थी। मै अपनी पत्नी से लड बैठा था। लडाई का कारण वैसे कोई बडा न था। लेकिन बातका बतगड हो गया और हम दोनों ने एक दूसरेसे बात करना बद कर दिया था। मै जब लिखने बैठा तब उससे जताकर कह दिया था कि दो घंटे मै शान्तिपूर्वक लिखने वाला हूँ। जरा बच्चों को सम्हाल लेना। लेकिन मेरी यह बात औंधे घट पर पानी डालने की तरह सिद्ध हुई। पॉच दस मिनट भी नहीं हुए थे कि दो 'बदर' मेरे कमरे में घुस पडे, और उन्होंने जो भी पुस्तक हाथ लगती उसे खींचना-खॉचना शुरू कर दिया। मैने क्रोध से पत्नी को पुकारा। उसने कोई आवाज तक न दी। मैने दोनो बच्चो के हाथ पकडे, उन्हे घसीटता हुआ रसोईघर में पत्नी के सामने ले गया और कर्कश स्वर में चिल्लाकर उससे कहा, – 'मैं मनुश्य हूँ या कोन हूँ ?'

तवे पर की रोटी को उलटाते हुए उसने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, – 'मै भी तो आपकी तरह मनुष्य ही हूँ !'

मै गुस्से से भरा हुआ कमरे में वापस आया। बच्चों के ऊधम की अपेक्षा पत्नी के उत्तर पर ही मुझे अधिक क्रोध आ गया था। कहती है, – 'मै भी तो आपकी तरह मनुष्य ही हूँ!' मेरे मन में आया – वापस फिर से रसोईघर में जाऊँ और उससे कहूँ, – 'मैं और तुम – दोनों ही मनुष्य है। लेकिन तुम साधारण मनुष्य हो और मैं असाधारण मनुष्य हूँ। रोटियाँ सेंकनेवाली तुम्हारी जैसी औरतें घर घर में है। लेकिन मुझ जैसा लेखक —'

डाकिया डाक ले आया था। इसलिये मेरे विचारों की शृखला यहीं टूट गयी।

डाक से बंबई के अपने मित्र का पत्र मैंने बड़े उत्साह से उठाया। लिफाफे पर के गोल और सुडौल अक्षरों में भी उसका मेरे प्रति प्रेम व्यक्त हो रहा है, ऐसा मुझे आभास हुआ। 'हापूस'[१] का पका हुआ आम

१ कलमी आम की एक जाति जो महाराष्ट्र में बहुत प्रसिद्ध है।

है । हू-बहू मेरे समान दिखनेवाला एक मनुष्य बम्बई मे है, इस मे कोई शक न था । मैं यदि कोई राजा होता, तो इस बीसवीं शताब्दि में भी 'तोतयाचे बंड '[१] हो सकता था । इतनी मेरे और उसके रूप में समानता थी ।

मै उस मनुष्य के विषय में विचार करने लगा । वह कौन होगा भला ? बहुत सोचने के बाद मुझे लगा कि यह मनुष्य किसी कंपनी में कोई मामूली-सा क्लर्क होगा । उस मनुष्य को इससे अधिक ऊँचा दरजा देने के लिये मेरा मन तैयार ही नहीं होता था । हजरत की सूरत ही वैसी थी, इसके लिये कोई क्या करे ?

लेकिन तुरत ही मेरे ध्यान मे आया कि उसकी और मेरी बाह्य आकृतियो मे कोई फर्क नहीं है । मतलब यह हुआ कि सिर्फ बाहरी आकृति से मेरा मूल्य भी एक मामूली क्लर्क से अधिक न माना जायेगा, यह स्पष्ट ही था ।

इस विचार से ठेस खाया हुआ मेरा अहकार कहने लगा — आकृति की अपेक्षा कृति का ही महत्त्व अधिक होता है । आज जिस पुरुष को हिंदुस्तान के करोडो लोग महात्मा कहकर सम्मानित करते है, उसका बाहरी रूप कोकण के किसी दरिद्री ब्राह्मण से अधिक भिन्न नहीं है ।

इस दलील से क्षण-भर के लिये मुझे सतोष हो गया । किन्तु तुरंत ही मन मे विचार आया — मनुष्य का असामान्यत्व उसकी आकृति मे नहीं, यह सच है । परंतु वह कृति मे तो होना चाहिए न ? जीवन में मैने ऐसा कौन-सा काम किया है, कि जिसके कारण मेरी गणना असामान्य व्यक्तियों में होने लगे ?

---

१ पानीपत की लडाई में सदाशिवराव पेशवा के गायब हो जाने के बाद कुछ स्वार्थसाधुओ ने पेशवापद के लिये एक नकली सदाशिवराव पेशवा खड़ा कर दिया । यह व्यक्ति हू-बहू असली सदाशिवराव की तरह दिखता था । लेकिन नाना फडणवीस ने इस नकली सदाशिवराव की असलियत को पहचान लिया और उन स्वार्थसाधुओं से लडाई की । इस ऐतिहासिक प्रसग को लेकर नरसिंह चिंतामण केलकर द्वारा लिखा गया नाटक ।

कुछ समय पहले यह कहकर कि 'रोटियाँ सेंकनेवाली औरतें घर घर में हैं', मैंने पत्नी को अपमानित किया। लेकिन दुनिया में लेखक भी क्या कम हैं? तुर्गनेव, टॉलस्टॉय, हार्डी, गोर्की, शरच्चन्द्र, झ्विग आदि जैसे असाधारण लेखकों की यह तालिका कितनी ही बडी होगी। इन में से मैं किसी एक के पासंग में भी न उतरूँगा। कुछ समय पहले पत्नी ने मुझे जो उत्तर दिया था, वही अधिक सच्चा था। वह जो रोटियाँ सेंक रही थी, वे एक बार की भूख को शांत करनेवाली थीं। लेकिन मैं जो लेख लिखने बैठा था, उसे भी कौन ऐसी कोई बडी जिंदगी मिलनेवाली थी? एक महीना — एक वर्ष — अगर मट्टी अच्छी पकी, तो अधिक से अधिक पाँच-दस साल!

पडोस में रहनेवाली एक लडकी जोर जोर से एक कविता कहने लगी थी। मैं सुनने लगा —

> "जन पळभर म्हणतिल 'हाय! हाय!'
> मी जातां राहिल कार्य काय?
> सूर्य तळपतिल, चन्द्र झळकतिल
> तारे अपला क्रम आचरतिल!
> होईल कांहिं का अंतराय?
> सखे सोयरे डोळे पुसतिल
> पुन्हा आपल्या कामिं लागतिल
> उठतिल बसतिल, हंसुनि खिदळतिल
> मी जातां त्यांचें काय जाय?
> राम कृष्ण ही आले गेले
> त्याविण जग का ओसचि पडलें —"[1]

१ 'लोग क्षण-भर के लिये 'हाय हाय' कहेंगे। मेरे चले जाने से उसका कौन-सा काम रुक जानेवाला है? सूर्य चमकता रहेगा। चन्द्रमा झलकता रहेगा। तारे भी अपना कार्य करते रहेंगे। इन कामों में कोई फर्क न पडेगा।'

माँ ने उस लडकी को पुकारा, इसलिये कविता आधी ही छोडकर वह चली गयी। लेकिन मेरे कानों मे ही नहीं, किन्तु मन मे भी उसकी प्रत्येक पंक्ति गूँज रही थी।

ताबेजी[1] की यह कविता मैंने पहले पढी थी, सुनी भी थी। लेकिन उसका सच्चा अर्थ आज मेरी समझ मे आया। पहले मेरा यह ख्याल था कि कवि ने यह कविता शायद इसलिये लिखी होगी कि मनुष्य मृत्यु से न डरे लेकिन अब मेरा विश्वास हो गया कि वह कविता मृत्यु के विषय मे नहीं, जीवन के विषय मे है। जीवन के सामान्यत्व को जो पहचान सकता है, उसी का जीवन सुखी होता है – कवि का यही तत्त्व समझाना था, इस मे संदेह नहीं!

कीर्ति, संपत्ति, पराक्रम, प्रतिभा – ये सब कुछ भी हो, तब भी मानवी जीवन के वस्त्रालंकार है। क्षण-भर के लिये दर्शकों की आँखों को चकाचौंध कर देने की सामर्थ्य उन में है। लेकिन मानवी-जीवन की आत्मा इन असामान्य वस्त्रालंकारों में नहीं। वह सब में सामान्यता से रहनेवाली प्रेम, वात्सल्य और भूतदया इत्यादि भावनाओं मे है।

मेरे मित्र ने जो कतरन भेजी थी उसे लेकर, मेरे समान दिखनेवाले उस व्यक्ति की ओर मैंने कुतूहल से देखा। उसके और मेरे सिर्फ रूप में ही नहीं, बल्कि अंतरंग मे भी साम्य है, ऐसा मुझे लगा। मेरी तरह वह भी अपने कुटुम्ब के लिये परिश्रम करता होगा और उसे भी ऑफिस जाने की जल्दी रहती होगी। इसलिये यदि पत्नी किसी दिन समय पर रसोई तैयार न कर सकी, तो वह उस पर नाराज भी होता होगा।

'मित्र और आत्मीय आँखें पोंछकर फिर से अपने अपने कामों में लग जायेंगे। नित्य की भाँति उठेंगे, बैठेंगे, हँसेंगे और इठलाएँगे। मेरे चले जाने से उनका क्या बिगड जायेगा?

'राम और कृष्ण जैसे महापुरुष भी आये और चले गये। लेकिन उनके बिना क्या यह दुनिया वीरान हो गयी?'

1 भा. रा. ताबे – मराठी के एक प्रसिद्ध आधुनिक कवि।

शायद मेरी तरह उसे भी लिखने का शौक हो। मेरे शौक को परिस्थिति की अनुकूलता प्राप्त हो जाने के कारण मै लेखक हो गया। प्रतिकूल परिस्थिति के कारण वह क्लर्क बनकर दूसरे किस्म का लेखन करने लगा। लेकिन सिर्फ इसी एक कारण से मै उससे श्रेष्ठ हो गया, यह बात थोड़े ही है।

मै वह कतरन लेकर रसोईघर मे गया और उसे पत्नी को दिखाता हुआ बोला,– 'हम लोग जब फिर बंबई चलेंगे, तो इन महाशय से जरूर मिलेंगे।'

वह हँसकर बोली,– 'इस के लिये बंबई जाने की क्या ज़रूरत है?'

मेर मित्र की तरह उसने भी धोखा खाया था!

मैने कहा,– 'यह मेरा फोटो नहीं है। मेरे समान दिखनेवाले किसी एक दूसरे महाशय का है। उसका पता लगाकर मै उससे पूछनेवाला हूँ —'

'क्या पूछिएगा?'

'तुम अपनी पत्नी पर यूँ ही बिगड़ते हो या नहीं?'

'धुत्!'

'धुत्!' इस शब्द मे कोई कालिदास की कल्पना नहीं। 'धुत्!' घर घर में पद पद पर उच्चारित होता है। एक साधारण शब्द है। लेकिन उसमे कितनी मिठास भरी हुई है। असाधारण की अपेक्षा साधारण मे जो माधुर्य होता है, उसके कारण ही जग सुखी हुआ है – मुझे यह समझा देनेवाली कतरन की ओर मैने आदर से देखा —

क्षण-भर के लिये मुझे लगा – ये महाशय यदि कुछ मोटे होते अथवा इनकी नाक इतनी बैठी हुई न होती, तो अच्छा होता! कम-से-कम महाशयजी को चश्मा तो न लगाना था।

प्रेमाचें हृदयीं उषी कुमुद जें संकोच गे पावलें
देसी त्यास विकास ! चित्त म्हणुनी नाथाकडे लागलें.'[१]

ताबेजी को भयभीत करनेवाली सायकाल की छाया केशवसुत को आनद देती है। ऐसा क्यों होना चाहिए ?

घर आकर मैंने दोनो कवियो के सग्रह निकालकर, ये दोनों कविताएँ पढ़ी। ये कविताएँ उन्होंने कब लिखीं, यह मैंने देखा ही था कि – सायकाल के एक ही दृश्य का वर्णन मेरे प्रिय कवियो ने इतनी भिन्न भिन्न रीतियों से क्यों किया, इसका मुझे स्पष्टीकरण हो गया। ताबेजी ने अपनी कविता साठ वर्ष की उम्र मे लिखी। केशवसुत ने अपनी 'सायकाल' कविता जब लिखी थी, उस समय उन्होंने हाल ही मे अपने जीवन के पचीस वर्ष व्यतात किये थे !

वैसे देखा जावे तो केशवसुत की अपेक्षा ताबेजी के प्रेमगीत अधिक सरस है। क्या ऐसी एक भी नववधू होगी जिसे ताबेजी के द्वारा वर्णित 'डोळे हे जुल्मि गडे रोखुनि मज पाहु नका'[२] इस मधुर अनुभूति का अनुभव न हुआ हो ? ऐसा एक भी प्रौढ न मिलेगा जिसे उनके द्वारा कहा गया 'प्रीति ना वसे कधींहि उंच त्या गडावरी'[३] यह सुदर सत्य कभी न कभी न जँचा हो।

' पदर गळाला, उडे वायुवर
कुरळे उडती केसहि भुरभुर

१ 'दिनमणी अस्ताचल की ओर गमन कर रहा है और रात आ रही है। हे रात्रि, तेरे नाम में कितनी मोहिनी है। हृदय के प्रेमरूपी कुमुद को उषा सम्पुटित कर देती है उसी को तू आकर विकसित कर देती है। इसी लिये मेरा चित्त मेरे नाथ की ओर लग गया है।'

२ 'प्यारे, तुम्हारे नैना बडे जुल्मी है। इस तरह टकटकी लगाकर मेरी ओर न देखो।'

३ 'प्रीति उस गड पर इतनी ऊँचाई पर कभी नहीं रहती कि हम उसे न पा सकें।'

प्रमदे, बघ त्यां सावर आवर,
कां उभी प्रवाहीं शून्य मनीं ?'[1]

उपरोक्त चरण मे जिस प्रेम-समाधि का वर्णन है उसका अनुभव न करनेवाली प्रणयिनी कोई न होगी ! और —

'गुलाब माझ्या हृदयीं फुलला
रंग तुझ्या गालांवर खुलला
कांटा माझ्या पायीं रुतला,
शूल तुझ्या उरिं कोमल कां ?'[2]

इस पहेली के हल होने का आनद जिस ने पूरी तरह न लूटा हो, ऐसा तरुण — छि ! शाला और कॉलेजके प्रमाण-पत्र के अनुसार ऐसा मनुष्य तरुण हो भी, फिर भी मै उसे दादाजी कहकर ही पुकारूँगा ।

ये सारे सुदर गीत गानेवाली प्रतिभा को 'ढळला रे ढळला दिन सखया' जैसे करुण उद्‌गार क्यो निकालना चाहिए ?

इस कविता का

'नैवेद्याची एकच वाटी
अतां दुधाची माझ्या गांठीं
देवपुजेस्तव ही कोरांटी
बाळगी अंगणीं कशी तरी'[3]

१ 'तेरा आचल खिसक गया है और फरफरा रहा है । तेरे घुँघरवाले बाल भी हवा में उड रहे है । उन्हे देख, सम्हाल और रोक । प्रमदे, इस तरह शून्य-मन से नदी के किनारे क्यो खडी है ?'

२ 'गुलाब मेरे हृदय मे खिला, लेकिन उसके रग की छटा तेरे कपोलो पर कैसे आयी ? कॉटा तो मेरे पैर मे चुभा, लेकिन तेरे कोमल हृदय मे उसकी चुभन क्यो ?'

३ 'भोग लगाने के लिये मेरे पास अब केवल यही एक दूध की कटोरी रह गयी है और भगवान की पूजा के लिये मैंने आगन में ये दो-चार कटसरैया के पौधे जैसे तैसे बना रखे है ।'

जायेंगे अथवा ज्ञानेश्वरी पढने लगेंगे। इसलिये यदि प्रौढ अवस्था में अपनी प्रेयसी को संबोधित कर

'तव नयनिं उजळले बालरवी'[१]

कहनेवाले तांबेजी अपनी ढलती उम्र मे यदि

'लागले नेत्र रे पैलतिरिं'[२]

कहें, तो आश्चर्य क्या है?

●●●

१ 'तुम्हारे नयनों मे बाल-रवि चमक रहे हैं।'
२ 'मेरे नेत्र दूसरे लोक की ओर लग गये है।'

३८

दाढ़ी और दर्पण

जीवन एक अकल्पित प्रसगों की माला ही है, इस में सदेह नहीं। मोटर की दुर्घटना होने से किसी सुदर लडकी से परिचय हो जाना, जिसकी कल्पना तक न थी ऐसा कोई काका या मामा पैदा हो जाये और उसकी लाखों रुपयो की जायदाद मिल जाये, किसी शातिर चोर को पकड़ने के लिये इनाम रखा हो और वह चोर किसी होटल मे हमारे सामने ही आइस-क्रीम खाता हुआ दिख जाये और वह इनाम हमें ही मिल जाये – इत्यादि बातें चूँकि मेरे जीवन में हुई हैं, इसलिये मैं जीवन को अकल्पित प्रसगों की माला कह रहा हूँ, ऐसी कोई बात नहीं है। ऊपर जैसे प्रसग तो नाटकों और उपन्यासों में ही आ सकते है!

लेकिन सत्य अनेक बार अकल्पित कथा से भी अधिक चमत्कार-पूर्ण होता है। रण-भूमि में जाकर लड़ते-लडते घायल हो जाने का मौका हम में से किसी पर भी सहसा नहीं आता! लेकिन क्या ऐसा एक भी मनुष्य मिलेगा जिसने केले के छिलके पर पैर फिसल जाने के कारण जनता-जनार्दन को आम सड़क पर साष्टाग-प्रणाम न किया हो, अथवा कम-से-कम

लोगो को तार पर का नाच मुफ्त मे न दिखाया हो? मोटर की दुर्घटना मे सुदर तरुणी से भेट होने और मेरी ओर देखकर उसके चुपके से मुस्करा देने का मौका मुझे कभी भी नहीं आया। लेकिन हम सडक से जा रहे हो और उसी समय सामने से एक स्त्री चली आ रही हो। हम दोनो की कहीं भिडन्त न हो जाये, इसलिये हम उसे रास्ता देने के लिये एक तरफ हटें और हमें रास्ता देने की गरज से वह स्त्री भी हमारी तरफ ही आजावे और फिर हम दोनो जैसे कबड्डी खेलना शुरू कर दे – यह अनुभव जरूर मैंने अनेक बार किया है। ऐसे समय आसपास के लोगों मे जो कहकहा लगता है —

हमारे जीवन में ऐसी कितनी ही मजेदार बाते हमेशा हुआ करती हैं। रुमाल से मुँह पोंछते हुए होटल से बाहर आवे और 'काउंटर' के पास जेब में हाथ डालने के बाद पता चले कि मनीबैग घर पर भूल आये है, बाद मुद्दत के पत्नी के साथ बॉक्स मे बैठकर सिनेमा देखने का इरादा करें और उसी दिन मेहमानों की एक पलटन हमारे घर अचानक आ टपके। इस तरह एक नहीं, दो नहीं – कितनी ही अनपेक्षित आपत्तियाँ मामूली मनुष्य पर भी आती रहती है!

मै जिसे कहनेवाला हूँ, वह सकट इसी तरह आया। एक सप्ताह तक स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवास करने के लिये पत्नी को साथ लेकर अपने राम रवाना हुए। प्रवास मे सामान की झझट न रहे, इसलिये जितना कम सामान ले जा सके, उतना कम सामान ले जाने का मैंने निश्चय किया। जब पत्नी मेरी तीसरी धोती भी होल्डॉल में रखने लगी, तो मैंने तुरत ही कहा, – 'अजी, हम इंग्लैंड नहीं जा रहे है!'

'गाडियाँ कोई हमारे इशारे पर नहीं छूटा करतीं। कभी कपडे सुखाने को वक्त न मिला तो? —'

'तो तुम्हारी आधी साडी मै पहन लूँगा!'

'धत्! यह क्या कह रहे है आप?'

'धत् का क्या मतलब? राजा नल के आधे वस्त्र पर दमयती ने आखिर कुछ दिन गुजार ही दिये थे न?'

'सफर के वक्त आप तो जैसे एक छोटे बच्चे की तरह बातें करने लगते है !'

उसकी बात पर भी ध्यान न देकर मैंने कहा, – 'आजकल समान अधिकार का जमाना है। इसलिये पति यदि पत्नी की आधी साड़ी पहन ले, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। उलटे इस में फायदा ही है उसका।'

'इस में फायदे की क्या बात है ?'

'वैसे पॉच गजी साड़ी पहनने के लिये आनाकानी करनेवाली पत्नी साडी की लबाई आधी हो जाने पर आखिर पॉच गजी साड़ी पहनने ही लगेगी !'

मेरी पत्नी यह हमेशा स्वीकार करती है कि पॉच गजी साड़ी पहनना कोई बुरी बात नहीं है। लेकिन इस सुधार को अमल में लाने का साहस उसे एक बार भी नहीं हुआ था।

गुदगुदी करते ही छोटा बच्चा जिस तरह एकदम ठहाका मारकर हँसने लगता है, उसी तरह पॉच गजो साडी पहनने के बारे में मेरा यह ताना सुनकर वह खिल पडी।

धोती की तरह दर्पण का भी किस्सा रहा। उसका कहना था कि सफर मे भी हमारे पास दो दर्पण होना ही चाहिए। एक स्वयं अपनी कंघी-चोटी के लिये और दूसरा पति की दाढी के लिये।

मैने कहा, – 'इन आठ दिनों मे मै दाढ़ी वाडी कुछ नहीं बनाऊँगा !'

श्रीमतीजी ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा। शायद उसे यह भासित हुआ हो कि हमारे गोत्र के मूल ऋषि महाराज ही मेरे बदन में घूम रहे हैं।

मेने कहा, – 'आठ दिनो के बाद तुम मुझे पहचान लोगी न ? या कि पुलिस मे जाकर यह रिपोर्ट कर दोगी कि कोई दढियल तुम्हे भगा ले जा रहा है ?'

कुछ भी न बोलकर उसने मेरा दाढ़ी बनाने का सामान बैग मे रखा।

लेकिन दाढी के बारे मे मैने जो कहा था, वह मजाक न था । वह मेरी बिलकुल भीष्म प्रतिज्ञा थी। प्रवास मे आठ दिनो तक सपूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करने का मैने निश्चय किया था । हर रोज का वही-वही उबा देनेवाला जीवन-क्रम एक प्रकार का कारागार ही होता है और इस कारागार की सजाएँ भी कितनी भयकर होती है? नित्य सुबह उठते ही दाढी बनाओ, घर से बाहर निकले तो कोट पहनो, आठ बजे कि चलो, स्नान करो, साढे आठ को दूसरी चाय पिओ,– साढे नौ को भोजन, दस बजे ऑफिस – छि! छि! छि! रेलगाडी अगर कभी देर से आये तो काम चल जाता है। लेकिन मनुष्य को अवश्य एक एक मिनट के साथ नाचते रहना चाहिए।

सफर मे ये सारे बधन आप ही आप गायब हो जाते है! इसी लिये तो बिलकुल दपति के साथ जोन टिकिट से लाभ उठाने का मैने निश्चय किया था।

मेरी योजना के अनुसार पाँच दिन तो बडे मजे से कटे। पिंजडे से मुक्त हुआ पछी भी मेरी तरह स्वच्छन्दता से नाचता-चहकता न होगा। चाहे जिस रद्दी स्टेशन पर उतर जाना, बस्ती के किसी होटल मे पहुँचना, यदि वहाँ नदी हुई, तो तैरने के लिये चल देना, बाजार में ककडियाँ खरीदकर वहीं भिखारी की तरह उन्हें खाना, किसी मोटर ड्राइवर से या किसी हमाल से गप्पें हाँकना – मनुष्य को यदि कोई पहचानता न हो, तो कितना सुखी रहता है वह! मुझे लगा कि हरून-अल्-रशीद वेश बदलकर घूमा करता था, उसका रहस्य यही होगा!

लेकिन कहते हैं कि मनुष्य का सुख उसके भाग्य से नहीं देखा जाता, यही सच है। इसका अनुभव मुझे छठवें दिन हुआ। हम एक कस्बे-नुमा शहर के होटल में ठहरे हुए थे। मेरे तत्त्वज्ञान का श्रीमतीजी पर भी धीरे धीरे परिणाम होने लगा था। इसलिये उसने अभी तक अपनी कघी चोटी भी नहीं की थी। मैने सिर्फ पहली चाय पी थी और अखबार के विज्ञापन पढता हुआ एक टूटी आरामकुर्सी पर पडा था। एक बार और चाय पीने की इच्छा हुई, इसलिये अटारी से उतरकर नीचे आया।

चाय की पहली चुस्की लेकर 'फिरवा ना सखया जरा डोळे '[१] गीत मैंने गुनगुनाया ही था कि एकदम ऑखे 'फेरने' की नौबत आ गयी मुझ पर। मेरा सहपाठी दिगबर दीक्षित अचानक मेरे सामने आकर खडा हो गया। हम दोनो कक्षा में एक ही समय एक बेन्च पर खडे रहा करते थे, एक दूसरे को नकल दिया करते थे। विद्यार्थी-अवस्था के वियोग के समय हर सप्ताह एक दूसरे को पत्र लिखते रहने की हम दोनो ने शपथे भी खायी थीं। आगे डाक-विभाग ने कार्ड-लिफाफो के मूल्य बढा दिये, इसलिये हमे वे शपथें तोडनी पडीं, यह बात दूसरी है। लेकिन कुछ भी हो, मेरे सामने मेरा जिगरी दोस्त दिगू खडा था।

इस शहर में उसकी चचेरी-ससुराल थी। एकदम मेरा हाथ पकडकर हजरत मुझे बाहर खींचकर ही ले जाने लगे। मैंने कहा,–'अरे भई, मेरी पत्नी, कोट, टोपी सब चीजे ऊपर है।'

'फिर क्या पूछना है यार! यह तो जैसे दूध मे शक्कर पड़ गयी। मेरी पत्नी भी यहीं है।'

वह दौडकर ऊपर गया और उसने मेरी पत्नी को अपनी चचेरी ससुराल में चाय पीने का निमत्रण दिया। मै जब ऊपर पहुॅचा, उस समय दिगू कह रहा था,–'पॉच मिनट मे तैयार हो जाइए भाभी, समझीं? हम लोग जोन टिकट निकालकर आये है। अभी साढे आठ की गाड़ी से हमें आगे चल देना है।'

श्रीमतीजी दर्पण लेकर कघी-चोटी करने बैठीं! मैने दाढी को हाथ लगाकर देखा, काफी बढ गयी थी वह। बिलकुल उपवर लडकी हीं कहिए न! चिन्ताक्रान्त होकर यह देखने के लिये कि होटल मे कहीं एकाध दर्पण है या नहीं, मै नीचे गया – लेकिन एक कस्बे-नुमा शहर का वह बिलकुल बस्ती के बाहरवाला एक होटल था। मैनेजर ने कैफियत दी,–'पहले हम लोग दर्पण रखा करते थे। लेकिन ग्राहक उन्हे चुराकर ले जाने लगे।'

मैने होटल के बाहर व्याकुल दृष्टि से देखा। नाई की एक भी दूकान मेरे दृष्टि-पथ में न आती थी। ऊपर पहुॅचा, तो दिगू बडी जल्दी मचाने

१ 'सखे, ज़रा इधर तो ऑखें फेरो!'

लगा। जल्दी जल्दी मैने हजामत का सामान निकाला। श्रीमती की ओर बडी ललचाई दृष्टि से देखा। लेकिन मुझे विश्वास हो गया कि उसकी कघी-चोटी होते तक मेरे सात जन्म पूरे हो जायेंगे!

दर्पण के बिना ही मै दाढी बनाने लगा।

वे पाँच मिनट पॉच साल की तरह लगे मुझे।

लगातार कुछ भूला-भूला-सा लग रहा था मुझे। साबुन का फेन लगाता, फिर भी ऐसा लगता कि नहीं लगाया है। मन में यह शका भी आयी कि दाढी बनाते-बनाते कहीं चमडी तो न कट जायेगी। बीच ही मे, उस्तरा लग जाने के कारण एक मनुष्य की मृत्यु हो गयी थी, उसकी मुझे याद हो आयी। उसी समय छिपकली ने चुकचुक किया। बडी बेचैनी से मैने दाढी बनायी – बनायी तो क्या, बल्कि यह कहना ही ठीक होगा कि बनाने की जैसे तैसे कोशिश की।

दिगू की ससुराल का अतिथ्य ग्रहण करते हुए मेरा ध्यान लगातार मेरी दाढ़ी की ओर था। मुझे ऐसा लगा कि उस्तरा कहीं लग गया है। इसलिये रुमाल निकालकर मैने उस जगह पोंछकर देखा। रक्त की एक बूँद भी नहीं। बीच ही में दिगू के ससुरजी हॅस पड़े। मुझे लगा – शायद मेरी ठुड्डी पर बीच ही मे कुछ बाल रह गये होंगे और वह बूढ़ा उन बालों की ओर देखकर ही हँस रहा होगा।

छि! यदि हम दूसरा दर्पण साथ ले आते, तो कितना अच्छा होता! खैर, पत्नी को भी कैसे दोष दूँ! यदि वह दर्पण मुझे दे देती, तो भूत जैसी सूरत लिये उसे परायी स्त्रियों के बीच जाना पडता। पुरुष तो कम-से-कम जलवायु, नयी फिल्म और कॉग्रेस आदि के बारे में बाते कर सकता है। लेकिन महिला समाज मे नये उम्मीदवार की परीक्षा के लिये तीन ही विषय हुआ करते है – केश, वस्त्र और जेवर!

चाय पीते समय दिगू मुझ से कुछ के कुछ प्रश्न पूछ रहा था। मै उनके सक्षिप्त उत्तर दिये जा रहा था। उठते-उठते उसने मुझसे धीरे से पूछा, – 'तुम्हारी और भाभी की कोई लडाई-वड़ाई हो गयी है क्या?'

मै सिर्फ हँसा । अपनी बेचैनी का कारण उससे कैसे कहूँ ? जग मे गुप्त दुःख ही बहुत हुआ करते है । इसके लिये क्या किया जाये ?

वापस जब होटल में आया, तो श्रीमतीजी के दर्पण पर जैसे एकदम टूट ही तो पडा । चेहरे को बडे ध्यान से देखा । राज्य का प्रबध ठीक था, कहीं भी रक्तपात न हुआ था अथवा कहीं कोई अधाधुधी न थी । दर्पण सामने होते हुए भी मैने इतनी चिकनी दाढी शायद ही कभी बनायी होती !

यह सब होते हुए भी मेरा मन कितना बेचैन हो गया था ! मन में आया – मेरी पत्नी पॉच गजी साडी नहीं पहनती, इसलिये मैं उसकी खिल्ली उडाता हूँ । लेकिन मैं भी क्या उसी की तरह नहीं हूँ ? पॉच गजी साडी पहनने की आदत न होने के कारण मेरा मत वह अमल मे नहीं ला सकती । दर्पण के विना मैने भी कभी दाढी नहीं बनायी थी । इस आदत का परिणाम कितना विलक्षण हुआ । मै अपने मन में यही समझ चुका था कि दर्पण के बिना दाढी बनाना असभव है । सच तो यही है कि मनुष्य किसी भी चीज का जल्द गुलाम हो जाता है ।

मुझे अपने जीवन की बातें याद आने लगीं । पहले कई बरसों तक एक ही रास्ते से मैं पहाडी पर घूमने जाया करता था । वहॉ पहुँचने पर एक निश्चित शिला पर मै बैठा करता था । उस शिला पर बैठा हुआ सूर्यास्त का एक ही दृश्य मैं देखा करता था । लेकिन एक बार मेरे घर एक मेहमान आये । उनका छोटा लडका भी उनके साथ था । हम तीनों पहाडी पर घूमने गये । मै और मेहमान दोनो गप्पों में खो गये थे । इसी बीच वह लडका जाने कहॉ चल दिया । हम लोगों ने उसे खूब पुकारा । लेकिन कहीं से कोई जवाब न मिला । तब हम लोगों को सारी पहाडी छान डालनी पडी । उस दिन उस लडके का ही नहीं, किन्तु उस पहाडी पर फैले हुए सूक्ष्म सौंदर्य का भी मुझे पता लगा । वहॉ पेड, लताएँ, जँगली फूल आदि का ही एक सम्मेलन था । लेकिन स्थान स्थान पर उनकी रचना कितनी विविध और आकर्षक थी ! जैसे प्रकृति देवी ने अपने विभिन्न बालकों को फोटो खिंचवानें के लिये वहॉ सजाकर रखा था !

कुछ दिन पहले यही अनुभव मुझे पुस्तकों के बारे में भी हुआ । जिन

पुस्तकों की बहुत प्रशंसा होती है, हम बहुधा उन्हीं को पढ़ा करते हैं। यदि वे हमें अच्छी न लगीं, तो स्पष्ट रूप से उनके विषय में अपनी सच्ची राय प्रदर्शित करने की हमें हिम्मत नहीं होती! जेम्स हिल्टन नामक लेखक का 'We Are Not Alone' नामका एक उपन्यास है। अनेक लोगों ने इस उपन्यास की मुझ से बड़ी तारीफ की। उसे उन्होंने एक उत्कृष्ट उपन्यास कहा। इसलिये मैंने उसे पढ़ा। उपन्यास अच्छा है। लेकिन उसे पूरा पढ़ने के बाद मुझे लगा जैसे मैंने चाँदनी ही देखी है। चन्द्र-दर्शन का आनंद उससे मुझे प्राप्त न हुआ। आगे चलकर थोड़े ही दिनों के बाद मैंने छः आनेवाले संस्करण में इसी लेखक का 'Dawn of Reckoning' नामक उपन्यास देखा। मैं इस सोच में पड़ गया कि उसे खरीदूँ या न खरीदूँ। मन कह रहा था – यह उपन्यास लेखक के उस प्रसिद्ध उपन्यास से अधिक सरस हो, यह संभव ही नहीं है। फिर व्यर्थ ही छः आने क्यों खर्च किये जायें?

लेकिन मनुष्य को एक न एक चसका तो होना ही चाहिए। सड़क से चलते-चलते कोई लड़का यूँ ही एक पत्थर उठा ले, उसी तरह मैंने वह उपन्यास खरीद लिया। प्रति दिन वह अलमारी में मुझे दिखता था। लेकिन बहुत दिनों तक उसे खोलने की मुझे इच्छा ही नहीं होती थी। दिल में लगता था कि बंधी मुट्ठी की तरह बंद पुस्तक भी सवा लाख की होती है। जब तक मैं उस पुस्तक की ओर इस भावना से देख रहा हूँ कि वही एक आनंद की धरोहर मेरे पास शेष है, तब तक यह कहने में कुछ हर्ज नहीं कि मेरे छः आने के दाम दूने वसूल हो गये। लेकिन यदि मैं कहीं वह उपन्यास पढ़ने लगा और वह ऐसा-वैसा ही निकला तो?

जितनी लापरवाही से मैंने वह उपन्यास खरीदा था, उतनी ही लापरवाही से मैं उसे पढ़ने लगा। रास्ते में कोई भिखारी टूटे-फूटे हारमोनियम के साथ कुछ भी अनाप-सनाप गाता रहता है और क्षण-भर के लिये उस संगीत में खो भी जाता है। मेरा ख्याल था कि उस उपन्यास के पढ़ने से मुझे अधिक से अधिक उतना ही आनंद मिलेगा।

लेकिन तालाब में डुबकी लगाने के विचार से उतरें और धार के साथ

जब बहने लगें और विश्वास हो जाये कि वह तालाब नहीं, नदी है – ऐसी स्थिति हो गयी मेरी । कथानक के प्रवाह के साथ मै इतने जल्दी जल्दी आगे बढ़ा कि उस उपन्यास को मैने एक ही बैठक मे पूरा पढ डाला । जिस उपन्यास की कीर्ति का इतना डका बज रहा था, उसकी अपेक्षा यह उपन्यास अधिक सजीव और आकर्षक था ।

पुस्तकों की तरह मनुष्यों की बारे मे भी इसी तरह का धोखा हो जाया करता है । किसी किसी मनुष्य के बारे मे हम इतनी बुरी-बुरी बाते सुन लिया करते है कि हमे लगने लगता है कि ऐसे आदमी के साथ रेल के एक डिब्बे में बैठने का मौका भी हम पर न आवे । लेकिन योगायोग से यदि उस मनुष्य से पहचान हो गयी, तो बिलकुल भिन्न ही अनुभव होता है । हमें यह बात पूर्णतया जॅच जाती है कि जग मयसभा की तरह है । जो मैत्री पहले पानी जैसी दिखती है, वह अन्त में पत्थर सिद्ध होती है । और जिसे हम पत्थर मानते आये है, वहॉ पानी है, ऐसा हमे दिखाई देता है । दर्पण के बिना दाढी बनाते समय मुझे जो बडी सकपकाहट हो रही थी उसका कारण क्या मनुष्य मात्र की यह परावलबी की प्रवृत्ति ही नही है ?

हम अपना जीवन-मंदिर उधार अनुभवों की नींव पर खड़ा किया करते है । किसी भी ऐसे तत्त्व को, जिस पर काल, व्यक्ति या किसी न किसी की छाप होती है, सत्य मानकर हम उसे पूजने लगते है । इन्द्र ने गौतम का रूप धारणकर अहिल्या को धोखा दिया, उसी तरह सत्य का रूप धारण करके असत्य मानवजाति की ऑखों में धूल झोका करता है, यह बात बहुधा हमारे ध्यान मे ही नहीं आती । जग का अनुभव एक आइना है, यह सच है । लेकिन आइना सामने होते हुए भी दाढी बनाते समय अनेक बार मेरे गालो से रक्त बहा था और आइने के बिना अच्छी दाढी बन सकती है, यह अनुभव तो मुझे ताज़ा ही था ।

जिसे जीवन जीना है, मानवी-जीवन के सच्चे अर्थ को जानने की इच्छा है, उसे अपने ही अनुभवों को अधिक मूल्य देना चाहिए । धर्म-ग्रथ क्या सिखाते है, शास्त्रों मे क्या लिखा है, पडितजी अपने प्रवचनो में क्या

कहते है, जग क्या उपदेश दे रहा है, बडे और महान् पुरुषो की भीतरी आवाज़ क्या कहती है – इत्यादि पर यदि मनुष्य अवलबित रहे, तो जीवन उसके लिये ऑखमिचौली का खेल हो जाता है ।

खलील जिब्रान ने एक छोटी-सी, किन्तु बडी मनोरजक कहानी लिखी है । इस समय वह कहानी याद आती है । प्राचीन काल की बात है । किसी नगर मे दो पडित रहते थे । दो घडियो की तरह दो विद्वानों मे भी परस्पर कभी नहीं पटती । ये दोनों पडित भी इस नियम के अपवाद न थे । उन मे एक था आस्तिक और दूसरा था नास्तिक । इसलिये वे एक दूसरे को कितना तुच्छ मानते होंगे, इसकी कल्पना कर लेना ही अच्छा ।

एक दिन बाज़ार में दोनों की भेट हो गयी । हरएक के पीछे उनके भक्तगण थे ही । भरपूर दर्शक उपस्थित होने पर अभिनेता जिस तरह रग मे आ जाता है, उसी तरह उनका भी हाल हुआ । जग मे ईश्वर है या नहीं – इस विषय पर दोनो में बडे जोरशोर की बहस छिड गयी । बहुत देर के बाद जब दोनों पडितो के गलो में दर्द होने लगा, तब दोनों ने अपने अपने घर का रास्ता नापा ।

उस दिन सायकाल को लोगों ने देखा कि नास्तिक पडित मदिर मे भगवान की मूर्ति को साष्टाग प्रणाम कर भगवान की प्रार्थना कर रहा था ।

उसी समय एक दूसरा दृश्य भी दिखाई दिया । आस्तिक पडित अपने घर में, ईश्वर के अस्तित्व को माननेवाले धर्मग्रथ को जलाकर भस्म कर रहा है !

बेचारे पडित ! उन्हें यह नहीं मालूम था कि श्रद्धा की जडे हृदय मे होती है, जिव्हा की नोक पर नहीं । लेकिन उन पर हँसने का मुझे भी क्या अधिकार है ? मेरे भी ध्यान मे यह कहॉ आया था कि दाढी बनाने के लिये दर्पण की अपेक्षा स्वयं अपने हस्तकौशल की ही अधिक आवश्यकता हैं ?

● ● ●

३९

साढ़े नौ रुपये

वैसे देखा जाय, तो मेरे जेब में दस-बारह आने की रेज़गारी पड़ी थी। सिनेमा के टिकट के लिये तो सिर्फ आठ आने की ही ज़रूरत थी। लेकिन मैंने पूरी तरह विचार किया!

सुगृहिणी घर का नमक समाप्त हो जाने के बाद अपने पति से उसे लाने के लिये नहीं कहती। यदि ऐसा हो जाय, तो किसी समय अलोनी दाल खाकर पथ्य से रहने की नौबत घर पर निश्चयपूर्वक आ जायेगी! इसलिये हमेशा घर में जब दो दिन का नमक शेष रह जाता है, तभी से वह नमक लाने के लिये अपने पति से कह चलती है!

जेब मे रखी रेज़गारी के बारे में पुरुष को भी इसी युक्ति का अवलबन करना पड़ता है। अपने पास का आखिरी तावे का पैसा समाप्त होने के बाद ही नोट भॅजानेवाला मनुष्य महामूर्ख सिद्ध हुए बिना नहीं रहता। घूमने जाते समय हमे चना-चबेना खाने की सनक आ जाये, जेब में बंदा रुपया हो और उस चना-चबेनावाले के पास पूरे चार आने की भी रेजगारी न निकले, उस वक्त हमारी जो फजीहत होती है, उसका वर्णन

करने की क्या जरूपत ? बंदा रुपया जेब में रखनेवाला मनुष्य ' चना-चबेना ' खाता हुआ ही आगे बढता है। लेकिन वह ' चना-चबेना ' बिलकुल भिन्न प्रकार का होता है। उसे खाकर किसी का पेट नहीं भरा करता। चना-चबेना बेचनेवाले पर विश्वास करके उसे रुपया देने की हमे किसी भी तरह हिम्मत नहीं पडती और उस सौदागर को भी यह विश्वास नहीं होता कि ये सभ्य महाशय कल फिर इसी रास्ते से घूमने आयेंगे और हमारे दो पैसे दे जायेंगे। इसका नतीजा दूसरा क्या होगा ?

इस तरह की फजीहत न हो, इसलिये जेब मे हमेशा थोडी बहुत रेजगारी रखने की चतुरता मै करता हूँ। मार्क ट्वेन ने अपनी एक कहानी मे बताया है कि दस हजार पौंड का नोट जेब में होते हुए भी एक नये आदमी को समूचे लंदन शहर मे भोजन मिलना कठिन हो गया। इस कहानी मे सिर्फ विनोद ही नहीं है। पल-पल में अनुभव होनेवाला सत्य है वह।

और इसी लिये सिनेमा का टिकट लेते समय जेब से दस रुपये का इकलौता नोट निकालकर मैंने उसे टिकट बेचनेवाले की बित्ता भर ऊँची और पौन बित्ता लबी खिडकी में से भीतर सरका दिया।

' एक फर्स्ट क्लास दीजिये ! '

टिकट देनेवाला कुछ सोच में पडा हुआ दिखाई दिया। मेरे बचपन मे नाटको के विज्ञापन के ' पीनल कोड ' मे एक धारा रहा करती थी — ' जिसे हम न चाहे, उसे भीतर नहीं जाने देगे। ' उसकी मुझे एकदम याद हो आयी।

क्षण-भर रुककर टिकट देनेवाले ने कहा, — ' मिस्टर, क्या आपके पास चेंज नहीं है ? '

' चेंज होती, तो मै नोट क्यो देता ? ' — मेरे मुँह से शब्द निकल गये।

सच तो यही है कि अपने छोटे-से कृत्य का समर्थन करने का मोह भी मनुष्य के लिये बिलकुल असवरणीय हो जाता है।

लेकिन जग मे ऐसा कौनसा मोह है जिसके अत में पश्चात्ताप नहीं होता ?

अपने राम की वही स्थिति हो गयी।

खिडकी मे से आधा-सा दिखाई देनेवाला वह मनुष्य बोला,—

'मेरे पास भी चेंज नहीं है ! थोडी देर के बाद आपके पास भिजवाये देता हूँ । कोई हर्ज तो नहीं ?'

गनीमत थी कि मेरे मन में उठ रहे विचारों का उसे पता चलना सभव न था । वरना – यही अच्छा है जो मनुष्य के मन के विचारो का एक दूसरे को पता नहीं चलता । अन्यथा घर-घर में पल-पल पर खून होते रहते ।

मैंने हँसकर उससे कहा, – 'कोई हर्ज नहीं !'

टिकट लेकर थिएटर के भीतर जाते-जाते मेरे मन में आया कि जिस तरह औरते मुँह पर पाउडर लगाए बगैर घर से बाहर नहीं निकल सकतीं, उसी तरह अपने मन के विचारों पर शिष्टाचार की सफेदी पोते बना पुरुष भी बाहर नहीं निकल सकते । मैंने मुँहसे 'कुछ हर्ज नहीं' कह दिया जरूर लेकिन सोचा यदि वह मनुष्य मेरे साढे नौ रुपये न लौटाये तो ? जिस समय मैंने टिकट खरीदा था, उस समय उस खिडकी के पास मेरे सिवा और कोई भी न था । इसका क्या सबूत कि मैंने उसे दस रुपये का नोट दिया ? उस नोट का नंबर ? – छि ! दस रुपये के नोट का नंबर भी नोट करने का रिवाज नहीं इस दुनियामे ! वह मनुष्य यदि बेईमान हो तो ? चेन्ज होते हुए भी उसने जानबूझकर ही कह दिया होगा कि चेन्ज नहीं है ! आदमी का क्या भरोसा ?

फर्स्ट क्लास में चार आदमी भी न थे । जिस पर मै बैठा था उस कुर्सी मे खटमल भी न थे । थिएटर में खेल देखने इनी-गिनी औरते आयी थीं । इसलिये बच्चो के रुदन का जो पार्श्व-सगीत अनेक बार फिल्म के दर्शकों को सुनना पडता है, उसका भी आज अभाव था । लेकिन यह सब होते हुए भी मेरा मन परदे पर दिखाये जानेवाले चित्र मे नहीं रम रहा था । वर लगातार कह रहा था, – 'यही सच है कि आज मैंने साढे नौ रुपये खो दिये !'

वैसे देखा जाय, तो मै कजूस नहीं हूँ । इसके विपरीत यही कहना होगा कि मैं मुट्ठी खोलकर ही पैदा हुआ हूँ । किसी सस्था को यदि चदा देना है, तो चार-आठ आने देना मेरी जान पर आता है । कम-से-कम मै एक

रुपया निकालकर देता हूँ। यदि सस्था का मालिक कोई मेरा परिचित हो, तो उसे एक रुपया देना भी मुझे कम मालूम होता है । मुझे हमेशा ही यह चाह रहती है कि मेरे घर मित्रगण आवे और दो-चार दिन आनद से रहें। मै जब अपनी पसद के किसी गीत का रिकार्ड खरीदने जाता हूँ, तो ऐसा शायद ही कभी हुआ है कि उसके साथ और भी दो चार गीतों के रिकार्ड, जिनके बारे में मैंने कभी सोचा भी न था, लेकर न लौटा होऊँ। मित्रो के साथ होटल में जाते समय मेरा नबर चाहे आखिरी भले ही रहता हो, लेकिन होटल से बाहर निकलते समय वह बहुधा पहला होता है। सब के बिल स्वय अपने जेब से चुकाने मे मुझे बडा आनद मिलता है! इस आनद से अहकार की खुशबू चाहे भले ही आती हो, लेकिन कजूसी की? मेरे शत्रु भी मुझे कजूस नहीं कहेगे।

ऐसा होते हुए भी मैं उन साढ़े नौ रुपयो के बारे में लगातार चिन्तित हो रहा था, यह अवश्य सच है। जहाँ शक्कर बिखरी होती है, वहाँ घर की सारी चिऊँटियाँ आकर इकट्ठी हो जाती है। मैने धोखेबाजी की जो अनेक बातें सुनी थीं, वे भी मेरे मन मे आकर उसी तरह इकट्ठी हो गयी। चैक पर के जाली दस्तखत मुझे नजर आने लगे, टेलीफोन से नकली नाम बताकर चकमा देनेवाले बदमाश मेरी आँखों के सामने मूर्त हो गये, पचीस वर्ष पहले पढे हुए ' राय क्लब ऊर्फ सुनहली टोली ' नामक उपन्यास की भी मुझे याद हो आयी। मैने अपने आप से ही कहा,—' सच तो यही है कि दुनिया एक ' गोल्डन गैंग ' ही है। अब घर लौटने पर जब पत्नी मुझ से साढ़े नौ रुपये का हिसाब माँगेगी, तब उससे क्या कहूँगा ? '

दरवाजे पर पडे काले परदे को दूर हटाकर कोई भीतर आया। वह मनुष्य मेरी कुर्सी की तरफ ही चला आ रहा था। मुझे लगा — मेरे रुपये लेकर कोई छोकरा आया होगा। मैने हाथ आगे बढाया। उस मनुष्य ने वह हाथ अपने हाथ में लिया और मेरे नजदीक की कुर्सी पर बैठता हुआ बोला, — ' थैंक्स ! बाहर से जब भीतर आते है तो कुछ दिखता ही नहीं ! '

देर से आया हुआ दर्शक था वह! मेरे मन में आया — यह दर्शक पुरुष था इसलिये अच्छा हुआ। यदि कोई स्त्री होती, तो मेरे आगे बढाये

हुए हाथ का कुछ और ही अर्थ हो जाता और फिल्म के बदले लोगो को एक दूसरा ही तमाशा देखने मिलता।

मेरा पडोसी दर्शक चित्र देखने में खो गया। मुझे उससे ईर्षा होने लगी। उन साढे नौ रुपयो को भूल जाने की चरम कोशिश करने का मैने निश्चय किया। बचपन मे मैने पढा था कि एक से दस तक गिनती गिनने से चित्त एकाग्र हो जाता है। इसलिये वही प्रयोग मैने पहले किया। मन-ही-मन दस की सख्या कहते ही उस नोट की मुझे याद हो आयी। मेरे वे साढे नौ रुपये —

स्वामी रामतीर्थ या किसी और के बारे मे मैने एक कहानी पढ़ी थी। वे एक हाथ मे मिट्टी और दूसरे हाथ मे सोना लिये थे, और मिट्टी के साथ ही सोना भी बडे आनद से गगार्पण करते थे। मैने अपने मन से कहा – 'तू कम-से-कम एक सहस्राश, एक दशसहस्राश भी रामतीर्थ है या नहीं?'

लेकिन छि! मन की तरह चंचल दुनिया मे ओर कोई भी नही। एक लगडी बकरी कॉटेदार तार के घेरे से होकर हमारे बाग के पुष्प-वृक्षों की पत्तियॉ खाने के लिये हर रोज़ आया करती है। उसे हम कितना ही डराये, चाहे जितनी बार भगा दें, लेकिन ज्यो ही मनुष्य पोठ फेरता है, त्यों ही वह बाग मे फिर हाजिर हो जाती है। मेरे मन ने इस समय उस बकरी को ही अपना गुरु बनाया था। वे साढ़े नौ रुपये —

साढे नौ रुपये गये सो तो गये ही, लेकिन मुझे यह लगने लगा कि सिनेमा देखने के लिये खर्च किये आठ आने भी व्यर्थ चले जायेंगे। चित्र में क्या हो रहा है यह ठीक से मेरी समझ मे नहीं आ रहा था। पडोसी दर्शक से मैने पूछा,—

'आप समझ रहे है क्या इस फिल्म को?'

'बिलकुल सीधी-सादी कहानी है। नायक एक भीरु और दुर्बल तरुण है। वह एक स्वप्न देखता है। उस स्वप्न मे वह स्वय अपना ही एक पराक्रमी पूर्वज हो जाता है — '

इटरवल के लिये रगभूमि का परदा खिसका। इसी समय दरवाजे पर एक छोकरा आया और उसने मेरे हाथ में साढे नौ रुपये रख दिये।

थिएटर में जितना प्रकाश पड़ा था उससे भी अधिक अब मेरे मस्तिष्क में पडा। पिछला घटा-सवा घटा मैंने कितनी बेचैनी में काटा। साढे नौ रुपये एक बहुत तुच्छ रकम थी। और यदि यह भी समझ ले कि साढे नौ रुपये मेरे लिये बडी रकम थी, फिर भी यह मान लेने के लिये कि मेरे साढे नौ रुपये डूब गये, मेरे पास क्या आधार था? खेल पूरा होते तक या कम-से-कम इटरवल तक क्या मुझे स्वस्थ नहीं रहना चाहिए था? छि! उस मनुष्य के प्रति मैंने अपने मन मे जो अविश्वास दर्शाया, वह कितना अकारण था? बहुत से भले-बुरे विचार मेरे मन मे आये और जो समय मुझे आनद मे बिताना चाहिए था, उसे मैंने दुःख मे बिताया।

सच तो यही है कि जग के आधे से अधिक दुःख मनुष्य अपनी कल्पना से ही निर्मित कर लेता है। गले की गॉठों का ऑपरेशन करना हो, तो इस मामूली शल्य-क्रिया के पहले मनुष्य दिन भर बेचैन रहते है। डॉक्टर जब किसी को इन्जेक्शन देने लगता है, तो बडे बडे लोग भी अपनी ऑखों मूँद लेते है अथवा वहॉ से दूर भाग जाते है। मनुष्य के मन के भय को इतना विकृत स्वरूप केवल कल्पना के कारण ही प्राप्त होता है।

बहुतो ने ऐसे लोगो को देखा होगा जो यह सोचकर कि उन्हें कोई भयंकर बीमारी हो गयी है, सदा सचिन्त रहते है। मेरे प्ररिचित एक तरुण को इस भावना ने कि उसे हृद्रोग हो गया है, इतना पछाडा है कि वह हमेशा अपने एक डॉक्टर मित्र के दवाखाने में ही धन्ना देकर बैठा रहता है। डॉक्टर जब किसी रोगी को देखने बाहर जाते है, तो ये महाशय भी उनके साथ हो लेते हैं। ये हजरत रात को सोते भी डॉक्टर के घर पर ही है। हॉ भई, कौन कह सकता है कि हृदय से कब टीस निकल पडे। बेचारे का विवाह किसी डॉक्टरनी से हो जाता, तो उसके इस डॉक्टर मित्र की दुर्दशा कुछ कम हो जाती!

● ● ●

फिल्म का उत्तरार्ध शुरु हुआ। अब मै उसे ध्यान से देखने लगा। चित्र का भीरु नायक स्वप्न मे देख रहा था —

उसकी प्रेयसी प्राचीन काल के एक सरदार की सुदर लडकी है। वह स्वय एक अश्वारोही सैनिक है। उस लडकी को एक डाकू भगा ले जाता है। एक कमरे से जब वह शून्य दृष्टि से बाहर देखती है, तब उससे उसकी चार ऑखे होती है। तुरत ही उस शून्य में उस नायक को अनत का आभास होने लगता है। खिडकी से रस्सी बॉधकर वह ऊपर चढ़ जाता है और उस डाकू का दॉव उसी पर पलट देता है। वह सुदरी कारागार से मुक्त किन्तु उसके बाहुपाश मे बद्ध होती है।

पूर्व काल के पराक्रम के इस स्वप्न के कारण चित्र के नायक की भीरुता जाती रहती है और वह नायिका को हस्तगत करने योग्य साहसी हो जाता है, ऐसा उस चित्र मे आगे दिखाया गया था। लेकिन कथा-लेखक ने नायक के स्वप्न का जो उपयोग कर लिया था, उसकी अपेक्षा इस कल्पना में अधिक गहरा अर्थ है, ऐसा मुझे लगने लगा।

आज के सुधरे हुए जग में सस्कृति और शिष्टाचार के प्रभाव के कारण अनेक बाते स्वीकृत कर ली गयी है। लेकिन उनका परिणाम अपने मन पर कितना हुआ है! जॅगली अवस्था के वस्त्रालकार धारण करने के लिये एक भी मनुष्य तैयार नहीं है। लेकिन मानव-जाति ऊपर से सुधार की कितनी भी शेखी बघारे, फिर भी उसके भीतरी विचार और विकार आज भी जॅगली अवस्था मे ही है। वरना फिल्म का भीरु नायक पूर्व पराक्रम के स्मरण से मारपीट करने लगता है किंवा मुझ जैसा एक सभ्य गृहस्थ इस निराधार भय से कि एक दूसरा सभ्य मनुष्य मेरे साढे नौ रुपये खा जायेगा, बेचैन होकर, फिल्म में रग जाने के बदले तर्क कुतर्क करता रहता है, इसका दूसरा क्या कारण है?

घर लौटते समय इस एक ही विचार के आसपास मेरा मन चक्कर काटने लगा। वे साढ़े नौ रुपये — मेरे मन की अस्वस्थता — कालिदास से लेकर स्टीफन ज्विग तक के अनेक कलाकारों के करुण कोमल कल्पना-विलास में रंगा हुआ मेरा मन जॅगली है, यह विचार पहले पहल मुझे

बडा अजीब-सा लगा। लेकिन मेरे जीवन के ऐसे अनेक प्रसगो की, जिनका मै बहुधा आत्म-चरित्र में भी उल्लेख न करूँगा, मुझे याद हो आयी। उन मे का प्रत्येक प्रसग मुझ से प्रश्न कर रहा था, – 'तुझ में और जॅगली मनुष्य मे क्या फर्क है?'

स्वय अपने आप को संतोष देने के लिये मेरे सामने अब केवल एक ही मार्ग था। समुद्र मे मिलनेवाली नदी का पानी चाहे कितना भी मीठा हो, लेकिन जहाँ उसका समुद्र से सगम होता है, वहॉ वह पानी खारा ही हो जाता है। मन की भी वही दशा हो जाती है। व्यक्ति के दृष्टि से हमारा मन चाहे कितना भी आगे क्यों न बढ गया हो लेकिन जब उसका सबध समाज से आता है, तब वह सामाजिक मन की तरह ही पिछडा हुआ हो जाता है। व्यक्तिशः अपनी पत्नी पर 'फाल्गुनराव'[1] की तरह सदेह करनेवाले मनुष्य हमारे समाज में बहुत थोडे होंगे। लेकिन थिएटर के भीतर 'सशय-कल्लोळ' देखते समय हम आखिर खिलखिला कर हॅसते ही है और यह भी मानते है कि ऑखों के सामने जो घटनाएँ हो रही है उनके मूल में सशयालु मानवी स्वभाव है।

● ● ●

मैंने घर आकर हाथ मे रखी अपनी टोपी पत्नी को दी। आज उसने मुझे कोट उतारने में मदद दी, यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ।

उसने हॅसते-हॅसते पूछा, – 'फिल्म अच्छी थी क्या?'

'हॉ, थी!'

'कहानी क्या थी?'

फिल्म का पहला आधा भाग तो मेरे लिये जैसे अनदेखा-सा ही था। इसलिये मैने उससे कहा,—

'मुझे तो बडी भूख लगी है!'

मेरी समझ में नहीं आता था कि वह मेरी ओर विचित्र दृष्टि से क्यो देख रही है। तुरत ही उसने मेरे जेब से मनीबैग निकालकर उसे खोला।

१ मराठी के 'संशय-कल्लोळ' नामक नाटक का एक पात्र।

भीतर के रुपये गिनकर उसने जब हँसते हुए कहा – 'साढे नौ रुपये' तब तो मै आश्चर्य से दग रह गया है। मेरी ओर देखती हुई वह बोली,—

'मेरे मन मे क्या आया बताऊँ ? यदि नाराज़ न हो तो —'

'ज़रा ज़रा सी बात पर नाराज़ होनेवाला मै क्या छोटा बच्चा हूँ ?'

'मुझे लगा – आप सिनेमा देखने गये ही न थे !'

'इसका मतलब ?'

'कल आपके कॉलेज की वह लडकी मिलने आयी थी न आप से ? वह आप से कह रही थी कि उसे शहर देखना है। मुझे लगा – टैक्सी करके आपने उसे सारा शहर दिखाया होगा। इसी लिये तो मैने देखा कि आपके पास कितने रुपये बचे है।' मनीबैग से साढे नौ रुपये निकालकर उन्हे वह हाथ में खनखनाने लगी।

मेरी भावुक पत्नी के मुँह से ये उद्गार निकलें ! छि ! सच तो यही है कि मनुष्य का मन अब भी जॅगली अवस्था में है !'

मुझे उस पर बडा क्रोध आया। क्रोध के आवेश में मै उससे कुछ कहने जा रहा था कि उसी समय उसके हाथ मे रखे साढ़े नौ रुपयो पर मेरी दृष्टि पड़ी। वे कह रहे थे – 'तुम्हारी यही शिकायत है न कि तुम्हारी पत्नी संशयालु है ? कुछ समय पहले थिएटर में एक मनुष्य कैसा सकपका रहा था ! याद है तुम्हे ?'

दस अंक के बदले साढ़े नौ रुपये गिनने से क्रोध शान्त हो जाता है, यह नया अनुभव मुझे हुआ।

• • •

४०

रबड़ के फुग्गे

'अगर तुम नाराज न हो तो —'

अपने मित्र की यह प्रस्तावना सुनकर मै तो चकित ही हो गया। अब मेरे ध्यान में आया कि कुछ समय पहले से वह एक घुन्ने की तरह क्यो चल रहा है। तूफान के पहले की शान्ति थी वह!

लेकिन दो मित्रो के बीच अगर तूफान उठा भी, तो आखिर कितना बडा उठेगा? इस विश्वास से कि ऐसे तूफान हमेशा चाय के प्याले में शान्त हो जाते है, मैंने उसकी ओर हँसते हुए देखा। ऐसा दिखाई दिया कि वह इस विचार में पड़ गया है कि कहूँ या न कहूँ! मै यही नहीं समझ पा रहा था कि आखिर वह पूछना क्या चाहता है। क्या किसी ने उस से यह कह दिया है कि मै शराब पीने लगा हूँ, अथवा किसी देहाती 'रायटर' ने उसके पास यह समाचार भेजा है कि मै किसी रगीन महिला के साथ रातबिरात घूमता रहता हूँ? क्या है? आख़िर हो क्या गया है?

उसकी मुद्रा पर छाई हुई गभीरता को देखकर मै और भी अधिक असमजस में पड गया। मेरे प्रति उसका प्रेम पूर्णतया निरपेक्ष था।

लेखक की हैसियत से स्वयं अपने पर मुझे भी जितना अभिमान न था, उतना उसे मुझ पर था। जरूर कोई विलक्षण समाचार उसके कानों में पड़ा होगा। वरना वह मुझ से डरते-डरते यह कहकर कि 'अगर तुम नाराज न हो तो —' बीच ही मे रुक न जाता !

किसी के एक वाक्य का मुझे स्मरण हो आया — अतराल मे खिलने-वाली भी एक लता होती है। उसका नाम है — निंदा !

मुझे लगा — कह नहीं सकता मेरे बारे मे किसने कौन-सी अपवाह उड़ा दी होगी। 'वरेरकर'[1] की एक कहानी मे पत्नी को साथ लेकर घूमने जानेवाले एक पति के बारे में शक करनेवाला एक मनुष्य दिखाया गया है। शायद उसी प्रकार की कोई बात मेरे विषय में भी हो गयी होगी। कौन कह सकता है कि ऐसा न हुआ होगा ?

फॉसी की अपेक्षा तहकीकात और जॉच पडताल का त्रास ही मनुष्य को अधिक लगता है !

'अगर तुम नाराज़ न हो तो — ' सिर्फ इतने ही शब्द कहकर फिर मौन हो जानेवाले मेरे मित्र पर मुझे बड़ा क्रोध आया। दिल मे आया कि इस के मन में जो कुछ है उसे वह साफ साफ क्यो नहीं कह डालता ?

जब मैने दो तीन बार कहा कि 'जो कहना चाहते हो, कह क्यों नहीं डालते ?' तब कहीं उसने कहना शुरू किया। बोला, — 'कल तुम्हारे घर जो राव साहब आये थे — '

वह कुछ आगे कहेगा ऐसी मेरी कल्पना थी। लेकिन फिर से उसने पहले की तरह ही मौन धारण कर लिया।

यह सच है कि कल इसी मित्र का परिचय-पत्र लेकर बाहर से एक राव साहब मुझ से मिलने आये थे। लेकिन उनके आगमन की सूचना मुझे पहले से ही मिल जाने के कारण मैने उनके स्वागत मे तिलमात्र भी कमी नहीं पड़ने दी थी। घर के शुद्ध घी का हलुआ, आलू पोहा, चाय, सुपारी, इलायची, नारियल की गिरी — हाथ मुँह धोने के बाद उन्हें पोछने के लिये जो तौलिया दी, वह भी वॉशिग कपनी की धुली इस्तरी

[1] मराठी भाषा के एक वयोवृद्ध साहित्यिक श्री. भा. वि. तथा मामा वरेरकर।

की हुई थी। लेकिन कहावत है कि बकरी की तो जान गयी और खानेवाला कहता है वह बादी करती है। राव साहब के न्यायाधीश होने के कारण उनकी सेवा मे दस-पॉच नोकर रहते होंगे, जहाँ बैठे है वहीं हाथ धोने के लिये उनके सामने बरतन रख देते होंगे, स्वय अपने हाथ से बाल्टी से पानी लेने की उन्हें आदत न होगी —

तो क्या सिर्फ इतनी-सी बात के लिये ही उन्हे मेरे मित्र के पास मेरी शिकायत करनी चाहिए थी? उन्होंने मेरे मित्र से मेरी शिकायत की होगी, यह बात तो मेरे मित्र के अटक-अटककर बोलने से ही स्पष्ट हो रही थी। लेकिन राव साहब महोदय इसी मित्र का परिचय-पत्र लाये थे। इसलिये जिसके विषय मे उन्हे नाखुश करना मेरे लिये ज़रूरी था, उस विषय में भी, लिहाज़ से मै चुप रहा। उन्होने अपनी सारी कविताएँ पढ़कर और कुछ गाकर भी मुझे सुनायी। मैंने थोडी भी 'हू या चू' किये बिना वे सब सुन ली। अपने कविता-सग्रह के लिये प्रस्तावना लिख देने के लिये वे मेरे पीछे पड गये। अपने मित्र के लिहाज से यह भी मैंने स्वीकार कर लिया और यह सब होते हुए भी वे महाशय जो कि एक न्यायाधीश है, मेरे मित्र से बड़ी खुशी से मेरी शिकायत करते है! इसका क्या मतलब?

मुझे एकदम ध्यान में आया – उन महाशय की शिकायत क्या है, यह मेरे मित्र ने मुझ से कहा ही न था।

मेरी मुद्रा पर फैले हुए कुतूहल के भाव देखकर वह समझ गया।

वह बोला,– 'राव साहब, जब तुम्हारे घर आये उस समय तुम क्या कर रहे थे?'

'खेल रहा था!'

'किस से? ताश से?'

'नहीं – रबड के फुग्गो से।'

'उन्हीं ने तो सारा घुटाला कर दिया!'

'मतलब?'

'पहले तुम्हारे प्रति उनका कितना आदर था!'

'तो अब वह बिलकुल जाता रहा है क्या?'

'वह बात नहीं जी! पर उन्होंने कहा – दूर से मनुष्य के प्रति लगनेवाला आदर रबड़ के फुग्गे की तरह होता है। वह बढ़ते-बढ़ते फट हो जाता है। तुम्हारे लेख पढकर वे जानबूझकर तुम से मिलने आये। तुम्हारे विषय की उनकी कल्पनाएँ बहुत बड़ी थीं। घटा-भर तुम्हारे घर बैठकर उन्होंने देखा – लेकिन बच्चो के साथ रबड के फुग्गो से खेलने के सिवाय तुमने दूसरा और कोई काम न किया!'

रावसाहब की शिकायत की ठीक कल्पना आते ही मै मन-ही-मन हँसा। मुझे देखते ही उनके मन को एक बहु-त बड़ा धक्का लगा होगा, इस मे सदेह नहीं! एक ओर विश्व-कोश के इक्कीस भाग, दूसरी ओर शब्दकोश और उसके अन्य भाई-बद, मेज पर दो तीन रीम कागज और चाय के तीन चार खाली प्याले – इस साज-सज्जा के साथ उन्हो ने मुझे देखा होता, तो मेरे प्रति उनका आदर द्विगुणित हो गया होता। लेकिन मैं उन्हें दिखा रबड़ के फुग्गो से खेलता हुआ – अवी और मदा के साथ खेलता हुआ! किसी सन्यासी के मुँह से – 'तुझ्या ग गुलाबाची कळी लाजरी'[1] पंक्ति सुनकर जैसा लगे, उसी तरह उन्हे मुझे देखकर लगा होगा!

कल के सभी प्रसंग मेरी आँखो के सामने खडे हो गये।

उन्हो ने मेरे चालू उपन्यास की हस्तलिखित प्रति देखने के लिये माँगी। मैने हाल ही मे पूरा किया हुआ प्रकरण उन्हें दिया। उन्हों ने साश्चर्य प्रश्न किया, – 'पेंसिल से लिखते हैं आप?'

'हाँ!'

'मेरा ख्याल था कि आपके लिखने का कागज बड़ा सुदर होगा और एक विशिष्ट फाउन्टन पेन से ही आप लिखते होंगे!'

इस उद्‌गार का उत्तर मैंने स्मित से ही दिया!

उन्हों ने जब मेरे लिखने का कमरा देखने का हठ ही पकड़ लिया, तब मै उन्हे उस कमरे मे ले गया। इधर-उधर चौकन्नी नजर से देखकर उन्हों ने प्रश्न किया, – 'आपके लिखने की मेज कहाँ है?'

---

१ 'प्रिये, तेरे गुलाब की कली बड़ी शरमीली है!'

एक कोने में रखी संदूक-नुमा नीची मेज की ओर मैंने अँगुली दिखा दी। उसे देखते ही उन्होंने अपनी दृष्टि दीवाल पर लगे चित्रों की ओर घुमायी। उन चित्रों में एक मित्र के द्वारा भेंट किये गये 'सूर्योदय' और 'सूर्यास्त' के चित्र, महात्मा गांधी की दंडी-यात्रा का चित्र, और मेरी पत्नी तथा लड़कों के दो-चार फोटो थे। इन चित्रों को देखते हुए उन के चेहरे पर क्षण-भर के लिये कुछ ऐसा भाव झलक भी गया जैसे वे कह रहे हों कि 'इन चित्रों को देखकर आप को सुंदर कल्पनाएँ सूझती हैं? आश्चर्य है, भई!'

इन सब बातों की याद आते ही मुझे लगा कि राव साहब की बड़प्पन की कसौटी पर मैं नहीं उतरा, यह स्वाभाविक ही था।

मैंने अपने मित्र से कहा, —

'राव साहब जब आये उस समय मेरे हाथ में रबड़ के फुग्गे थे और इसी लिये उन का काम भी हो गया!'

वह मेरी ओर टकटकी लगाकर देखने लगा। मैंने आगे कहा, —

'फुग्गे खेलने के बजाय यदि मैं कोई बड़ा टीका-ग्रंथ पढ़ता रहता, तो —'

'तो क्या होता?'

'मैं उन के कविता संग्रह की प्रस्तावना लिखने के लिये कभी राजी न होता!'

मैं ताड़ गया कि मेरी बात का रुख किस तरफ है, यह वह स्वयं समझ नहीं पाया है, इसलिये मैंने कहा, —

'रबड़ के फुग्गों को फुलाने में और उन में के कुछ अगर फूट गये तब भी उस खेल में खो जाने में लड़कों को कितना आनंद आता है, यह मैं प्रत्यक्ष देख रहा था। इसलिये मुझे लगा कि वे राव साहब भले ही हों, पर वे छोटे लड़के की तरह ही हैं। फुग्गे फुलाने में अवी और मन्दा को जो आनंद आ रहा है, वही ये नीरस और अत्यन्त साधारण कविताएँ लिखने में उन्हें आया होगा। मैं यदि प्रस्तावना लिखने से इन्कार कर दूँ,

तो वह एक छोटे बच्चे के आनद का मजा किरकिरा कर देने की तरह होगा । इसलिये —'

मेरा मित्र हँसा । इस से मै ताड गया कि मेरी बात उसे जँच गयी ।

मै स्वय अपना समर्थन करने के लिये यह कह गया जरूर, लेकिन उस में असत्य क्या है ? निर्मिति के आनद के कारण ही जग में अनेक दुःख होते हुए भी, मनुष्य जीवन से उत्कट प्रेम करता है । फिर वह निर्मिति की शक्ति, चाहे किसी सिकुडे हुए रबड के पोले टुकडे को फूँककर उस मे से एक बडा फुग्गा उत्पन्न करे, छोटे से बिरवे को खाद-पानी देकर उस पर सुदर फूल खिला दे, दिलरुबा के तारो से भावनाओं को उभाडनेवाले स्वर निकाले, आकाश में मंडरानेवाले किसी सुदर पक्षी पर कविता रच डाले, नौ महीने गर्भ मे सम्हालकर प्रसूत-वेदनाओं की परवाह न करके सुदर बालक को जन्म देवे अथवा ऐसे बालक का तेजस्वी युवक में रूपान्तर कर दे ! उस शक्ति का उपयोग ही जीवन के उत्कट आनद का जन्म है । हम कुछ निर्माण कर रहे है — जग के सौन्दर्य में, क्षण-भर के लिये ही क्यो न हो, अथवा कण-भर ही क्यो न हो, वृद्धि कर रहे है— यह कल्पना ही कितनी मनोहारिणी है ।

निसर्ग शताब्दियो से मनुष्य को मुग्ध करता आ रहा है । क्या इसका कारण नवजीवन निर्माण करने की उसकी यह सामर्थ्य ही नहीं है ? आकाश के मामूली बादलों की ओर बहुत देर तक कोई भी नहीं देखेगा । लेकिन साध्यबेला में जब वे रगबिरगे फुग्गों की तरह भिन्न भिन्न आकार धारण करने लगते हैं अथवा उन में से जब वर्षा की धार झरझर झरने लगती है, तब मनुष्य अपनी उम्र ही नहीं, बल्कि होश भी भूल जाता है ।

राव साहब यदि सच्चे कवि होते, तो यह देखकर कि मै फुग्गों से खेल रहा हूँ, उन्हें आनद हुआ होता । कदाचित् उन्हें कोई कविता भी सूझ जाती । जीवन के विभिन्न रसों से एकरस हो जाना ही क्या लेखक का काम नहीं है ? और जीवन के अपने विविध अनुभवो को रबड़ के फुग्गों के सिवा और अधिक अच्छी कौन-सी उपमा दी जा सकेगी ? विद्या, मैत्री, कीर्ति, प्रीति — ये सभी क्या समय समय पर जीवन को शोभा

देनेवाले सुदर रबड के फुग्गे ही नहीं है ? हम उन्हे फूँककर यदि बहुत बडे बनाने लगे, तो वे फूट भी जाते है । लेकिन वे चाहे फूट भी जावें अथवा शोभा की वस्तु के रूप में हमारे पास रहें, फिर भी उन्हे फुलाते समय का आनद झूठ सिद्ध नहीं होता !

जब मैने सस्कृत पढ़ना आरभ किया तब व्याकरण के क्लिष्ट रूप याद करते हुए भी मै कितना रग जाया करता था । उन रूपो की सहायता से ही कितने ही कठिन श्लोको का अर्थ मै समझ लेता था । उस समय पाठ किये हुए उन सुदर श्लोको मे से बहुत से आज मै भूल गया हूँ । और जो एक-दो मुझे याद आ जाते है उनके काव्य का स्वरूप थोडा-सा पारा झडे हुए दर्पण की तरह हो गया है । फिर भी सस्कृत पढ़ते समय आनद में बिताये हुए उन दिनो की जब याद आती है, तब मुझे ऐसा लगने लगता है कि उसी शौक से आज समाजवाद का अध्ययन करूँ ।

मेरे पुराने मित्रो मे से मृत्यु कुछ मित्रों को मुझ से बहुत दूर ले गयी है, कुछ गलतफहमी के कारण दूर हो गये है और बहुतों का स्वार्थमूलक अहंकार अपने लिये दुःसह होने से मै ही उन से चार क़दम दूर रहने लगा हूँ । लेकिन बचपन के लगोटिया मित्रो से लेकर, मेरे केश सफेद होने के बाद मिले पायजामाधारी मित्रो तक – हरएक की मित्रता ने मेरे जीवन में आनद के स्रोत उत्पन्न किये है । इन में के बहुत से स्रोत जल्द सूख गये, बहुत से राह के रेगिस्तान में लुप्त हो गये, लेकिन उनके किनारे बैठकर जो निर्मल जल मैने पिया उसकी आनददायक स्मृति मेरे मन से कभी नहीं जायेगी ।

मैत्री की ही बात क्यो लें ? पचीस की उम्र मे जिस प्रीति पर मनुष्य अपने प्राण निछावर करने के लिये तैयार हो जाता है, वही प्रीति उसे चालीस की उम्र में रग उड़े वस्त्र की तरह दिखने लगती है । लेकिन मुझे लगता है कि पचीस की उम्र फिर से दे देनेवाला कोई देव यदि उत्पन्न हो जावे, तो अपने आगामी जीवन का एक एक वर्ष देकर उसके बदले में पचीस की उम्र का एक एक महीना लेने के लिये बहुत-से लोग तैयार हो जायेंगे ।

मुझ से जो राव साहब मिलने आये थे उन के गुरु कोई राव बहादुर प्रीति की यह तरफदारी सुनकर नाक सिकोड़ेंगे और कहेंगे – 'उँः! पचीस की उम्र की प्रीति उन्मादक होती है ज़रूर, पर वह भी एक रबड़ का फुग्गा ही है!'

मैं नम्रतापूर्वक उन्हें उत्तर दूँगा,—

'राव बहादुर साहब, वैसे देखें तो मनुष्य का जीवन ही एक बड़ा फुग्गा है। इसलिये दुनिया मे कोई अपनी जान से ऊब गया है क्या? हमारे और तुम्हारे जैसे लोगों की बात छोड़ दें, फिर भी जिस माता की गोद में हम जीवन भर खेलते रहते है, वह धरती भी एक फुग्गा ही है। और कहते है कि यह धरती धीरे धीरे ठंडी हो रही है। उसका फुग्गा भी कभी न कभी फूटेगा ही!'

राव बहादुर मुँह बाकर मेरी ओर देखने लगेंगे। मैं उत्तर में गुनगुनाने लगूँगा,—

'वंदे मातरम् – सुजला सुफला, सस्यश्यामलाम मातरम्!'

● ● ●

४१

सुभाषित

उस नोट-बुक की ओर मैं टकटकी लगाये देखता ही रहा। फर्ग्युसन कॉलेज, इन्टरमीजिएट क्लास, और अपने राम का नाम! क्षण-भर के लिये मैं इस भ्रम में पड़ गया कि ये अक्षर मेरे ही हैं या नहीं। चेहरे की तरह मनुष्य के अक्षरो पर भी समय का कितना प्रभाव हो जाता है!

उस नोट-बुक की ओर देखते-देखते मेरे मन मे आया – तेईस साल पहले की यह नोट-बुक देखते ही मै इतना भोचक्का हो गया। फिर यदि किसी को अपने पूर्व-जन्म का स्मरण होने लगा, तब वह तो बिलकुल पागल ही हो जायेगा! इन तेईस वर्षों में मेरे अक्षरों में जितना फर्क पड गया है, उनकी अपेक्षा हजार गुना अधिक मेरे विचारो और स्वभाव मे पड गया है। जब मैं गॉव में था, उस समय 'गोल्डन टी' पीने का मुझे चसका था। इसलिये वह चाय पीने के लिये मै हररोज पैदल आता-जाता था। आज के मेरे मित्र इस बात को कभी सच ही न मानेंगे। आजकल कोई फिल्म मुझे मुफ्त देखने मिले, फिर भी उसे दुबारा देखना मेरी जान पर आता है। लेकिन जब कॉलेज में था, उस समय सस्ते टिकट खरीदकर एक ही नाटक को दो-चार बार देखने मे मुझे

बडा आनद आया करता था। जब मैंने 'बालकवि'[१] की 'फुलराणी'[२] शीर्षक कविता प्रथम बार पढी, उस समय विलक्षण कोमलता से वर्णन की गयी उस प्रेम-कहानी ने कितने ही दिनों तक मेरे मन को मुग्ध कर रखा था। आज भी उस सुदर कविता की पहली चार पंक्तियाँ मुझे बार बार याद हो आती है। ऐसा नहीं कि मै उन्हे भूल गया हूँ—

हिरवे हिरवे गार गालिचे
हरित तृणाच्या मखमालीचे
त्या मखमालीवरती होती
खेळत साधी फुलराणी ती[३]

लेकिन, इस शब्द-चित्र की स्मृति किसी तरुणी के दर्शन से जाग्रत नहीं होती। बल्कि मदा की बाल-लीलाओं को देखकर इन पंक्तियों की याद आ जाती है।

स्वय मुझ मे हुआ यह फर्क मनःचक्षुओ के सामने से सरक जाने के कारण रद्दी में पडी हुई उस नोट-बुक के सबंध मे मेरा कुतूहल और भी अधिक बढ गया। मेरा ख्याल था कि उस नोट-बुक मे शायद सॉलिड जॉमेट्री के उदाहरण अथवा 'कादम्बरी' के लम्बे-चौडे समासो की सुरग में से किये गये प्रवास का वर्णन होगा। लेकिन, जब उत्सुकता से मैंने उसका पहला ही पृष्ठ खोला तब जरूर मुझे स्वय अपने आप पर ही आश्चर्य हुआ। सुभाषितो का सग्रह था वह।

१ ठोंबरे - मराठी भाषा के एक आधुनिक कवि।

२ 'फूलरानी'— बालकवि की 'फुलराणी' कविता मराठी भाषा मे एक प्रसिद्ध कविता मानी जाती है। उसका कल्पनाविलास, उसकी भाषा और उसका वृत्त सभी बहुत सुदर है। एक बगीचे में हरियाली पर कवि एक छोटी-सी कली देखता है और सुबह की किरण को दूल्हा और कली को दुल्हन कल्पितकर दोनो की प्रणय-क्रीडा और अतमें मे विवाह का चित्र खींचता है।

३ 'हरी घास की मखमल के हरे हरे घने गलीचे फैले हुए थे। उस मखमल के गलीचे पर एक भोली-भाली फूलरानी खेल रही थी।'

एक विद्वान् प्रोफेसर साहब के सुभाषित सग्रह मे के सब सुदर वाक्य मैंने अपनी इस नोट-बुक में उतार लिये थे। प्रोफेसर महाशय का पठन-पाठन अगाध था, वक्तृत्व मनोहारी था और फिलॉसफी की निपुणता के लिये उन्हे स्वर्ण-पदक भी मिला था। जब उनका सुभाषित-सग्रह मेरे हाथ लगा, तब मैंने उसे बडे उत्साह से पूरा पढ डाला था और कितनी उत्सुकता से मैने ये सब सुदर वाक्य अपनी इस नोट-बुक मे उतार लिये थे। उस समय उन वाक्यो को बार बार पढ़ते समय मुझे लगा करता – जीवन अँधेरे का प्रवास भले ही हो, लेकिन इस नोट-बुक का प्रत्येक सुभाषित एक विद्युद्दीप है। बुद्ध, क्राइस्ट, इमर्सन, शेक्सपीअर, स्पेन्सर, शेली और बोनापार्ट आदि महापुरुष इन विद्युद्दीपों को हाथ मे लिये हुए हमें मार्ग दिखाने के लिये प्रस्तुत हो गये हैं। फिर जीवन के अँधेरे में प्रवास करने के लिये हमें डरने की क्या बात है?

अँधेरे से अधिक न डरते हुए पिछले तेईस सालो से मैं यह प्रवास करता आया हूँ, यह सच है। इस प्रवास मे पैरो मे कॉटे चुभे, पैरों को ठोकरें लगीं और वे खूनाखून हो गये और दो-तीन बार तो राह भूलकर मै गड्ढों मे भी गिरा। लेकिन तेईस वर्ष पहले प्राप्त किये गये इन बिजली के दीयो का प्रत्यक्ष प्रवास मे मुझे कभी कोई उपयोग न हुआ। बल्कि मुझे यह भी स्मरण न रहा कि कॉलेज मे पढते समय मैंने सुभाषितो का सग्रह किया था।

नोट-बुक का एक पृष्ठ खोलकर, पहला ही सुभाषित मैंने देखा। शेक्सपीअर का कथन था वह —

' Glory is like a circle in water
Which never ceaseth to enlarge itself
Till, by broad spreading
it disperses to nought '

जिस समय ये वाक्य मैंने अपनी नोट-बुक मे उतारे थे, उस समय यह उपमा कि कीर्ति पानी में ककर फेकते ही उत्पन्न होनेवाले आवर्त की तरह है, मुझे अत्यन्त उपयुक्त जान पडी थी। उस समय मेरी ऑखों के सामने

बुद्ध कह रहे थे – ' जिस घर के छप्पर की ठीक से छवाई नहीं होती उस में वर्षा का पानी चूने लगता है, उसी तरह चिन्तन-शून्य मन में विकार उत्पन्न होते है ! '

बुद्ध का यह कथन किसी भी तरह मुझे नहीं जॅचता था । मेरा क्रोधी स्वभाव जाता रहे, इसलिये मै बचपन से ही कितना प्रयत्नशील रहा हूँ ! क्रोध आने पर अनशन करना, अथवा स्वय अपने ही मुँह पर अपने हाथ से एक चॉटा मार लेना – इस तरह के महात्माओ को शोभा देनेवाले उपाय मे सहसा नहीं करता । लेकिन एकान्त में मुझे इसका बहुत दुःख होता रहता है कि मै अपने मन पर अधिकार न रख सका । जिस पर मै नाराज हो जाता हूँ उस से मै अधिक प्रेम-पूर्वक बर्ताव करने लगता हूँ और बार-बार यह निश्चय भी करता हूँ कि अब मै अपने मन को इस तरह फिर नहीं भडकने दूँगा । लेकिन मेरी उम्र के साथ यद्यपि मेरे द्वारा पढे जानेवाले तत्त्वज्ञान के ग्रथों की सख्या और मेरे मन की चिन्तनशीलता भले ही बढ रही हो, फिर भी बचपन की तरह, आज भी, मेरा क्रोध मुझे दस तक गिनती गिनने का अवकाश ही नहीं देता । फिर बुद्ध चाहे जो कहते रहें !

अच्छा, बुद्ध नहीं तो न सही । इस आशा से कि कम-से-कम क्राइस्ट मेरे मन को सतोष देंगे, मै उन के सुभाषित की ओर देखने लगा । पहले ही वाक्य ने मुझे चकरा दिया —

' My kingdom is not of this world. '

क्या खूब ! मुझे तो यही आश्चर्य हुआ कि पूंजिपतियो ने अभी तक क्राइस्ट के इस सुभाषित को अपना ' मोटो ' क्यों नहीं बनाया ? इस दुनिया में रोटी के एक टुकडे के लिये तडपनेवाले अगणित बालक हैं, ऐसी लाखो स्त्रियॉ हैं जिन्हें अपनी लज्जा ढॉकने के लिये पर्याप्त वस्त्र मिलना मुश्किल हो जाता है और ऐसे असख्य जीव हैं कि जिनका जीवन घानी में जुते हुए बैल की अपेक्षा अधिक कष्टमय होता है । क्राइस्ट कोई इतना घर-घुसना अमीर न था कि ये सब बाते उसकी समझ मे न आतीं । लेकिन दुखी और कष्टमय दुनिया को उसने सदेश क्या दिया ? – तो यह

कि 'हमारा राज्य स्वर्ग में है !' जिस मनुष्य के लिये इस दुनिया में मुट्ठी-भर दाने भी उधार मिलना कठिन है, वह स्वर्ग-सुख की उधार आशा पर जग के सारे कष्ट और अन्याय सहन करता रहे ! यह तो खूब न्याय रहा ! सुंदर सुभाषित है भई !

मैंने वह नोट-बुक सिर्फ बंद नहीं की, बल्कि दूर फेंक दी। कॉलेज में पढ़ते समय मैं दुनिया की ओर कल्पनारम्य दृष्टि से देखता था। इसलिये मुझे उस समय यह लगा कि इन सुभाषितों में चिरकालाबाधित सत्य के प्रतिबिम्ब पड़े हैं और मैंने उन्हें अपनी नोट-बुक में उतारा। लेकिन अब मुझे लगा — मैं जिन्हें विद्युद्दीप मान रहा हूँ, वे मिट्टी के दीये हैं ! हीरे मानकर जिन कंकरों को मैंने चुनकर रखा था, वे सचमुच के कंकर ही थे !

अलमारी की जिस रद्दी से मैंने वह सुभाषितवाली नोट-बुक उठायी थी, उसी में से समाचार-पत्र का एक कटिंग फड़फड़ाता हुआ मेरे सामने आ गिरा। मैंने उसे उठाकर देखा। मुझे लगा कि उसमें किसी का महत्त्वपूर्ण भाषण अथवा कानून-भंग के आन्दोलन के समय का कोई महत्त्वपूर्ण अवतरण होगा। मैं पढ़ने लगा —

मेरे 'हृदयाची हाक'[1] नामक उपन्यास पर एक आलोचना थी वह। उस आलोचक ने उपन्यास में जो सुभाषित थे उनकी बड़ी प्रशंसा की थी और उदाहरणस्वरूप उन में के कुछ उद्धृत भी कर दिये थे।

लेकिन मुझे उन उदाहरणों को देखने की हिम्मत न हुई। मैंने वह कागज़ अलमारी में फेंक दिया।

अच्छा हुआ कि पीछे से 'हौआ आया, हौआ आया' कहती हुई मंदा आयी और उसने मेरे पैरों को अपने दोनों हाथों में भर लिया ! वरना मैं यहाँ तक तर्क कर मारता कि सुभाषित असत्य का अर्क होते हैं !

मंदा बिलकुल सजी-सजाई आयी थी। छोटी छोटी तरंगों के कारण जलाशय का पृष्ठ-भाग जिस तरह बड़ा मोहक दिखता है, उसी तरह चुन्नटों के कारण उसका नीला फ्रॉक अत्यन्त सुंदर लग रहा था। मंद चाँदनी के कारण आकाश का फीका नीला रंग जिस तरह उभरकर

---

१ 'हृदय की पुकार।'

दिखाई देता है, उसी तरह उचित प्रमाण मे लगाए गये पाउडर के कारण उसकी सॉवली मुद्रा दिख रही थी । मामूली झगला पहने हुए सॉवली मदा और यह —

मदारानी के इस ठाट से यह स्पष्ट था कि मेरी पत्नी कही बाहर जा रही है । मंदा को गोद मे उठाकर मैने अन्तःपुर मे प्रवेश किया । एकदम मुझे ऐसा आभास हुआ कि कहीं कोई परायी सुदर स्त्री तो मेरी पत्नी से मिलने नहीं आयी है ?

लेकिन कमरे में केवल एक ही स्त्री थी ! मुझे स्वय अपने आप पर ही हॅसी आयी । नित्य की मामूली साडी पहनने के बदले जरी की हरी साडी पहनते ही और जरा सावधानी के साथ केश-रचना करते ही, क्षण-भर के लिये ही क्यों न हो, पति पत्नी को न पहचान सके, तो क्या यह आश्चर्य नहीं है ? मै अपने आप ही हॅसा ।

मेरी पत्नी को लगा कि मै उसकी सजधज पर हॅस रहा हूॅ । दर्पण मे देखकर अपने गले का हार ठीक-ठाक करती हुई वह बोली, —

'चार लोगो मे जाना है, तो जरा ठीक-ठाक तो दिखना चाहिए न ?'

खिडकी में रखा गुलाब का ताजा फूल उठाकर उसने अपने वेणी में लगाया । उसने जो केशभूषा की थी, उस से वह अब और भी अधिक सुदर दिखने लगी ।

मेरी पत्नी चली गयी, फिर भी गुलाब के फूल को केशो में सजानेवाली और 'चार लोगों में जाना है तब जरा ठीक-ठाक तो दिखना चाहिए न ?' कहनेवाली उसकी मूर्ति कितनी ही देर तक मेरी ऑखों के सामने खडी थी । मुझे लगा – वैसे देखा जाये, तो केश और गुलाब का क्या सबध है ? लेकिन फूल के बिना लता और वनिता – दोनो ही सुदर नहीं दिखतीं, यह सच है ।

मदा का फ्रॉक, मेरी पत्नी की वह जरी की साडी, उस के केशो मे सजा हुआ वह गुलाब का फूल और उसका यह कहना कि 'चार लोगो मे जाना है तो जरा ठीक-ठाक तो दिखना चाहिए न ?' – ये सभी बातें मेरी कुछ समय पहले की शका का उत्तर दे रही थी । – वस्त्रो से

मनुष्य के शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है। क्या सुभाषित भी सुंदर वस्त्रों अथवा मोहक फूलों की तरह ही नहीं हैं? यदि मनुष्य यह न चाहता कि अपने मन का सौन्दर्य बढे, तो वह सुभाषितों को कभी पसंद न करता! सुभाषितों की चाह मनुष्य के मन की पूर्णता की प्यास है।

इस कल्पना के मन मे आते ही वह नोट-बुक जो कुछ समय पहले मैंने फेक दी थी, अब फिर से उठा ली।

उसे खोलने पर जो पन्ना खुला, उस पर लिखे सभी सुभाषित मजेदार थे।

'खुशी से जो भार उठाया जाता है वह धीरे धीरे हलका हो जाता है!'
'पुराने मित्र सब से अच्छे होते हैं!'
'विवाह से बड़ा साहस दुनिया में दूसरा कोई नहीं है!'
'प्रीति जीवन का अन्न नहीं, मदिरा है!'

मैंने सुभाषितों की वह नोट-बुक रद्दी में वापस नहीं डाली, बल्कि मेज पर फूलदानी के निकट रख दी।

● ● ●

४२

दिखावा

इस अर्थ की एक पुरानी कहावत है कि घर बनाकर देखो और विवाह करके देखो तो पता चले । मुझे यह कहावत बिलकुल अधूरी लगती है। उस मे 'तागा ठहराकर देखो' यह जोड़ देना भी अत्यंत आवश्यक है।

ट्राम मे कडक्टर के हाथ में शान से एक आना भला देनेवाला बबई का अथवा पैदल ही सारे कारोबार निपटानेवाला देहाती यह पूछेगा कि तागेवाले से सौदा करने में आखिर मुश्किल क्या है ? लेकिन कहते है न, कि बॉझ प्रसव की पीडा क्या जाने ? तागा ठहराने का दुःख भी उसी तरह है । अनुभव के बिना उस की तीव्रता का पता नहीं चल सकता ।

तांगा ठहराने के लिये जब हम स्टैंड पर पहुँचते है, तो जितने भी तागेवाले वहाँ उपस्थित रहते हैं, वे सब के सब एकदम हमारी ओर दौड पडते हैं – जैसे छतने से निकली मधुमक्खियाँ ही हों ।

जिस मनुष्य को तागेवाले घेर लेते है वह गरीब ऐसा दिखने लगता है जैसे रंगे हाथ पकड लिया गया कोई चोर हो ! एक तागेवाला 'साहब मेरा तागा है' कहकर उस का दाहिना हाथ पकड़ता है, तो 'साहब

चलिए ' कहकर दूसरा उस का बाया हाथ पकडता है । इस समय ऐसा लगता है कि मनुष्य को दो हाथ देने में ईश्वरने बहुत बडा चातुर्य प्रकट किया है । सहस्रार्जुन के जमानें मे यदि तागेवाले होते, और रथ टूट जाने के कारण अथवा अन्य और किसी कारण से उसे तागा करने का मौका आता तो वे तागेवाले उस के हज़ार हाथ पकडने से भी बाज़ न आते ।

जिस तांगे मे हमें सवार होना है, उस के घोड़े का क्या हाल है, हमें किराया कितना देना पड़ेगा इत्यादि बातें ग्राहकों को बडी महत्त्वपूर्ण लगा करती हैं । लेकिन तागेवाले को इन की कोई परवाह नहीं होती । किसी भी तरह ' सवारी ' गॉठना ही उस का मुख्य उद्देश्य होता है । यदि घोडा मरियल है, तो चाबुक मार कर उसे भगा सकते है और किराये के लिये हुज्जत करने को आगे काफी वक्त मिलता है — ये बातें वह कभी भी नहीं भूलता !

मेरा हमेशा का यह अनुभव होने के कारण कि तागा तय करना एक बडी कठिन परीक्षा है, इस विषय में मैंने अपने आपको एक अनुशासन में बॉध लिया है । ऐसे समय मै एक जगह जाकर खडा हो जाता हूॅ, एक समय एक ही तागेवाले से बात करता हूॅ और जब तक किराया तय नहीं हो जाता, तब तक तागे मे क़दम नहीं रखता हूॅ ।

लेकिन परसों जरूर मेरा यह अनुशासन मेरे ही हाथों भग हो गया । चुपचाप मुझे एक तांगेवाले के पीछे जाना पडा । मैं उस के फटियल तागे में बिलकुल प्रसन्न मुख से बैठ गया !

बात यह हुई थी —

इधर मै तागा तय करने के लिये स्टैड पर आया और उसी समय सब शालाओं की छुट्टी हुई । दोनो बातें एक ही साथ हुईं । सड़क से जा रहे लड़कों में से करीब दस-बीस लड़के तो ठिठक कर मेरी ओर देखते हुए खड़े हो गये । उन की दूसरी ओर से कुछ लडकियाँ जा रही थीं । उन में से शायद एक ने दूसरी का ध्यान धीरे से मेरी ओर खींच लिया होगा । दोनों ही कुतूहल से मेरी ओर देखने लगीं । सड़क के किनारे खड़े हुए

लड़कों में से दो-तीन बालवीरो ने आगे बढकर मेरा सूक्ष्म निरीक्षण करना आरभ कर दिया। वाल्मीकि के आश्रम में बटुओं को घोडा देख कर जो कुतूहल हुआ होगा, वही इन बालगोपालों को लेखक देखकर हुआ!

एक बटु पुटपुटाया, 'कटहल के कॉटे!'[१]

मैं बडी उलझन मे पड गया!

यदि किराया तय करके तांगे में बैठूॅ, तो चार-पॉच तागेवालों से कम से कम दस पन्द्रह मिनट तो बहस करनी ही होगी। किराया तय करते समय तागेवालों के साथ किसी के भी जो सभाषण और संवाद होते हैं उन का स्वरूप ललित-साहित्य से बहुत भिन्न हुआ करता है। वैसा सवाद मेरे इन नन्हे चाहनेवालों के कानो में पड़े, यह मुझे उचित नहीं लगता था!

छि! यदि उन्होने वह संवाद सुना होता, तो उन का स्वयं अपने कानों पर ही विश्वास न हुआ होता। यह देखकर कि अपने लेखो में गरीबों का पक्ष लेनेवाला लेखक दो-चार आने के लिये एक फटा कोट पहने हुए तागेवाले से झगड़ा कर रहा है, उन्हे —

'तुकाराम' के चित्रपट में तुकाराम लड़कों को गन्ने देने के बदले उन्हें उन के सिर पर मारने लगे, तो दर्शकों को जो धस्का लगेगा, वही उन भोले बालजीवों को लगा होता!

सामने जो तागा खड़ा था, उस में मै शान्तिपूर्वक जाकर बैठ गया।

हाँ! गरीब बिचारे तागेवाले से किराया क्या तय करना? यदि दो-चार आने अधिक भी मॉगेगा, तो उसे दे दूँगा — मै इस तरह की शान भी अपनी मुद्रा पर ले आया था।

लेकिन जब मेरे सब चाहनेवाले मेरी दृष्टि से ओझल हो गये, तब जरूर किराये का सवाल मेरी नजरो के सामने एकाएक आ धमका!

मुझे लगने लगा कि तागेवाले को मैने जो कोरा चेक लिखकर दिया, यह बड़ी गलती की। लेकिन अब दुख करने से क्या फायदा? विवाह की

१ खांडेकरजी की एक कहानी — 'फणसाचे काटे' का शीर्षक।

वेदी पर चढने के बाद यह शिकायत करने से कि पत्नी कुरूप है, काम नहीं चलता !

तागा घर के सामने रुका ।

मैंने जेब से चार आने निकालकर तागेवाले के हाथ में रख दिये ।

उस ने ऐसी खिन्न मुद्रा बनायी कि जिससे देखनेवालों को यह लगे कि मैंने उसे चार पैसे ही दिये होंगे !

वह आठ आने मॉगने लगा । सायकाल की चिलचिलाती धूप का उस ने इतना भयंकर वर्णन किया कि मुझे लगा कि जिसे महाकवि होना था गलती से वह तांगेवाला हो गया । इस के बाद जब उस ने सडक के गड्ढों का ब्यौरेबार वर्णन करना आरभ किया, तब मुझे विश्वास हो गया कि विधाताने भूल से उस के हाथ में लेखनी के बदले लगाम पकडा दी । इतना सूक्ष्म वर्णन करनेवाला मनुष्य उपन्यासकार हुआ होता, तो मराठी साहित्य को कितना लाभ होता !

यह सिद्ध करने के लिये कि उस की आठ आने की मॉग ठीक है वह मुझे एक घटा और भी व्याख्यान पिलाता रहता ! परंतु उसे सुनने की मुझे इच्छा न थी । मैंने और दो आने उस के हाथ में रखे और घर में चला आया ।

लेकिन आरामकुर्सी पर पड़ कर कुछ पढ़ना आरंभ करने के बदले मेरा मन उन दो आनों में ही अटक गया । दिल में आया कि आज मैंने दो आने व्यर्थ खर्च कर डाले । उन चार लडकों के सामने इस दिखावे के मोह का शिकार होकर कि मैं कजूस नहीं हूँ मैंने कुछ समय पहले अपनी गाँठ के दो आने खो दिये । कल इसी तरह दो सौ रुपये खो दूँगा । छि ! यह थोथी प्रतिष्ठा – दिखावे का यह शौक़ अच्छा नहीं ।

मेरी यह विचार-धारा मुझे अत्यत तर्कशुद्ध मालूम हुई ।

मैं खिड़की से बाहर देखने लगा ।

एक दुबलापतला आदमी दस-पॉच बड़े बड़े ग्रंथ लिये सड़क से जा रहा था । इस आदमी से मैं भलीभाँति परिचित था । मैंने उसे बिना पुस्तकों के कभी भी न देखा था ! लेकिन हाथ में रखी मोटी मोटी

पुस्तको मे से वह कितनी पढता है, और पढे हुए भाग का कितना मजमून उस के दिमाग़ मे घुसता है, इस विषय मे मैं बहुत सशक था। पांडित्य के प्रदर्शन का ही उसे बडा शौक़ था।

वह दृष्टि से ओझल हो गया; इसी समय सड़क से एक स्त्री जाने लगी। हमारे पडोस में ही रहती थी वह! वह कितनी काली है इस की कल्पना मेरी ऑखों को अनेक बार आ चुकी थी। लेकिन इस समय पाउडर लगा कर वह अपने चेहरे पर जो गौरवर्ण ले आयी थी, उसे बिना उस के नज़दीक गये, कोई भी कृत्रिम नहीं कह सकता था। पर्वत की तरह स्त्री भी दूर से ही सुहावनी दिखती है, इस मे कोई शक नहीं।

मैंने मन में कहा — 'कुछ समय पहले पाडित्य का प्रदर्शन देखा, अब यह सौन्दर्य का प्रदर्शन है!'

और थोडी देर पहले मैंने तागेवाले को जो दो आने अधिक दे दिये उस का कारण — वह उदारता का प्रदर्शन था! नहीं?

यह विचार मन में आते ही मुझे अपने आप पर ही हॅसी आयी। मैं यह भूल गया था कि प्रदर्शन मानवी सस्कृति का महत्त्वपूर्ण भाग है! फिर वह प्रदर्शन चाहे रूप का हो, भावना का हो अथवा नीति का हो!

मेहमान को बिदा देते समय खीसें निपोरते हुए हम कहते हैं — 'देखें, अब फिर भेट का कब संयोग आता है?' हमें दिल से यह नहीं लगता कि वह मेहमान फिर से जल्दी लौटकर आये! लेकिन — शिष्टाचार भी तो जग में कोई चीज है न!

मेहमान की बात व्यक्तिगत होती है, इसलिये उसे छोड दें, फिर भी हम जो सामाजिक नीति का पालन करते हैं, उस का कारण भी क्या मानवी मन का प्रदर्शन का शौक ही नहीं है? सडक से आने-जानेवाली स्त्री की ओर — वह कितनी भी रूपवती क्यो न हो फिर भी — टकटकी लगाकर देखना असभ्यता है, ऐसा सामाजिक सकेत है। इसी लिये हम में से बहुत से सामने देखकर चलते हैं! सभ्यता के प्रदर्शन का यह बंधन आज के मानवी मन पर न होता, तो सड़क से सुदर स्त्री के गुजरते ही तुरत ही दस-पॉच मोटर की दुर्घटनाएँ हो जाया करतीं। यही नहीं, बल्कि

ऐसी स्त्री के लिये सडक से आना-जाना ही असंभव हो जाता। उस के आसपास लगनेवाली भीड़ को तितर-बितर करने के लिये पुलिस को गोलियाँ भी चलानी पडतीं।

मैं सुदर हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं उदार हूँ, मै सभ्य हूँ – यह आभासित कराने का प्रयत्न क्या व्यक्तिनिष्ठ मन को सामाजिक बनाने की पहली सीढ़ी ही नहीं है? मनुष्य के दिखावे का शौक जितना प्रथम लगता है उतना हास्यास्पद कदापि नहीं है! सत्य की चाहे न हो, लेकिन सौन्दर्य की इस शौक में स्पष्ट रूप से दिखायी देती है, और सौन्दर्य सत्य का ही मनोहर रूप है!

आरामकुर्सी पर पडा हुआ कुछ पढ़ने के इरादे से मैं पुस्तकें उलटने लगा। आज ही की डाक से एक कविता की पुस्तक आयी थी। उसे हाथ में लेते ही उस के मुखपृष्ठ पर के चित्र ने मुझे बिलकुल मोहित कर दिया।

चित्र मे ‘ यमुना किनारे ’ की तरह कोई प्रसंग था, यह बात बिलकुल न थी।

एक तरुण कविता लिखने में निमग्न हो गया है। उस की पत्नी ने उस के आगे चाय का प्याला लाकर रख दिया है और यह देख कर कि चाय के ठंडी हो जाने पर भी अपने पति की समाधि नहीं उलट रही है, पत्नी उस की ओर सराहना-भरी दृष्टि से देखती हुई हँस रही है – ऐसा चित्र चित्रकार ने बनाया था। उस तरुणी की नीली साडी, उस के काले केश, उस तरुण का फीके नीले रंग का शर्ट – नीले रग के कारण कितनी विलक्षण शोभा आ गयी थी, उस चित्र में!

मुझ से कोई मिलने आया। इसलिये पुस्तक नीचे रखकर, मैं बाहर गया। दस मिनट के बाद लौटकर कमरे में आया तो देखता हूँ कि उस चित्र का सारा सौन्दर्य लुप्त हो गया था। मेरी अनुपस्थिति में अविनाश ने कमरे पर कब्जा कर लिया था। उस पुस्तक पर आक्रमण किया था और उस चित्र पर के आवरण का नीला कागज फाडकर उस के टुकडे टुकडे कर डाले थे।

वह खुला चित्र अब कितना मामूली दिख रहा था ! चित्र की तरुणी का वह फ़ीका जामुनी रंग, उस तरुण के शर्ट पर दिखनेवाली उसी फीके रंग की छटा – जिस फूल को हम सूंघ रहे हो उस फूल की सुगंध एकदम उड़ जावे, उस तरह वह चित्र देखकर मुझे हो गया।

चित्र पर लगाये हुए नीले कागज के उन टुकड़ों की ओर मैंने अतृप्त दृष्टि से देखा। मेरे मन में आया – इस चित्र का आधे से अधिक सौन्दर्य आवरण के इस कागज में ही था ! नहीं ? मानवी जीवन भी इसी प्रकार का एक चित्र है।

● ● ●

४३

दो मोमबत्तियाँ

'दो मोमबत्तियाँ'[1] लघुनिबध जब मैने पहली बार पढा, तब मुझे बडा अच्छा लगा था। परसो मुझे उस का विवेचन करना था, इसलिये उसे फिर से पढ़ा, तब भी वह मुझे उतना ही सरस लगा! निबध का नाम ही कितना कुतूहलजनक है! उसे पढते ही पाठक की कल्पना उस के चारों ओर चक्कर काटने लगती है। उस के मन में आता है — काणेकरजी[2] ने ये मोमबत्तियाँ कहाँ देखी होंगी? और उस दृश्य में उन्हें ऐसी कौन सी बात नज़र आयी होगी जिससे किसी सुदर तत्त्व का प्रतिपादन किया जा सके? धुँधला प्रकाश देनेवाली दो मोमबत्तियो की तो बात ही क्या? लेकिन दस-पॉच पेट्रोमैक्स देखकर भी मुझे कभी चार पंक्तियाँ लिखने की न सूझी!

सच तो यही है कि ये लेखक लोग जादूगर होते हैं! जहाँ हमें कुछ नहीं दिखाई देता, वहीं से ये सुदर सृष्टि निर्मित कर देते हैं।

---

१ अनत काणेकर द्वारा लिखा हुआ मराठी लघुनिबध – 'दोन मेणबत्त्या'।

२ अनत काणेकर – मराठी भाषा के एक वर्तमान श्रेष्ठ साहित्यिक।

पाठक की इस कल्पना का यह अनुमान ' दो मोमबत्तियाँ ' लघुनिबध मे पूर्णतया ठीक सिद्ध होता है। इन दो मोमबत्तियों के प्रकाश मे काणेकर को एक अत्यत सुदर सत्य का दर्शन होता है। वह सत्य अर्थात् – ' अपने अतिम क्षण तक मैंने सब को प्रकाश दिया ' – इस सुखदायी तद्रा में समाप्त होनेवाला जीवन का अतिम क्षण ही सच्चा सुख का क्षण है! एक विद्यार्थी के यह पूछने पर कि ' मनुष्य के जीवन मे अत्यंत सुख का क्षण कौन सा है? ' काणेकर उस की नोटबुक में लिखते है – ' स्वय अपने लिये जीना, जीना नहीं मरना है; दूसरे के लिये जीना ही जीवन है! '

पाठक मन में कहता है – काणेकर ने जो तत्त्व बताया है वह बडा सुदर और स्फूर्तिदायक है। लेकिन इस से दो मोमबत्तियो का क्या संबध है?

यहीं तो लेखक की कला का कौशल है। इस तत्त्व के पोषक तीन प्रसग लेखक ने निर्मित किये हैं। पहले वह पाठकों को अपने एक धनी मित्र के घर ले जाता है। वहाँ का उस का अनुभव —

' मित्र घर में न था। उस की पत्नी चिन्ताकुल चेहरा लिये बैठी हुई थी।

' क्यों, कहाँ गये हैं? ' – मैंने पूछा।

' वह नया जर्मन डॉक्टर आया है न? उस के पास गये हैं। मैंने ही उन्हे आग्रह कर के उस के पास भेजा है। ' – वह बोली।

' क्यों? उन्हे क्या हो गया है? ' – मैंने कहा।

' अजी साहब, यह क्या पूछते हैं कि क्या हो गया है? उन की एक चिता जाती है, तो दूसरी लग जाती है। किरकी के बॅगले की चौकीदारी के लिये एक पठान रखा था। वह पठान ही चोरी करके भाग गया! यह तो आप जानते ही हैं। वह मामला जैसे तैसे शान्त हुआ तो अब इन्कमटैक्स का मामला एकाएक आ खडा हुआ है। आजकल उन्हें ठीक से नींद भी नहीं आती। अन्न खाया ही नहीं जाता। इसलिये मैंने कहा कम से कम उस नये डॉक्टर की दवा से ही कुछ अच्छा लगे। '

' अच्छा, यह बात है? ' – मैंने कहा। '

इस धनी मित्र की पत्नी से विदा लेकर, लेखक घर लौटने के लिये रेलगाड़ी में बैठा। वहाँ—

'मज़दूर आंदोलन मे काम करनेवाला मेरा एक पुराना मित्र मुझे वहाँ मिल गया। बडा खुश था वह। आंदोलन कितने अनुशासन के साथ चल रहा है और उस में कितना जोर आ रहा है, इस का रसभीना वर्णन करते समय उस की आँखो में विलक्षण चमक दिख रही थी। उस की आँखें नीचे धँस गयी थीं और उस की दाढ़ी भी एक अंगुल बढी हुई थी।

'तुम्हारी आँखें कितनी धँस गयी है?' मैंने कहा, 'तुम्हें क्या होता है?'

'अरे हट्', वह बोला, 'मुझे क्या होगा? मै तो खूब मजे में हूँ। आँखें धँस गयी है या उभर आयी हैं, यह मै नहीं जानता। पिछले पन्द्रह दिन से शीशे में मुँह देखने की मुझे फुरसत ही नहीं मिली। अब अगर दाढी के बारे मे पूछते हो, तो यार, उसे बनवाने के लिये अभी अपने जेब में पैसे ही नहीं है!'

इसी समय परेल स्टेशन आया; और मुझ से हाथ मिलाकर बडे आनंद से सीटी बजाता हुआ वह चल दिया।'

इन दो परस्पर विरोधी चित्रों को देखकर लेखक की तरह पाठक के मन में भी खलबली मच जाती है। मनुष्य के सुख की कल्पनाएँ कितनी भिन्न होती है, इस विषय में वह भी सोचने लगता है।

मन में इस प्रकार के विचार घुल रहे थे तभी रात को लेखक पढने बैठता है। उसे मोमबत्ती के मंद प्रकाश मे पढने की आदत होती है। इसलिये वह कुर्सी पर खड़ा होकर शेल्फ पर मोमबत्तियाँ खोजने लगता है। वहाँ उस ने क्या देखा?—

'एक मोमबत्ती पूरी जल चुकी थी। मोमबत्ती इस प्रकार शायद ही कभी जलती है। उस के मोम का सिर्फ पैसे बराबर अवशेष शेष रह गया था जो उस के अस्तित्व का पता देता था। दूसरी मोमबत्ती के बहुत दिनों तक शेल्फ पर धूल खाती पडी रहने के कारण, चिऊँटियो और झींगुरों ने उसे पूरी कुतरकर बिलकुल बेकाम कर दिया था। न जाने उस अवस्था मे

उन दो मोमबत्तियों को पडी देखने के कारण ही, मुझे थोड़ी हँसी आयी और दूसरे ही क्षण एक विचित्र विचार मेरे मस्तिष्क मे आया। जिन दो मनुष्यों के बारे मे मै विचार कर रहा था, वे दो मनुष्य इन दो मोमबत्तियों के समान हैं ! अपने प्राणों को सुरक्षित रखने एव निजी सुख को बनाए रखने के प्रयत्न में उलझा हुआ एक का जीवन कुतरा जा रहा है और दूसरे की जीवनज्योति दूसरों को मदं और सुखदायक प्रकाश देने में चुकती चली जा रही है।

मान लो, उन दो मोमबत्तियों में प्राण होते, तो एक के दिल में मरते समय यह दुखमय विचार आया होता कि मैं किसी के कोई काम न आयी – मेरा जीवन निरर्थक रहा। और दूसरी के जीवन का अंतिम क्षण इस सुखदाई तद्रा मे समाप्त हुआ होता कि मेरा जीवन सार्थक हो गया – अतिम क्षण तक मैंने सब को प्रकाश दिया ! '

दो मित्र और दो मोमबत्तियॉ ! जीवन के दो विरोधी चित्र ऑखों के सामने मूर्तिमान खड़े करके कितने थोडे शब्दों में काणेकर ने एक सुदर सत्य सिद्ध किया है !

' दो मोमबत्तियाँ ' लघुनिबंध का रसग्रहण करानेवाला भाषण लिखकर समाप्त करते समय ठीक यही विचार मेरे मन को छू गया।

लेकिन उस दिन रात को सोने के बाद मुझे एक स्वप्न दिखा – उस स्वप्न मे एक कुतरी हुई मोमबत्ती मेरी आँखों के सामने नाचने लगी। यह स्पष्ट दिख रहा था कि वह भीतर ही भीतर जल रही थी।

मैंने उस से प्रश्न किया,– ' कौन हो तुम ? '

' मैं ? मैं भूत हूँ ! '

' भूत ? '

' हॉ, भूत ! उस पहली मोमबत्ती का भूत ! उस काणेकर ने और तुमने अपने लेखों में जिस की भरपूर निंदा की है, वह मोमबत्ती हूँ मैं ! '

वैसे भूतों-बूतों पर मेरा विश्वास नहीं है। लेकिन उस विद्रूप मोमबत्ती से उन विचित्र शब्दों को सुनकर मैं मन में चौंके बिना न रहा।

वह मोमबत्ती चिल्लायी, – 'तुमने अभी उस काणेकर की 'दो मोमबत्तियों' पर लेख लिखा है न? उसे फाड डालो! मैं स्वय ही उसे जला देती, पर क्या करूँ! भीतर बिलकुल आग जल रही है! लेकिन उसे बाहर निकलने के लिये स्थान ही नहीं है! वह आग यदि बाहर निकली होती, तो तुम्हीं मुझे सब को प्रकाश देनेवाली और दुनिया को राह दिखानेवाली मोमबत्ती कहकर मेरी प्रशसा करते।'

वह क्या कहना चाहती है, यह ठीक से मेरी समझ में नहीं आ रहा था। लेकिन मुझे यह आभास अवश्य हुआ कि उस के कथन में कोई गहरा अर्थ भरा हुआ है। मैंने मृदु स्वर में कहा, –

'तुम जो कहना चाहती हो, स्वच्छंदतापूर्वक मुझसे कह डालो।'

'मै केवल इतना ही कहना चाहती हूँ कि तुम लेखक लोग बड़े झूठे होते हो! तुम सौन्दर्य के वशीभूत हो जाते हो और स्वय अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिये सारी दुनिया से चिल्ला चिल्लाकर यह कहने लगते हो कि सौन्दर्य ही सत्य है!'

वह कुतरी हुई मोमबत्ती किसी झल्लायी हुई विदुषी की तरह बोलने लगी थी। मेरे मन में आया कि उस से कीट्स का यह बचन कहकर कि सत्य और सौन्दर्य भिन्न नहीं है, उस का मुँह बंद कर दूँ। लेकिन उसे मन में ही रख लेना पड़ा। कुछ समय पहले ही वह यह कह चुकी थी कि लेखक झूठे होते है। यदि मैं कीट्स का नाम सामने लाता, तो वह मुझे यह सिद्धान्त सुनाने से भी बाज़ न आती कि कवि लेखक से भी अधिक झूठे होते है।

यह देखकर कि मैं चुप हूँ, वह बोली, – 'उन दो मोमबत्तियों में से दूसरी के प्रति तुम्हें क्या लगता है?'

'आदर!'

'और पहली के लिये?'

'उस पर मुझे दया आती है।' – मैंने अटकते-अटकते उत्तर दिया।

'इस का कारण?'

'वाह ! बहुत अच्छा प्रश्न है यह ! उस दूसरी मोमबत्ती ने सती की तरह स्वय अपने को जला लिया, दूसरे के लिये अपने जीवन का बलिदान कर दिया। इस के विपरीत उस पहली ने — '

'अर्थात मैंने ?'

अब बिना साफ साफ कहे चारा ही न था। मैंने जितना सभव था उतने कठोर स्वर में उस मोमबत्ती से कहा –

'तुम शेल्फ पर आराम से पडी रहीं, तुम जैसे स्वार्थियों और निकम्मों से दुनिया को क्या लाभ है ?'

उस ने शातिपूर्वक उत्तर दिया, –

'मैं यह स्वीकार करती हूँ कि मै दुनिया के कोई काम न आयी। मेरे प्रकाश में किसी कवि ने सुदर कविता लिखी होती, कोई दुखी पाठक अच्छी-सी पुस्तक पढकर अपना मन बहला लेता, किसी माँ को अपने मुन्ने की ओर देखकर सकट से झगडने के लिये आवश्यक बल प्राप्त होता, कम-से-कम सीढी पर ठोकर खानेवाले किसी मनुष्य को मेरे जलते हुए शरीर ने सुरक्षित रखा होता – तो क्या तुम समझते हो कि ये बातें मुझे नहीं चाहिए थीं ?'

उस का व्याख्यान सुनकर मै ठंडा ही हो गया।

वह आगे बोली, –

'तुम्हारा वह लेखक कहता है – उन मोमबत्तियों में प्राण होते तो एक के दिल में मरते समय यह दुखमय विचार आया होता कि मैं किसी के काम न आयी, मेरा जीवन निरर्थक रहा। – उस से जाकर कह दो कि उस मोमबत्ती को इस का बडा दुःख है कि उस का जीवन निरर्थक रहा। लेकिन उस के जीवन का सत्यानाश किसने किया, इस का उसे पता चल जाय तो — '

मै उस विद्रूप मोमबत्ती की ओर आश्चर्य से देखने लगा। मुझे यह आभास हुआ जैसे उस की आँखों में विलक्षण तेज चमक रहा है।

विकट हास्य करते हुए उस मोमबत्ती ने कहा, – 'मेरा जीवन व्यर्थ चला गया, चिऊँटियों और झींगुरों ने कुतर-कुतरकर मुझे बिलकुल

निरुपयोगी कर डाला, यह सच है। लेकिन इस की सारी जिम्मेवारी मेरे मालिक पर, तुम्हारे उस प्रिय लेखक काणेकर पर है!'

'इस का मतलब?'

'मतलब क्या? उस ने मुझे शेल्फ पर रद्दी चीजों में कहीं डाल दिया, एक दिन भी मेरी पूछताछ न की – कोई खबर न ली। यह जानते हुए भी कि शेल्फ पर चिऊँटियाँ और झींगुर हैं, उस ने मेरी ओर झाँककर भी न देखा! फिर, यदि मेरे स्थान में वह दूसरी मोमबत्ती होती, तो उस की भी यही दशा हुई होती। लेकिन यह तुम जैसे लेखकों के ध्यान में कभी नहीं आयेगा। तुम प्रकाश देते देते जल जानेवाली मोमबत्ती की तारीफ़ के पुल बाँधोगे और जो प्रकाश न दे सकी उस की निंदा कर चलोगे। लेकिन एक को जो अवसर मिला, वही दूसरे को प्राप्त हुए बगैर —'

मेरे सामने दिखनेवाली वह मोमबत्ती एकदम अदृश्य हो गयी।

मै जाग उठा और सोचने लगा।

मुझे गडकरीजी की 'एखाद्याचें नशीब'[१] शीर्षक कविता का स्मरण हो आया। कुछ फूल रमणी के केशों की शोभा बढ़ाते है, कुछ लाश पर चढाये जाते है। तो यह बात थोडे ही है कि उन फूलों में के पहले अच्छे और दूसरे खराब होते है!

मै अस्वस्थ हो गया। बिस्तर से उठा। हृदय में बेचैनी दबाए सहन में टहलने लगा। सर्वत्र इतना घना अँधेरा फैला हुआ था कि कुछ न पूछिए। मेरे मन में आया – ऐसी अँधेरी रात चोरों के लिये बडे काम की होती है।

लेकिन तुरत ही दूसरे विचार ने मेरे मन की अस्वस्थता बढा दी। क्या कोई शौक से चोर बनता है?

छोटे बच्चो के शौक बडे अजीब होते है। यदि किसी लेखक के लडके से पूछें – 'तुम क्या बनोगे, जी?' तो वह कहेगा – 'मैं ड्राइवर बनूँगा!' कॉलेज के प्रिंसिपल साहब की लडकी जवाब देगी, 'मैं पुलिस

१ 'किसी किसी का भाग्य।'

बनूँगी !' यदि यही प्रश्न मिल के मजदूर के बच्चे से पूछा जावे, तो कदाचित् वह आप को यह उत्तर भी दे कि 'मैं मिल का मालिक बनूँगा !' लेकिन एक भी बच्चा आपको यह उत्तर न देगा कि 'मै चोर बनूँगा !'

यह होते हुए भी समाज में अवश्य चोर सर्वत्र फैले हुए दिखते है। इस की जिम्मेवारी ? कुतरी जाकर व्यर्थ हुई उस पहली मोमबत्ती की जिम्मेवारी जिस प्रकार उस पर नहीं, उसी तरह समाज में होनेवाली चोरियों की जिम्मेवारी चोरों पर नहीं। वह उस समाज-रचना पर है जिस ने गरीबों के लिये प्रामाणिकता से जीवन बिताना असभव कर दिया है। चोरों को चोरियॉ करने के लिये मजबूर करनेवाले साव ही अधिक गुनहगार है।

मैने ऊपर देखा। अँधेरे मे चमकनेवाली चॉदनी कह रही थी – 'लेकिन मोमबत्तियों की तरह मनुष्य कोई निर्जीव नहीं होते ! आज नहीं, तो कल वे इस विषम समाजरचना के विरुद्ध क्राति किये बगैर न रहेंगे !'

मेरे मन में आया – काणेकर का 'दो मोमबत्तियॉ' लघुनिबध सुंदर है। लेकिन यदि इस विषय पर लिखने की मुझे इच्छा हुई, तो मैं यह दिखाऊँगा कि उस दूसरी मोमबत्ती के प्रकाश में शेल्फ पर कुतरी जानेवाली मोमबत्ती लेखक को दिखती है। यही नहीं, बल्कि मैं ऐसा चित्र खींचूँगा कि उस जलनेवाली मोमबत्ती की ज्योति से वह भी जलने लगती है – प्रकाश देने लगती है।

केवल कल्पना का खेल नहीं है यह ! काणेकर के लघुनिबध का उन का धनी मित्र उस दाढ़ी बढ़े हुए दूसरे मित्र से मिला होता, तो यह कौन कह सकता है कि उस के अन्तःकरण में कुछ भी प्रकाश न पडा होता ?

● ● ●

४४

एक दुर्घटना

अखबार बेचनेवाला लडका द्वार पर आया ही था कि हम दोनों जल्दी जल्दी आगे बढ़े। खिलौनो की दूकान मे प्रवेश करते ही कोई लडका जिस तरह जो भी चीज हाथ में आजाये उठाने लगता है, उसी तरह हमने भी उस के हाथ से चार-पॉच अखबार करीब करीब छीन लिये।

मैने जल्दी जल्दी एक अखबार खोला और लडाई की खबरें पढने लगा। इसी समय मेरे मित्र ने कहा, —'अरे यार, यह वर्धा का समाचार पढा क्या?'

मुझे लगा — वर्धा में कॉग्रेस की कार्यकारिणी सभा ने कोई गरम प्रस्ताव पारित किया होगा!

उस ने जो समाचार दिखाया था, मै पढ़ने लगा। उस में बडे बड़े अक्षरो मे छपा 'दुर्घटना' शब्द देखते ही क्षणभर के लिये मैं घबडा गया। कैसी दुर्घटना होगी यह? कौन इस का शिकार हुआ होगा? क्या महात्मा गाधी? वैसे मै ज्योतिष पर विश्वास नहीं करता हूँ, फिर भी समाचार-पत्रों मे प्रकाशित होनेवाले भविष्यों को मनोरजन के लिये हमेशा

पढता हूँ। कल के अखबार में किसी आधुनिक भास्कराचार्य ने प्रकाशित भी करा दिया था कि यह महीना महात्माजी के लिये अशुभ है। क्या उस के ये अशुभ वचन सच हो गये ? कुछ समझ नहीं पा रहा था।

जवाहरलालजी हवाई जहाज से वर्धा आ रहे थे, यह बात भी तुरत मुझे याद आयी। एक क्षण मे कई कल्पनाएँ मेरे मन में आकर चल गयीं।

परंतु दूसरे ही क्षण यह महसूस करके कि मनुष्य का मन कितना भीरु होता है, मुझे हँसी आयी। वर्धा में दुर्घटना जरूर हुई थी। लेकिन वह हवाई जहाज या मोटर की न थी। फुटबॉल की थी। फुटबॉल खेलते-खेलते शकरराव देव गिर पडे थे और उन के पैर की हड्डी मे थोडी चोट आ गयी थी।

मैं उस समाचार को जब दुबारा बड़े कौतुक से पढने लगा, तब मेरे मित्र ने हँसते हुए कहा, – 'तुम्हें तो इस समाचार में लडाई की खबरों से भी अधिक मजा आता दिख रहा है, यार !'

'हाँ !' मैंने उत्तर दिया।

'ऐसी क्या खास बात है उस मे ?' एक कहकहा लगाकर वह आगे बोला, – 'इस समाचार को पढते समय शकरराव देव की मूर्ति मेरी ऑखों के सामने खडी हो गयी और मुझे ऐसी गुदगुदी हुई कि क्या कहूँ ? दाढी और लुगी का फुटबॉल से क्या सबंध है सो भगवान जाने ! 'ब्रह्मचारी' फिल्म के परदे पर आने से पहले यदि यह घटना घटी होती, तो उस चित्र में ऐसा एकाध दृश्य दिखाने के लिये जिस में 'चडीराम'[१] अपने शिष्यों के साथ 'गढागेंद' खेल रहा है, अत्रेजी[२] न चूकते। अरे भई ! ऐसा कोई समाचार अगर सावरकर के बारे में आया होता, तो वह मुझे स्वाभाविक लगता। तोप के गोलों से खेलने की अपनी तीव्र इच्छा उन्हों ने फुटबॉल खेलकर पूरी कर ली, ऐसा कहा

१ 'ब्रह्मचारी' फिल्म का एक पात्र।

२ प्रल्हाद केशव अत्रे – मराठी भाषा के वर्तमान प्रसिद्ध नाटककार, पत्रकार और साहित्यिक।

जा सकता था। लेकिन शकरराव देव जैसे विरक्त गाधीवादी को फुटबॉल खेलने की सनक आवे? छि! अहिंसा का कट्टर समर्थक गेंद को लात मारने के लिये किसी लड़के की तरह दौडता रहे? अब्रह्मण्यम्!'

मित्र की बात और उस के बाद का उस का हास्य पूर्ण रूप से समाप्त होते तक मै गभीरता पूर्वक चुप बैठा रहा।

फिर मैंने धीरे से कहा, — 'इस समाचार को पढकर मुझे बडी खुशी हुई है!'

'खुशी? शकरराव के गिरने और उन्हें चोट लग जाने से तुम बडे खुश हो रहे हो? अरे, तुम अपने आपको कॉंग्रेस-भक्त कहते हो न? और —'

'वैसी कोई बात नहीं जी! मेरे मन में यह आया कि देव भी मनुष्य ही है और इसलिये मुझे आनद हुआ!'

मित्र मेरी ओर आश्चर्य से देखने लगा।

मैने कहा,— 'बड़े लोगों की हमारी कल्पनाएँ बडी विचित्र रहा करती है! हमारी यह धारणा होती है कि प्रत्येक बडा मनुष्य निष्कपट और भावुक होना ही चाहिए। यह धारणा बिलकुल ही गलत हो, यह बात नहीं है। लेकिन ऐसे व्यक्तियों के प्रति लोगों का जो प्रेम होता है उस का कारण यह नहीं कि वे निष्कपट और भावुक हैं। बल्कि ऐसे लोग देवता-तुल्य होते हुए भी सर्व साधारण की बातों मे रँग जाया करते है। इसी लिये दुनिया उन्हें चाहती है।'

तत्त्वज्ञान का यह 'डोज' मेरे मित्र को बडा कडुआ लगा होगा। इसी लिये शायद वह चुपचाप अख़बार पढने लगा।

लेकिन मेरा मन जरूर किसी भी तरह पढने में नहीं लग रहा था। रह-रहकर मुझे शकरराव देव और फुटबॉल की याद आ जाती थी। इस दुर्घटना के समाचार पर अनेक समाचार-पत्रों के मुखपृष्ठों पर किस प्रकार की टीका-टिप्पणियाँ आयेंगी, इस की मैं कल्पना करने लगा।

वर्धा में कार्य-कारिणी-सभा का कार्य समाप्त होते ही देव जब सभा के

बाहर आये, तब उन्हों ने सामने कुछ लडकों को फुटबॉल खेलते हुए देखा और उस खेल मे वे भी शौक से शामिल हो गये ! इस घटना पर कोई विद्वान सपादकजी यह मत प्रकट करेंगे कि यह देवजी का लडकपन था। कोई यह लिखेंगे कि फुटबॉल को पद-प्रहार करने का प्रयत्न करने मे देव ने अहिसा-व्रत भग किया और गिरकर टाग टूट जाने के रूप में उन्हे इस व्रत-भग के लिये दण्ड मिला है ।

यह सब ध्यान में आने पर भी मेरे मन मे आया – जिस क्षण देव फुटबॉल खेलनेवाले लडकों में शामिल हुए वह क्षण, जिस क्षण उन्होने अपने जीवन को राष्ट्र-कार्य के लिये समर्पित कर दिया, उस क्षण की तरह ही महत्त्वपूर्ण है ।

मै यह कुछ अटसट नहीं कह रहा हूॅ । सेवावृत्ति की तरह क्रीडावृत्ति भी जीवन विकास का एक आवश्यक भाग है ! लेकिन कितने लोग इसे समझते हैं ? बहुत से लोगों का तो यही ख्याल है कि मनुष्य जितना अधिक बडा होता है, उतना उस का चेहरा अधिक मुहर्रमी होना चाहिये ! यदि ऐसे लोगों से कोई कहे कि जवाहरलाल ताश खेलते हैं अथवा सुभाषबाबू लॉरेल-हार्डी की फिल्म देखते समय खिलखिलाकर हॅसते हैं, तो उन की सूरतें इतनी मायूस हो जायेगी जैसे प्रलय ही नजदीक आ गया है ! गभीरता के इन समर्थकों को लगता है कि जग एक शाला है और बड़े लोग इस शाला के शिक्षक है । किसी शाला मे यदि शिक्षक लोग ही गाने लगे, नाचने लगें, या हॅसने लगे तो वहॉ क्या खाक़ अनुशासन रहेगा !

जग एक शाला है, यह मै भी मानता हूॅ और मै यह भी स्वीकार करता हूॅ कि बडे लोग इस शाला के शिक्षक हैं । लेकिन यदि यह मान भी लें कि जग एक शाला है, फिर भी यह हठ क्यों कि वह पुराने गुरुजी की शाला ही होनी चाहिये ? किडरगार्टन प्रणाली से लडके हॅसते खेलते हुए कितने जल्दी पढ जाते है, यह अनुभव अब नया नहीं है। फिर भी यदि कोई यह कहे कि जग की शाला में भी यह नया ढग चालू किया जावे, बल्कि यदि कोई शिक्षक यह ढग चलावे, तो इस में क्या

बिगड गया ? नयी शिक्षा-प्रणाली मे खेल जिस तरह शिक्षकों और विद्यार्थियो के बीच की कडी है, उसी तरह बडे और छोटे लोगों को जोडनेवाला दुनिया मे एक ही पुल है – उस का नाम है खिलाडी वृत्ति !

किसी पुरानी अँग्रेजी पाठ्य पुस्तक में एक वाक्य था कि जापान में बूढे लोग बडे शौक से पतंग उडाते हैं । मैं जब इसे लडकों को पढा रहा था, उस समय कक्षा में विलक्षण हँसी की लहर उमड पडी थी । इतने वर्ष बीत गये लेकिन आज भी मुझे उस की याद आती है । कक्षा के प्रत्येक लडके का हास्य कह रहा था – बूढे पतग उडाते हैं ? छि ! यह तो कुछ इसी तरह की बात है कि छोटा बच्चा दादाजी का चश्मा लगा ले ! कल बूढे ‘ लगडी ’[१] और बुढ़ियाँ ‘ फुगडी ’[२] खेलना शुरू कर देंगी और गजी खोपडीवाले अथवा जिनकी पीठ झुककर कमान हो गयी है ऐसे बुजुर्ग, ‘ कबड्डी कबड्डी ’ कहकर एक दूसरे को पकडने की कोशिश करेंगे। बूढे पतंग उडाये ? वाह ! कितना हास्यास्पद है यह !

उस समय मैंने लडकों से कहा था कि जापान आज ससार का एक प्रमुख राष्ट्र हो गया है, इस का कारण यही है कि वहाँ के बूढे पतग उडाते है । मेरे मुँह से उस समय यह वाक्य निकल तो गया, लेकिन बाद में मुझे लगा कि लडको की हँसी का उत्तर देने के लिये मैंने एक अजीब सी बात कह डाली । लेकिन अब लगता है कि मेरा वह कहना बिलकुल ठीक था । किसी भी राष्ट्र की प्रगति तरुणों पर ही अवलबित होती है । और देश में तरुणों की सख्या कितनी है, यह बात जनगणना के उम्र के आकडो से कभी निश्चित नहीं की जा सकती । उसी तरह बाज़ार मे बिकनेवाली बालों की पिनों से देश की तरुणियों की सख्या भी निश्चित नहीं हो सकती । चूँकि दर्जियों को डबल ब्रेस्ट के कोट और पायजामें अथवा १९३९ की फैशन के ब्लाउज जम्पर अधिक सख्या में सीने पडे इसलिये देश में तरुण और तरुणियो की सख्या बहुत बडी है, यह कहने के लिये मै बिलकुल तैयार नहीं । तरुणाई की परीक्षा केशभूषा

१ एक प्रकार का खेल ।

२ छोटी बालिकाओं का खेल ।

अथवा वेशभूषा से नहीं होती, वह मन पर से ही होती है। जिनके मन तरुण होते हैं, वे लोग ही किसी भी खेल मे शौक से शामिल हो जाते हैं। शकरराव देव के फुटबॉल खेलनेवाले लडकों में शामिल हो जाने से मुझे जो खुशी हुई उस का कारण एक ही था – हमारे नेता उम्र से प्रौढ भले ही हो गये हों, फिर भी मन से वे तरुण बन रहना चाहते है, यह बात इस प्रसग से अनायास ही सिद्ध हो गयी।

मुझे आगरकर के असाधारण कर्तृत्व की याद हो आयी। उन के लेख पढने पर मेरे लिये कई सालों तक यह एक पहेली रही थी कि दमा जैसे त्रासदायक रोग से जन्म-भर पीडित मनुष्य लेखनी से किसी जगविजेता को शोभा देनेवाले तेजस्वी विचार कैसे निकला करते थे। आगे जब मैंने आगरकर की जीवनी पढ़ी तब उन के जीवन के एक छोटे से प्रसग ने मेरी यह पहेली हल कर दी। उन का बच्चा जब पीठ पर बैठकर घोडा घोडा कहता हुआ उन्हे चाबुक मारने लगता, तो दमा से जर्जर हुए उन के शरीर का तरुण मन बात-की-बात में उस खेल में खो जाया करता था।

अखबार के उस समाचार पर मेरी दृष्टि फिर से गड गयी। उस समाचार के ' दुर्घटना ' अक्षर मेरी नजरों में कितने खटकने लगे! मेरे मन में आया – समाचारपत्रों के सम्पादक दुनियाभर के अरसिक होते हैं। शकरराव फुटबॉल खेलते समय गलती से गिर पडे होंगे, उन के पैर की हड्डी मे थोडी चोट भी आ गयी होगी! इसलिये क्या इस समाचार का शीर्षक ' श्री शकरराव देव – दुर्घटना के शिकार!' दिया जाना चाहिये! इन व्यवसायी सम्पादकों का सारा आधार भयानक रस पर होता है। खून, विनयभग, दुर्घटना – ये सब उन के जिगरी दोस्त हैं!

छि! मैं यदि इस समाचार-पत्र का संपादक होता, तो इस समाचार का शीर्षक इस से भी बड़े टाइप में छापता। लेकिन वह शीर्षक ' श्री. शकरराव देव – दुर्घटना के शिकार ' न होता। बल्कि वह होता – ' श्री. शकरराव देव का अभिनदन '!

● ● ●

४५

सायंकाल

यदि मुझ से कोई यह पूछे कि 'दिन के चौबीस घंटो में तुम्हें कौन सा समय अधिक पसंद है?' तो एक क्षण भी विचार न करके मैं उत्तर दूँगा,— 'सायंकाल'।

यह बात झूठ नहीं कि हरएक की पसद अलग अलग होती है। प्रसिद्ध फरासीसी लेखक फ्लॉबर्ट हर रोज आठआठ दसदस घंटे मेज़ के पास बैठकर यह सावधानी बरता करता था कि उस के लेख का प्रत्येक शब्द अत्यन्त सुडौल एव सुंदर हो। वह हमेशा कहा करता कि 'बिना बैठे मनुष्य न लिख सकता है और न विचार ही कर सकता है'। इस के विपरीत प्रख्यात जर्मन तत्ववेत्ता नीत्से का कथन है, 'चलते समय जो विचार सूझते हैं, वही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं।'

लेकिन यदि इन दोनों लेखकों से यह प्रश्न किया जाता कि दिन के चौबीस घटो में से उन्हें कौन-सा समय अधिक पसंद है, तो दोनों का उत्तर 'सायकाल' ही होता, इस में मुझे ज़रा भी सदेह नहीं।

कवि के एक सनकी प्राणी होने के कारण सायकाल पर अनेक सुदर

कविताएँ है, पर मेरा यह विचार नहीं है कि अपनी पसंदगी के पक्ष में, मैं उन कविताओं को साक्षी के रूप मे आपके सामने उपस्थित करूं! हॉ, अगर सायकाल के पक्ष मे, मै किसी आधुनिक कवि को हाजिर कर दूं, तो तुरत ही प्रातःकाल की प्रशसा के गीत गानेवाले किसी प्राचीन महाकवि के ग्रथ को लाकर मेरे सम्मुख पटक देना किसी के लिये भी कठिन न होगा। और मैं कहता हूॅ कि सायकाल का सौन्दर्य सिद्ध करने के लिये साक्षी की आवश्यकता ही क्या है? यह तो वही बात होगी कि शक्कर कि मिठास जिव्हा को महसूस होते हुए भी हम पृथक्करण के लिये उसे किसी प्रयोगशाला में भेजे!

लेकिन, एक बात कह दूॅ कि इस का यह अर्थ नहीं कि सायकाल को छोडकर और कोई भी समय मुझे पसद नहीं है! गाने का शौकीन कोई एक विशेष राग ही अधिक पसद करता है, अथवा युवतियों को कोई खास खास जाति के फूल ही विशेष रूप से प्रिय हुआ करते है। सायकाल के प्रति मेरा प्रेम भी इसी तरह का है।

यूॅ तो आधी रात, उषःकाल, प्रातःकाल, दो पहर और तीसरा पहर—दिन के ये अन्य समय अपनी अपनी तरह से सुन्दर होते है। भिन्न भिन्न फूलों की समान रुचि से सुगध ली जावे, उसी तरह इन विभिन्न समयो के वैचित्र्यपूर्ण सौन्दर्य का मैंने बार-बार अनुभव लिया है।

या तो दॉत के दर्द के कारण हो, अथवा नये उपन्यास की कथावस्तु दिमाग़ में चक्कर काटते रहने के कारण हो, आधी रात को जब नींद भग हो जाती है, तब क्षण-भर के लिये मेरा मन चिढ जाता है। शरीर भी बिस्तर से उठने की इच्छा नही करता। लेकिन सिरहाने की खिडकी से चोरी-चोरी भीतर आनेवाली चॉदनी की ओर जब दृष्टि जाती है, तब एक क्षण मे मेरा सारा आलस्य जाने कहॉ भाग जाता है! मुझे ऐसा आभास होता है जैसे वह चॉदनी अपने साथ खेलने के लिये मुझे बाहर बुला रही है।

और दरवाजा खोलकर बाहर आने पर जो रम्य दृश्य दृष्टिगोचर होता है, उसे देखकर दॉँत के दर्द को धन्यवाद देने की इच्छा मन मे प्रबल हो

उठती है। जिधर देखता हूँ उधर ही चॉदनी का समुद्र फैला होता है। समुद्र के पृष्ठ-भाग पर तैरनेवाले फेन की तरह आकाश में तारों के छोटे-छोटे पुज दिखाई देते है। आसपास की हर तरह की इमारतें ऐसी लगती है जैसे समुद्र के गर्भ मे रहनेवाली प्रवाल की शिलाएँ हों। मन में ऐसा उत्कट इच्छा हो जाती है कि इस शान्त शीतल समुद्र में किसी मछली का तरह स्वच्छन्दतापूर्वक क्रीडा करते रहे। क्षण-भर को लगता है – बाकी के लोग इतने अरसिक क्यो है?

नींद मे दिखनेवाले मधुर स्वप्न से अनत गुने बडे इस स्वप्न के माधुर्य का, जिसे प्रकृति देख रहीं है, उन्हे क्यों कोई पता नहीं चलता?

कोई कहेगा – चॉदनी रात हमेशा ही ऐसी नहीं हुआ करती!

यह मै भी जानता हूँ!

आधी रात को जागकर बाहर निकले और चारों तरफ अँधेरा फैला हुआ दिखाई दे ऐसे समय किसी मनुष्य के मन में यह विचार आता है क्या, कि चलो, चुपचाप जाकर बिस्तर पर सो रहें?

दूसरों का अनुभव कुछ भी हो, लेकिन मुझे चॉदनी रात की तरह अँधेरी रात भी अच्छी लगती है। एक बार अमा की अर्ध-रात्रि को मै कमरे से बाहर आया। बाहर का अँधेरा देखकर मेरे मन में कौन सी कल्पना आयी थी? क्या यह कि प्रकृति देवी ने काले रग की साडी पहनी है? जी नहीं! ऐसी कल्पनाएँ कवि के बदले कपडे के दूकानदार को ही शोभा देती हैं! यह कल्पना कि रजनी ने अपने विपुल केशों का जूडा खोल दिया है, पहली कल्पना से भले ही कुछ अच्छी हो, फिर भी मुझे जो कल्पना सूझी थी, वह पूर्णतया भिन्न थी। मुझे लगा – प्रकृति माता ने अपने बच्चो को ठड से बचाने के लिये उन्हे एक बहुत बडा कम्बल ओढा दिया है। चॉदनी जग को सुदर बनाती है, लकिन अँधेरा उसे एकजीव कर देता है।

उषःकाल में आधी रात के एकान्त की गभीरता नहीं होती, फिर भी उस का माधुर्य विलक्षण रूप से सुखकारी होता है। उषःकाल में जब नींद खुलती है, तब हमें ऐसा भासित होता है जैसे हमारा बचपन लौट आया

है। पलने में खेलनेवाले बालक की तरह हम बिस्तर में एक करवट से दूसरी करवट बदलते रहते है। पलने के पास कोई झुनझुना बजाता रहे, उस तरह गाँवों से आनेवाले गाडियों के बैलो की घटियाँ सडक से टन टन आवाज़ करती जाती रहती हैं! बीच ही में मुर्गे की बाग कानो मे पडती है और लगता है कि प्रकृति माता हमारा मनोरजन करने के लिये जोर जोर से सीटी बजा रही है। आलस्य दूर करके जब कमरे से बाहर आते हैं, तो ठडी हवा का झोका शरीर को रोमाचित कर देता है। आकाश में शुक्र का तारा हँसता हुआ दिखाई देता है और आगन मे लगे हरसिंगार के फूलो की सुगध आते ही मन मे आता है कि, जीवन भी एक हरसिंगार का पेड है जिस मे छोटे-छोटे, क्षण मे कुम्हला जानेवाले, किन्तु विलक्षण सुगधित अनगिनती फूल हमेशा खिलते रहते है।

प्रातःकाल का सौन्दर्य इतना काव्यमय चाहे भासित न हो, फिर भी वह कुछ कम आकर्षक नहीं होता। नींद पूरी हो जाने के कारण आँखें खोलकर देखें, तो दरवाजे की सेधों से सुनहली धूप भीतर झाँकती हुई दिखाई देती है। हम झटपट उठते है। स्नान-गृह में जाने पर मुँह हाथ धोने के लिये गरम जल तैयार मिलता है? ठड के दिनों मे ही नहीं, किन्तु यूँ भी सोकर उठे हुए मनुष्य को गरम जल कितना उत्तेजक लगता है! मुँह धोकर घर मे आते है, तो चाय की केटली से भापे नाचती-इठलाती बाहर निकलती रहती हैं! चाय पीकर बाहर निकले तो हम देखते हैं कि पुष्प वृक्षो की सारी कलियाँ फूल गयी हैं। उन्हें देखकर लगता है कि हमारे मन के भीतर की कलियाँ भी कभी न कभी इसी तरह खिल जायेंगी! उषःकाल में जिस प्रकार मनुष्य का बचपन लौट आता है, उसी तरह प्रातःकाल मे उस के अल्हड़ आशावादी तरुण का पुनर्जन्म होता है।

लगभग सभी लोग यह सोचते हैं कि उषःकाल और प्रातःकाल का आनद दो पहर के दृश्य मे भी हो, यह सभव नहीं है। यह उक्ति कि मध्यान्ह-काल कठिन होता है, कई दृष्टि से सच है— यह मैं भी स्वीकार करता हूँ। लेकिन चिलचिलाती धूप से डरकर मनुष्य की परछाई भले ही

छिपकर बैठ जाती हो, फिर भी उसी धूप के कारण मृगजल के सुदर दृश्य निर्मित होते है।

उन मोहक दृश्यों को मै कभी नहीं भूल सकता। मै कोकण के अपने गॉव जा रहा था। बारह बज चुके थे। लेकिन मोटर अपने मुकाम पर नहीं पहुँची थी। उस मुकाम से अपने घर पहुँचने के लिये मुझे मील डेढ मील पैदल चलना था। मुझे इस की कोई कल्पना न थी कि मोटर इतनी देर में पहुँचेगी, इसलिये मै अपने साथ छाता भी नहीं लाया था।

स्टैन्ड पर मोटर से उतरते ही धूप से शरीर जलने लगा। यह सोचकर कि ऐसी कडी धूप में मुझे मील डेढ़ मील पैदल जाना है, मैं मन में झल्ला उठा। लेकिन मेरे मन से धूप को क्या लेना-देना था? वह अपना प्राण-लेवा खेल बराबर खेले ही जा रही थी।

रास्ते की धूल बहुत गरम थी। मैं चलने लगा। पैर बुरी तरह जल रहे थे। करीब आधा फर्लांग गया था कि सारा बदन पसीने से तरबतर हो गया। आगे करीब आधे फर्लांग की दूरी पर एक पीपल का पेड दिख रहा था। मुझे ऐसा लगा कि कब वहाँ पहुँचता हूँ। लेकिन मन यद्यपि उडकर उस पेड के पास पहुँच गया था, तथापि शरीर जड पैरों से ही चल रहा था। इसी समय —

मैने दायीं ओर फैले हुए मैदान की ओर सहज ही देखा।

मैदान के दूसरे छोर पर क्षितिज के सन्निकट नीली सी लहरे नाचती हुई दिखाई दीं। समुद्र का आभास – आभास कैसा? मुझे लगा कि, मैं प्रत्यक्ष समुद्र देख रहा हूँ। मै कडी धूप को बिलकुल भूल गया – जैसे क्षितिज के निकटवर्ती उस दिव्य समुद्र से आनेवाली शीतल जल की फुहारों ने मेरे मन को ठडक दे दी थी। इस समुद्र के दृश्य को पुनः पुनः देखता हुआ ही मैं घर पहुँचा। उस दिन मुझे यह अनुभव हुआ कि जीवन ग्रीष्म-ऋतु-सा भले ही हो गया हो, फिर भी किसी रम्य आभास से आकृष्ट होकर मनुष्य अपना मार्ग तय करता रहता है।

किसी के मन मे आयेगा – मनुष्य यह मानने के लिये तैयार हो जायेगा कि मृगजल के आभास से भी जीवन में काव्य है। लेकिन दो पहर को

बारह बजे, जब बदन से पसीना चूता रहता है, किसी कारखाने या दफ्तर के जेल में जो कैदी काम करते रहते है, उन्हें इस मृगजल के दर्शन कहाँ से होंगे ? उन्हें तो मशीन या टाइप राइटर की आवाजों को छोडकर अथवा वरिष्ठों की डॉट-डपट के सिवा और कुछ भी सुनाई नहीं पडता। उन्हे एक ही बात दिखा करती है – काम !

मुझे लगता है कि लोग जिस काम की नाक-भौहे सुकोडकर शिकायत किया करते है, वही काम वास्तव मे दो पहर का काव्य होता है। कोई युवक यदि 'लगडे की गाडी' के सहारे चलने लगे, तो उस पर कौन नहीं हँसेगा ? दो पहर को आराम चाहनेवाला मनुष्य भी इसी तरह हास्यास्पद होता है। मध्यान्ह काल दिन की यौवनावस्था है। और जब यौवन का नाम आता है, तब तोरणा का किला जीतनेवाला शिवाजी मेरी आँखों के सामने मूर्त हो जाता है। जिसका पराभव जग की किसी भी विजय की अपेक्षा उज्ज्वल है, वह झाँसी की लक्ष्मी बाई दिखाई देने लगती है और ऐसा भासित होता है कि कॉलेज की पाठ्य पुस्तको को एक ओर रखकर आधी रात के समय देश-सेवा के विचारो में खो जानेवाले तिलक और आगरकर को हम देख रहे है। विशाल समुद्र में जहाज से कूदकर तैरते हुए फ्रान्स के किनारे पर पहुँचनेवाले सावरकर याद आते है। यौवन शब्द का उच्चारण करते ही ऐसे कितने ही स्फूर्तिदायक दृश्य ऑखो के सामने झूल जाते हैं। कवि चाहे खुशी से यह कहते रहे कि बाग के सुदर फूलो अथवा तरुणियों मे काव्य के दर्शन होते हैं, ऐसे क्षणभंगुर काव्य का मुझे खास महत्त्व नहीं मालूम होता। यदि सच्चा अमर काव्य देखना है, तो वह प्रयोगशाला की नयी औषधियो मे और हिमालय के अत्युच्च शिखर पर पहुँचने की कोशिश करनेवाले साहसी तरुणों में ही है ! कल्पना काव्य का शरीर भले ही हो, लेकिन कर्तृत्व उस की आत्मा है।

यह स्वीकार करने के लिये बाध्य हो जाने के कारण कि मध्यान्ह काल उतना रूखा नहीं होता जितना कि दुनिया समझती है, मुझे उडाने के लिये लोग कहेगे – 'तीसरे पहर मे आपने कौन-सा सौन्दर्य खोज निकाला है, जरा वह भी तो सुने !'

तीसरे पहर में भी एक अलग ही मिठास होती है ऐसा मेरा अनुभव है। चार-पाँच घटे काम करने के बाद गरमागरम चाय की चुस्कियाँ लेने में जो आनद मिलता है, वह दूसरे किसी भी समय की चाय में प्राप्त नहीं होता। आधे से अधिक काम पूरा हो जाने के कारण इस समय की चाय पीते हुए मन को जो कृतकृत्यता का मुग्ध आनद मिलता है, वह भी इस चाय की तरह ही मीठा होता है। बाढ आयी नदी मे कूदकर तैरनेवाला मनुष्य आधे से अधिक फासला तय करने के बाद अभिमान से मुडकर पीछे देखता है न? तीसरे पहर मेरे मन की ठीक वही स्थिति होती है।

यह आनद कई के हिस्से में न आता होगा। लेकिन उन का मन भी इस समय का उत्सुकता से स्वागत करता रहता है, इस मे मुझे जरा भी शक नहीं। कल्पना कीजिये – हमारा प्रिय व्यक्ति शीघ्र ही हम से मिलने आनेवाला है। हम उस की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे है। ऐसे समय जीने पर सिर्फ पदचाप ही सुनाई दें, फिर भी हम बडी उत्कठित दृष्टि से दरवाजे की ओर देखने लगते है। तीसरे पहर बीच ही में जो ठडी हवा का झोका आ जाता है, क्या वह हमे सायकाल की इसी तरह याद नहीं करा देता? और सायकाल की सिर्फ याद से जिसका मन उल्लसित नहीं होता, ऐसा अभागा प्राणी समूची दुनिया मे न मिलेगा।

गगा और यमुना के सगम के कारण प्रयाग को जो पवित्रता प्राप्त हुई है उस का दर्शन सायकाल की प्रत्येक रँगछटा मे होता रहता है। सौम्य हो रहा सूर्य-प्रकाश और शर्माते-शर्माते आ रही रजनी की छाया इन दोनो का यह मधुर मिलन प्रकृति-मदिर का विविध रँगों से रँगा हुआ सर्वोत्तम चित्र ही है।

दिन के किसी भी समय की अपेक्षा सायकाल की मधुर स्मृतियाँ ही मुझे वारंवार आनदित करती है। बचपन के प्रातःकाल की जब याद आती है, तब आँखों मे नींद की खुमारी होते हुए भी किसी के भय के कारण बिस्तर से उठकर शाला जाने की गडबडी आँखों के सामने खडी हो जाती है। उस समय की दो पहर का भी वही हाल! एक फटी-सी धोती का परदा बनाकर हम सब बाल मित्र नाटक किया करते। नाटकों

के सवाद हमें याद हों चाहे न हो, फिर भी उन्हें जोर जोर से कहा करते। इस से हमारे जेठे-बडो की नींद भग हो जाती और फिर वे लोग हमारे इस साहस की ऐसी खबर लेते कि – नाट्य-कला नाश के मार्ग पर जा रही है, यह बात मुझे बचपन से ही मालूम हो चुकी थी।

बचपन की सायकाल अवश्य बिलकुल स्वर्गिक लगा करती। उसे आनंद का आगर कहें, सुख का सागर कहें – किसी भी शब्द से उस का वर्णन करें, फिर भी उस सायकाल का सौन्दर्य सपूर्ण रूप से चित्रित करते न बनेगा। शाला की छुट्टी होते ही प्रत्येक लडके के शरीर में जैसे काव्यदेवी का सचार हो जाया करता। शाला से बाहर निकलते ही 'शाला छूटी, पट्टी फूटी' वाली सयमक कविता बार-बार कहते समय मुझे विलक्षण आनद हुआ करता था। इन सुदर पॅक्तियों को गुनगुनाता हुआ ही मैं घर मे प्रवेश किया करता। मेरे 'मॉ, भूख लगी है' कहते ही माँ मेरे हाथ मे पोहे की बशी या लाई का लड्डू रख देती थी। उस समय मुझे ब्रह्मानद प्राप्त हुआ करता था। मेरी विशेष रुचि की कोई चीज पिताजी स्वय न खाकर जानबूझकर मेरे लिये रख दिया करते थे। जब मॉ वह चीज लाकर मुझे देती – पितृ-प्रेम की इस स्मृति मे कितना उल्लास, कितना आनद है!

खा पीकर थोडा इधर उधर खेलते-कूदते कि सईसॉझ हो जाया करती। दीये जल जाते। घर में आकर 'दिव्या दिव्या दीपत्कार, कानीं कुडल मोत्याचा हार'[1] कहकर दीये को प्रणाम करने मे अथवा तुलसी के पास स्वय साध्यदीप ले जाने का हठ करने मे थोडा समय मजे मे कट जाता। बाहर अधकार फैलते ही राक्षसो की सारी कहानियॉ मन में आ जातीं और फिर मॉ का ऑचल पकडकर रसोईघर से मझघरे में और मझघरे से रसोईघर में उस के साथ आने-जाने और उस के कामो में हस्तक्षेप करने मे बडा मनोरजन होता। उस बालमन का यह विश्वास कि कितना भी बडा राक्षस आ जावे, फिर भी मॉ के ऑचल में छिप जाने पर वह हमें छू भी नहीं सकता, कितना

१ दीये की प्रार्थना।

आकर्षक था! दीवाल पर पडनेवाली माँ की और अपनी परछाईयाँ देखते-देखते घडी दो घडी रात हो जाती। फिर गरम भात में घी और 'मेतकूट'[1] डालकर माँ थाली मेरे आगे रख देती। उस भात की मिठास बडेपन के पकवान में भी नहीं मिलती।

मैं जब भोजन करने लगता, तब चिडियाँ, तोते और मोर आदि मित्रमडली मुझे एक एक ग्रास खिलाया करते थे। कभी कभी मुझे खिलाने के लिये – गोकुल छोडकर यशोदा माँ भी आ जाती। कभी कभी पुराणों के बडे बडे भक्तगण भी 'घास घे रे गोविन्दा'[2] कहकर मुझे मनाते और जब इन में से किसी की भी मै कोई परवाह न करता, तब माँ, हाथ में थाली और गोद में चिरजीव – इस ठाट से आगन में आती और मुझे चदा मामा दिखाकर खाना खिलाया करती। मुझे आज भी ऐसा भासित होता है कि बचपन के इन सब ग्रासों की मिठास सायकाल में समाविष्ट हो गयी है।

जब अग्रेजी स्कूल मे पहुँचा, तब सायकाल मुझे और भी अधिक प्रिय हो गयी। चार बजते ही मुझे लगा करता कि छुट्टी कब होती है और कब मैं क्रिकेट के मैदान में पहुँचता हूँ। स्वय आउट होने में, दूसरे को आउट करने में, ऊँची उडी हुई गेंद को ठीक से लोक लेने में, उसे लोकते हुए पैर फिसलकर गिर पडने में – सभी बातों में उस समय मन विलक्षण रूप से रग जाया करता था। अंग्रेजी स्कूल के सात वर्षों में मेरा दिन चौबीस घटे का न था। उस की लबाई सिर्फ बाईस घटा और एक सेकड ही थी। सायकाल के पॉच बजे से लेकर सात बजे तक के ये दो घटे जिसे एक क्षण की तरह लगा करते उसे इस का अनुभव न हुआ हो तभी आश्चर्य है।

कॉलेज में सायकाल ने मेरे मन पर दूसरे ही प्रकार का जादू कर दिया। खेलने के बदले कहीं दूर घूमने जाना, पहाडी पर किसी शान्त स्थान मे जाकर बैठना और पश्चिम दिशा में जो रंगपँचमी मनाई जा रही

१ दही मे मिलाकर बनाई चटनी।
२ 'गोविन्द, खा लो।'

हो उसे जी भर के देखना – यही उस समय मेरा नित्य का कार्यक्रम था। सायंकाल के उन विविध रँगों में मेरा मन भी रँग जाया करता, उसे एक मीठी बेचैनी महसूस होती, आकार मे फूल गयी हुई किन्तु न खिली हुई कलिका की तरह उस की दशा हो जाती। अँधेरा होने पर अपने रूम को लौटते समय रम्य सायकाल ही मेरी आँखो पर छायी रहती। रात को पढ़ने बैठता, तो 'साइन थीटा' और 'कॉस थीटा' मे किसी भी तरह मेरा मन न लगा करता था। पढाई की किताबों को एक ओर हटाकर जब खिडकी से बाहर की चॉदनी अथवा आकाश के तारों की ओर देखता, तब कहीं मेरा मन शान्त होता। उस समय हफ्ते मे मै तीन चार कविताएँ लिख डालता था। मै अब यह महसूस करता हूँ कि उन कविताओ का मुख्य गुण यही था कि मैं उन्हे किसी को भी न दिखाता था। लेकिन उन्हें लिखते समय मुझे अत्यन्त आनद हुआ करता था, यह झूठ नहीं। सिर्फ 'सायकाल' पर ही मैंने कम-से-कम सात-आठ कविताएँ लिखी थीं। उन कविताओं में – सूर्य ने पश्चिम दिशा को चूमा और उस चुबन के कारण पश्चिम दिशा गालो पर ललाई चढ गयी – आदि बाते तो थीं ही। लेकिन इस के सिवा कुछ और भी कल्पनाएँ थीं। एक कविता मे सूर्य को वस्त्रहरण के समय द्रौपदी की लज्जा बचाने वाले कृष्ण का अवतार कहा गया था और पश्चिम दिशा के रगबेरगे मेघो को उस के द्वारा निर्मित किये हुए वस्त्र माना था। दूसरी कविता में यह कल्पना की गयी थी कि पश्चिम दिशा के रगीन मेघ शहिदों के शरीर है जिन्होंने उन्हें अपने ही खून से रगा है और फिर यह आशा प्रदर्शित की थी कि उन की पूजा करने के लिये रजनी शीघ्र ही तारों के फूल लिये आ रही है। प्रेम, देशभक्ति, ध्येय में आसक्ति – सभी के धुँधले सपने उस समय की सायकाल से निर्मित हुआ करते थे।

यदि मै इतना ही कह दूँ कि मेरा विवाह गोरज मुहूर्त पर हुआ, तो यह कोई भी स्वीकार करेगा कि सायंकाल केवल स्वप्न निर्मित नहीं करती, बल्कि उन स्वप्नो को सत्य-सृष्टि में लाने की सामर्थ्य भी उस मे है।

और आज मेरी उम्र चालीस से ऊपर है, फिर भी सायकाल के प्रति

मेरी भक्ति जितनी पहले थी उतनी आज भी है। उस में तिल मात्र भी फर्क नहीं पडा है। यही नहीं, बल्कि मुझे ऐसा लगता है कि बीस की उम्र की स्वप्निल काव्य-कल्पना और साठ के रूखे तत्त्वज्ञान का स्वर्ण-मध्य (golden mean) जिस तरह चालीस की उम्र में मिलता है, उसी तरह रात्रि की विश्रान्ति और दिन की दौड-धूप का मधुर मिलन सायंकाल मे हो गया है। शॉ कहते है कि 'चालीस से पहले मनुष्य मूर्ख होता है और चालीस पार करने के बाद वह दुष्ट हो जाता है।' 'शॉ' साहब के इस सुभाषित से सत्य खोजते समय जो जोड-घटाना करना पडता है, उसे करने के बाद भी मै यह कहूँगा कि उन की उक्ति में सत्य है।

पचीस की उम्र में मनुष्य को लगता है कि जीवन फूलों पर चलना है। कहीं किसी तरुणी ने उस की तरफ देखकर सिर्फ हँस ही दिया कि उस का विश्वास हो जाता है कि उस तरुणी का उस से प्रेम हो गया है। उस का अपना यह मत होता है कि विवाह सिर्फ इसी उद्देश्य से किया जाता है कि जिससे तरुणी से चार ऑखें होने में जो काव्य है उस का आस्वाद लिया जा सके। अपने इस निजी मत के विषय में उसे रंच मात्र भी शंका नहीं रहती। विवाह के बाद संतान होती है, यह वह जानता है। परंतु इस से क्या? बालक फूल होते है। कवि लोग 'रम्य तें बालपण देइ देवा फिरुनि'[१] कहकर भगवान के पीछे पड़े रहते है। इसलिये उस का ऐसा विश्वास हो जाता है कि बच्चों के कारण अपनी काव्यमय गृहस्थी में अधिक मिठास आ जायगी।

यही मनुष्य जब साठ के करीब पहुँचता है, तब कोई उस से न पूछे, फिर भी बड़े दावे के साथ कहने लगता है कि, मनुष्य का पचीस की उम्र का प्रेम निरा पागलपन है। यह सिद्ध करने के लिये कि पत्नी के अलावा दूसरी किसी भी स्त्री से उस का विवाह हुआ होता, फिर भी उस के जीवन में कोई फर्क न पड़ता, वह हमेशा तैयार रहता है। यह कहने भी

१ 'हे भगवान, वह रमणीय बचपन फिर से दे दे।'

वह नहीं चुकता कि विवाह काव्यमय गृहस्थी की प्रस्तावना नहीं है, बल्कि उस का उपसहार है। और अगर आप उस से लडको के बारे मे पूछें, तो विरक्त होकर वह जवाब देगा, – लडकों को फूल कहनेवाले लोग महामूर्ख है। मै कहता हूॅ कि लडके फूल नहीं, बल्कि कॉटे होते है और वह भी मामूली कॉटे नहीं, बल्कि खासे बडे बडे और पैने – बबूल के – नागफनी के – ! उन की चुभन कभी कम नहीं होती। जिदगी भर वे मॉ-बाप को रुलाते रहते है। किसी को कुकुर खॉसी हो गयी है। कोई मैट्रिक मे पॉचवी बार भी फेल हो गया है। किसी का एक धनी लडकी से प्यार हो गया है लेकिन वह किसी दूसरे से ही विवाह कर लेती है, यह टाप रहा है। कोई अपनी पत्नी और नौकरी से तग आकर घर छोड़कर भाग गया है और उस का आज तक पता नहीं है! मतलब यही —

जग की ओर देखनेवाले ऐसे वृद्धो की ऑखों मे पगली निराशा होती है। इस के विपरीत पहलेवाले तरुणो की ऑखो मे सिर्फ़ भोली आशा दिखाई देती है। इस के कारण जीवन के प्रति इन दोनो के मत, या तो इस छोर पर या उस छोर पर झुके हुए होते है। इन सब लोगो को मैं एक ही उपदेश दूॅगा – सायकाल की ओर देखो। मनुष्य के मन का सच्चा प्रतिबिम्ब केवल सायकाल मे ही दिखाई देता है। उस मे जिस तरह प्रकाश है, उस तरह छाया भी है। लेकिन इस प्रकाश मे प्रातःकाल की छलिया उज्ज्वलता नहीं और दो पहर की रूखी चिलचिलाहट भी नहीं। और सायकाल की परछाइयॉ कुछ काली-सी भले ही हो, फिर भी वे कभी भी उदास अथवा भयकर भासित नहीं होतीं।

दिन मनुष्य को यत्र बना देता है। इस के विपरीत रात उसे स्वप्नमय कर देती है। लेकिन मनुष्य भावनाशून्य यंत्र नहीं है और न कल्पना में अनिर्बन्ध रूप से सचार करनेवाला स्वप्न ही है। जिस का हृदय अगणित स्वप्नों से खिला हुआ होता है, ऐसा यंत्र है वह! काव्य और विज्ञान का मधुर सगम ही मनुष्य का जीवन है।

इस सत्य की उत्कट अनुभूति सायकाल की तरह और किसी भी समय नहीं होती। प्रातःकाल ' उठि गोपालजी जाइ धेनुकडे! वाट है

पार्श्वभूमि

['चाँदनी' लघु निबंध-संग्रह के छपे हुए फरमें मैं पलटकर देख रहा हूँ। इसी समय किसी की पदचाप मेरे कानों में पडती है। मैं मुडकर पीछे देखता हूँ। एक महाशय प्रसन्न मुख कमरे के द्वार में खड़े हुए दिखाई देते हैं। मेरे मुडकर उनकी ओर देखते ही वे 'नमस्ते' कहकर, मेरा अभिवादन करते हैं। इसलिये मुझे भी 'नमस्ते' कहकर, उन्हें प्रणाम करना पडता है। लेकिन मै यही नहीं समझ पाता हूँ कि मै किसे प्रणाम कर रहा हूँ। केवल शिष्टाचार के नाते ही मै भी 'नमस्ते' कह देता हूँ। मै सोचता रहता हूँ कि इन महाशय को मैंने अनेक बार देखा है। लेकिन कहाँ देखा है, यह किसी भी तरह मुझे ठीक से याद नहीं आता। मुझे अपनी स्मरण-शक्ति पर बड़ा क्रोध आ जाता है। पर कर क्या सकता हूँ ?]

वे महाशय भीतर आते हैं। मेरे सामने रखी कुरसी पर बैठ जाते हैं। मैं इस फिक्र में पड जाता हूँ कि यदि वे मुझ से पूछ बैठे कि 'आप ने मुझे पहचाना क्या ?' तो क्या उत्तर दूँगा। सच, सच बोलना कितनी टेढी खीर होती है इस दुनिया मे। सौभाग्य से वे महाशय ही बोलने लगते हैं और इस सकट से मुझे मुक्ति मिल जाती है।

महाशय—आप ने मुझे पहचाना नहीं शायद ?

मैं—मैंने आप को कहीं देखा है ऐसा—

महाशय—जी नहीं! इस रूप मे मै आपके कमरे में पहले कभी नहीं आया।

मैं—मतलब? क्या, इस कमरे में आप इससे पहले भी कभी आ चुके हैं?

महाशय—जी हॉ! अनेक बार। आप जब लिखते रहते थे या पढते रहते थे, तब बहुत बार मैंने इस कमरे में झॉककर देखा है।

मैं—लेकिन मुझे तो याद नहीं आता कि मैंने आप को कभी देखा है।

महाशय—आप ने जब देखा ही नहीं, तो याद कहाँ से आयेगा? वेल्स के एक उपन्यास में अदृश्य रूप में विचरण करनेवाले एक मनुष्य का वर्णन है न? उसी तरह मैं—(हॅसकर) लेकिन हॉ, यह कह दूँ कि भूत-पलीतों से मेरा कोई ताल्लुक नहीं है। मैं आप के सर्व-साधारण पाठकों का प्रतिनिधि हूॅ। उन पाठकों की इच्छा से ही अदृश्य रूप में लेखक के आसपास विचरण करने की शक्ति मुझे प्राप्त हुई है। कुछ समय पहले जब आप अपने 'चॉदनी' लघुनिबध-सग्रह के पन्ने पलट रहे थे, उस वक्त मै भी आप के पीछे खडा हुआ बीच बीच में उन्हें पढ रहा था। उन्हें पढते समय कुछ शकाऍ मेरे मन में पैदा हुईं। इसलिये मै बाहर चला गया और अब अन्य लोगों की तरह दृश्य रूप में आप के कमरे में आया हूॅ। क्या मैं अपनी एक दो शंकाऍ आप से पूछ सकता हूँ?

मैं—जरूर, जरूर पूछिए। अजी, लेखक का मन यशोदा माता की तरह होता है। गोपियॉ यशोदा के पास जाकर श्रीकृष्ण की नाना प्रकार की शिकायतें किया करती थीं। लेकिन उन शिकायतों को सुनते समय यशोदा माता को आनद ही हुआ करता था, क्योंकि गोपियॉ उसके प्यारे कन्हैया के जिन उपद्रवों के बारे में शिकायतें करती थीं, उन उपद्रवों में भी उसे एक प्रकार की अपूर्व मिठास प्रतीत होती थी। जब लेखक के किसी लेख की कोई चर्चा करने लगता है, या कभी कभी वह उस लेख के दोषों की कडी आलोचना करने बैठ जाता है, तो लेखक को खुशी ही होती है। कारण यह है कि उसके आसपास जो नाटक होता रहता है,

उसका वह नायक होता है, और इस विचार से कि मैं नायक हूँ, यदि उसका अहभाव सतुष्ट होता है, तो यह स्वाभाविक ही है।

महाशय—ठीक है। मेरी पहली शका यानी मेरा पहला प्रश्न आप के द्वारा लिखे गये साहित्य के 'लघु निबध' के बारे में है। क्या हम लोगो का यह वाङ्मय प्रकार अग्रेजी का ही अनुकरण है?

मैं—यह कहना कि केवल अनुकरण से ही वह आया है, गलत होगा। मैं अपनी ही बात बताता हूँ। मैंने अपना जो पहला लघु निबध लिखा, वह इस भावना से नहीं लिखा, कि मुझे कुछ ऐसा लिखना है जिसे अग्रेजी में 'परसनल एसे' या आत्मनिष्ठ निबध कहते है। मैने जब लघु निबध लिखना आरभ किया था, उस समय अग्रेज़ी के इस साहित्याग की मुझे विशेष जानकारी भी न थी।

महाशय—(हँसते हुए) कहते है कि नदी का आरभ और ऋषि का कुल कभी न खोजना चाहिए। लेकिन मुझे लगता है कि लेख के बारे मे बिलकुल विपरीत स्थिति होती है। लेख का आरभ खोजते समय सभी को बडा आनद आता है। परसो आप ही तो किसी से अरनोल्ड बेनेट की कहानी कह रहे थे न?

मैं—हाँ! बेनेट का एक विख्यात उपन्यास है – 'Old Wives' Tale'। देखिए, कैसी अजीब बात है कि लेखक द्वारा होटल में देखी गयी एक वृद्ध और गलितगात्र स्त्री का दर्शन ही इस उपन्यास की बुनियाद है। होटल के दूसरे लोगों को वह वृद्धा और उसका दर्शन, बातचीत और बर्ताव बिलकुल हास्यास्पद लगा करता था। लेकिन बेनेट को वह वैसा न लगा। उसके भीतर का कलाकार उस समय जागृत था। गीता में स्थितप्रज्ञ का वर्णन करते समय कहा है कि जब दूसरे लोग सोये रहते हैं उस समय संयमी पुरुष जागता रहता है। यह वर्णन स्थितप्रज्ञ की तरह कलाकार पर भी लागू होता है। जो दूसरों को दिखाई नहीं देता, कलाकार उसे देखता है। जीवन को ऊपर ऊपर से देखकर ही उसे संतोष नहीं होता। वह उसके अतरग में प्रवेश करता है। उसके करुण, कोमल, उग्र, भव्य, सुदर, बीभत्स – ये सारे

स्वरूप उसके सामने जुडवा भाईयों की तरह चक्कर काटते रहते है। बेनेट के द्वारा देखी गयी वह वृद्धा किसी समय जवान थी, सुदर थी। लेकिन इसे जान सका सिर्फ बेनेट ही। उस जानकारी से ही 'Old Wives' Tale' नामक उपन्यास की रचना हुई।

महाशय—आप का पहला लघु निबंध भी क्या इसी प्रकार की किसी घटना से निर्मित हुआ था?

मैं—वह घटना ही मैं आप को सुनाये देता हूँ। तीस साल पहले की बात है। उस समय मैं शिरोडा की शाला में शिक्षक था। एक शनिवार को लडकों ने दो पहर को क्रिकेट मैच रखा। उस मैच में लड़कों ने मुझे पंच बना दिया। पच का काम करते समय 'How is that?' (फैसला दीजिए) प्रश्न मेरे कानों से टकराया। खेलनेवाले की तरफ मेरा ध्यान था। लेकिन वह 'बोल्ड आउट' हुआ या नहीं इसका खुद मैं ही ठीक से फैसला न कर पाता था। एक बार मैंने कहा – वह 'आउट' है। तुरंत ही फिर कह दिया कि वह 'नॉट आउट' है। और, अत में यह महसूस करके कि इस छोटे-से मामले मे भी न्याय और अन्याय का फैसला करना कितना कठिन है, मैं खेल का मैदान छोडकर भाग गया। उस वक्त मैं ने जो महसूस किया, उसने मुझे इतना बेचैन कर डाला कि नींद हराम हो गयी। जब मैं ने वह अनुभूति कागज़ पर उतार ली, तब कहीं मै शान्ति से सो सका। मैंने जो लिखा था वह कहानी न थी। वह था निबंध। लेकिन साधारण तौर पर हमेशा लिखे जानेवाले निबध की तरह उस मे कोई ज्ञान की बात न थी, किसी चीज का वर्णन न था, किसी विषय की जानकारी न थी और न किसी विचार का प्रतिपादन ही था। वह आत्मनिष्ठ निबध था। वह यह बता रहा था कि सत्य की खोज में मैं किस तरह घपले में पड़ गया था और उस अनुभूति के कारण मेरे मन मे जो खलबली मच गयी थी उसका उस मे चित्र खिंचा था।

महाशय—तब तो यह कहना चाहिए कि आप का इसी प्रकार का एक न एक अनुभव 'चॉदनी' के प्रत्येक निबध की बुनियाद है। क्या यही आप का मतलब है?

मैं—बेशक। इस संग्रह का 'गुमे हुए कागज' शीर्षक लघु निबंध देखिए। मैं अपना 'पाढरे ढग'[1] उपन्यास लिख रहा था। प्रेस के लिये पाडुलिपि तैयार करने के लिये मै ने जो कागज दिये थे, उन में के कुछ गुम गये। उधर उपन्यास की छपाई आरभ हो गयी थी। इसलिये प्रेस मजमून के लिये जल्दी मचा रहा था। पर मेरे तो बीच के ही कागज गायब थे। वह बीच का मजमून मैं पुनः उतनी अच्छी तरह से लिख सकूँगा या नहीं, इसका मुझे बडा शक था। लेकिन उसको पुनः लिखे बगैर दूसरा कोई चारा न था। किसी भी तरह मेरा आत्म-विश्वास जागृत न होता था। अत में बीच का मजमून फिर से लिखकर मैंने भेज तो दिया, फिर भी मन मे मै अस्वस्थ ही था। आगे चलकर वे गुमे हुए कागज मिल गये और मेरे मन का बोझ उतर गया। मुझे विश्वास हो गया कि एक ही आशय को दो तरह से उतनी ही अच्छी रीति से व्यक्त किया जा सकता है। मेरे भीतर के भीरु कलाकार को तीव्रता से यह महसूस हुआ कि उत्तमता के शिखर पर पहुँचने के लिये अनेक मार्ग हो सकते है।

महाशय—आप के 'एक कतरन' शीर्षक लघु निबंध में आप के समान ही दिखनेवाला एक मनुष्य बंबई के आप के एक मित्र को दिखाई दिया, और —

मैं—हॉ, वह सब सच है। सिर्फ वह एक ही निबध नहीं, बल्कि इस सग्रह के 'तीसरे दरजे का सफर', 'बारह वर्ष', 'गप्पें', 'एक घटा', 'रहस्य', 'एक दुर्घटना', 'सकेत', 'अर्पण-पत्रिका' इत्यादि अनेक निबध इसी तरह से लिखे गये है। किसी एक मामूली अनुभूति से विचार को गति मिल जाती है। फिर उस विचार के साथ खेलते-खेलते हम अपने द्वारा अनुभूत बिलकुल अतरग की बाते कह देते हैं। उन्हें कहते समय ही कोई जीवन सत्य बिजली की तरह कौध जाता है और इस तरह लघु निबध निर्मित हो जाता है। मैं ने यह अनुभव बारंबार किया है, आज भी कर रहा हूँ। ऐसी स्थिति में, यह कहने में कि लघु निबध अंग्रेज़ी के

1 हिन्दी अनुवाद — 'रुपहले बादल'।

अनुकरण से ही हमारे साहित्य में आया है, अतिशयोक्ति ही अधिक है। बल्कि यह कहना ही अधिक उचित होगा कि अंग्रेजी के इस साहित्याग से इस प्रकार के हमारे वाङ्मय प्रकार को गति मिली और भिन्न भिन्न लेखक अपने अपने व्यक्तित्व के अनुसार लिखने लगे।

महाशय—लेकिन हमारे यहाँ के लोगों पर अंग्रेजी के अनुकरण का आक्षेप भिन्न भिन्न विषयों के बारे में हमेशा किया जाता है। ऐसा अनुकरण क्या इष्ट है?

मैं—अंध अनुकरण आत्मा की हत्या करना है! आत्म-अभिव्यक्ति कलाकारों का सच्चा धर्म है। कलाकार बिला वजह कभी आत्म-हत्या न करेगा। हमारे लेखकों पर अनुकरण का आक्षेप करनेवाले लोग अपनी सुविधा के लिये एक बात भूल जाते हैं।

महाशय—वह कौन-सी?

मैं—वह यह भूल जाते हैं कि पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों में हमने जाने-अनजाने अनेक पाश्चात्य बातें आत्मसात् कर ली हैं। हमने अब प्रजातंत्र को अपनाया है। कोई कोई वेदविद्या पारगत पंडित एक-दो ऋचाएँ अथवा मंत्र कहकर यह घोषित करते रहते हैं कि प्राचीन काल में भी हमारे भारत में प्रजातंत्र था। उनकी विद्वत्ता के प्रति पूर्ण आदर रखते हुए भी मुझे उनका यह प्रतिपादन ठीक नहीं जँचता। हमारे प्रजातंत्र की आज की प्रेरणा और कल्पना पाश्चात्य प्रजातंत्र पर आधारित है। क्या उसका बीज, और क्या उसका स्वरूप विशुद्ध देशी नहीं? 'ईशावास्योपनिषद्' में 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' ऐसा एक मंत्र है। बताइए, क्या सिर्फ इतने से यह कहना उचित होगा, कि आज की हमारी समाजवाद की कल्पना वहाँ से स्फुरित हुई है? इस देश में अंग्रेजी राज्य के स्थापित होते तक हमारे विचार और आचार – फिर वे भले हों या बुरे – असल देशी थे। लेकिन अंग्रेज़ी राज्य के बहाने यहाँ पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का जो विशाल प्रवाह आया उसके कारण हमारी विचारधारा का स्वरूप ही पूर्ण रूप से बदल गया। आज का हमारा जीवन संपूर्णतः समिश्र है। उसका आधार थोड़ा-सा भारतीय और बहुत-सा पाश्चात्य है। यदि सिर्फ साहित्य

तक ही विचार करें, तो बताइए कि पिछले पौन-सौ वर्षो के हमारे काव्य, कथा, नाटक, उपन्यास, निबध आदि विभिन्न साहित्य का सबध, सस्कृत वाङ्मय किंवा सत साहित्य से अधिक है, या कि पाश्चात्य साहित्य से ?

महाशय—लेकिन हर देशकी अस्मिता तो होती ही है न ?

मैं—हॉ। कौन कहता है कि नहीं होती ? प्रत्येक देश ही की क्यों, उस देश की प्रत्येक भाषा और प्रत्येक भाग की भी अपनी अपनी अस्मिता होती है।

महाशय—हमारे साहित्य की यह अस्मिता क्या पिछले सौ वर्षों के पाश्चात्य सस्कारों के प्रवाह में भी कायम है ?

मैं—अगर वह कायम न होती, तो हमारा साहित्य निरा परप्रकाशित हो जाता। हम ऐसा साहित्य निर्माण न करते जिसे अभिजात विशेषण लगाया जा सकता। लेकिन वस्तुस्थिति भिन्न है। पाश्चात्य साहित्य का हम कितना भी अध्ययन कर ले, उसके विभिन्न साहित्यागों पर कितने ही शौक से अपने विचार प्रकट करें, उस साहित्य के विशाल अध्ययन से हमारी साहित्यिक कल्पनाओं का दायरा कितना भी चौडा क्यों न हो जावे, फिर भी जब तक हमारे लेख अपने आसपास के जीवन से एकरस होकर उनके सच्चे चित्र खींचने का प्रयत्न कर रहे है, जबतक वे भारतीय जीवन की गुत्थियॉ सुलझाने में सलग्न है, जबतक वे यहॉ की मिट्टी और उस मिट्टी के द्वारा बने यहॉ के मनुष्यों के सुख दुःखों का वर्णन कर रहे हैं, तबतक उन लेखों से उनकी अस्मिता प्रकट हुए बगैर न रहेगी।

महाशय—क्या लघु निबंध तक मे भी ?

मैं—हॉ ! लघु निबध लिखते समय भी यदि हमारे लेखक उन विषयों पर लिखने लगे जिन विषयों पर पाश्चात्य लेखक लिखते हैं, तो वह हास्यास्पद होगा। मेरी इस पुस्तक का पहला निबध 'चॉदनी' देखिए। चॉदनी रात का आनद केवल भारतीय मनुष्यो का ही ठेका हो यह बात नहीं। लेकिन अपने यहॉ की चॉदनी और पाश्चात्य देशकी चॉदनी दोनों के सौन्दर्य में निःसशय अतर है। चेस्टरटन के एक लघु निबध का विषय है 'Wine when it is red' (आरक्त मद्य)। चेस्टरटन के लघु

निबंध का यह विषय हमारे यहाँ के शायद ही किसी लेखक को सूझेगा या हजम होगा। बेलॉक के सुंदर लघु निबंध 'On a Southern Harbour' (दक्षिण के बंदर मे) की तरह निबंध हमारे यहाँ का समुद्र किनारे रहनेवाला लेखक ही लिख सकेगा। और वह यदि उसे लिखेगा, तो बेलॉक के निबंध की अपेक्षा वह पूर्ण रूप से भिन्न होगा।

महाशय—आप की बात मैं समझ गया। पर मेरी एक शंका और है जो शायद आप को अच्छी न लगे। सोच रहा हूँ – पूछूँ या न पूछूँ?

मैं—बेशक पूछिए।

महाशय—साहित्य का लघु निबंध अंग क्या कहानी, उपन्यास, नाटक एवं काव्य की बराबरी का और उतने ही मूल्य का है? या कि —

मैं—देखिए महाशय, प्रत्येक लेखक जाने-अनजाने अपनी ही पसंद का माध्यम चुनता है। इसलिये किसी भी दो साहित्यांगों की तुलना करना मुझे पसंद नहीं। मै ने ऐसे अनेक लोगों को देखा है जिन्हें किसी भी भले-बुरे उपन्यास के बीस-पचीस पन्ने पढे बगैर नींद नहीं आती। लेकिन यदि उन्हें किसी कविता की दस-पाँच पँक्तियाँ पढने को कहें, तो वे जल्द ही ऊब जाते हैं। हर ऋतु का जलवायु और सौंदर्य भिन्न भिन्न होता है। किसी को वह जलवायु अनुकूल होता है और किसी को नहीं। किसी को ठंड के दिनों में छा जानेवाले घने कुहरे में काव्य दिखाई देता है, तो किसी को आषाढ की अँधेरी रात के कृष्ण मेघों की पार्श्वभूमि पर नृत्य करनेवाली चपला मे काव्य का अधिक उत्कट अनुभव होता है। वाङ्मय प्रकार के बारे में भी यही सच है। लघु निबंध हमारा कोई परंपरागत साहित्यांग नहीं। इसलिये वह हमें थोडा अपरिचित-सा लगता है। लेकिन आज की नयी दुलहन कल घर की स्वामिनी हो ही जाती है या नहीं?

महाशय—कुछ दिन हुए किसी पंडित ने कहा था कि हमारे यहाँ के संस्कृत सुभाषितों मे लघु निबंध के बीज —

मैं—बचपन में कुछ लोगों के मुँह से बडे आवेश के साथ कहे गये ये वाक्य मै हमेशा सुना करता था कि वेदों में विमान है, रेल गाडियाँ है।

उस समय मेरे बालमन को लगता – अगर हमारे पूर्वजों ने विमानों की खोज की थी, तो फिर हमे आज बैलगाडियो और अंग्रेजों द्वारा लायी गयी रेलगाड़ियों से क्यों सफर करना पड रहा है? लघु निबध वाङ्मय प्रकार का आरभ सस्कृत के सुभाषितों में खोजना इसी प्रकार का अभिमान से प्रेरित हुआ किन्तु वास्तविकता का कोई आधार न रखनेवाला अन्वेषण है। उसे शून्य अन्वेषण कहना ही ठीक होगा।

महाशय—यानी वह वाङ्मय प्रकार थोडा-सा उधार लिया हुआ—

मैं—देखिए, हम बीसवीं सदी में रह रहे हैं। क्या आज आप हमें जीवन का एक भी अग ऐसा दिखा सकते हैं जहाँ एक सस्कृति ने दूसरी सस्कृति से उधार नहीं लिया है? आप जो बुशकोट पहने हैं उसी को लीजिये। प्राचीन काल के कुरते से क्या उसका कोई नजदीकी रिश्ता है? अपना पैन्ट देखिए। कौन कहेगा कि यह अंगोछे के वश का है? लघु निबध भी ऐसा ही है। उस का आरभ पुरानी परपरा में खोजना व्यर्थ है। साधारण व्यक्ति को और उसके मामूली सुख-दुःखों को, भावभावनाओं को और विचार-संवेदनाओं को अवसर देनेवाला यह वाङ्मय प्रकार है। हमारे सस्कृत नाटकों में राजा अथवा उसी दरजे का पुरुष ही नायक हो सकता था। सकेतों की ऐसी चौखट में साधारण मनुष्य के विभिन्न सुख-दुःखो की अभिव्यक्ति होना पहले बडा कठिन था।

महाशय—लेकिन हर मनुष्य परमेश्वर का अश है ऐसी हमारी श्रद्धा—

मैं—वह श्रद्धा वेदात की पोथियो में थी। वह वहीं पोथीबद्ध होकर पडी रही। इस कारण प्रत्यक्ष रूप से व्यवहार मे मनुष्य मनुष्य के नाते से उपेक्षित हुआ। हम ने यह कभी नहीं सोचा कि मनुष्य नाना प्रकार की वासनाओ और वेदनाओं से, विचारो और सवेदनाओं से, खिलनेवाला और उनसे जीवनरस लेनेवाला एक सुबुद्ध प्राणी है। व्यक्तिगत स्वतत्रता मनुष्य का एक महत्त्वपूर्ण मूल्य है इसे हमने कभी जाना ही नहीं।

महाशय—इसका कारण शायद यह हो सकता है कि हमारी दृष्टि मुख्यतः पारमार्थिक थी।

मैं—लेकिन आज तो वह वैसी नहीं है न? हमारी वह दृष्टि अब

आकाश के तारों से पृथ्वी के फूलों की ओर – चाहो तो पत्थरों की ओर भी कहो, मुड़ गयी है। इस कारण व्यक्ति की मामूली भावभावनाओं, और वेदना-सवेदनाओं को साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान मिल रहा है। लघु निबध का लिखा जाना उसी का द्योतक है।

महाशय—तो यह कहना चाहिए कि लघु निबध कलाकार की अभिव्यक्ति का भी एक प्रभावशाली ढग है!

मैं—बेशक! किसी लेखक के आत्म-चरित्र की अपेक्षा भी उस के लघु निबधों पर से ही आप को उस के व्यक्तित्व की अधिक अच्छी कल्पना होगी। किसी-किसी लघु निबध में इस गुण के कारण ही अत्यन्त आकर्षक मिठास पैदा होती है। काव्य, विनोद और तात्त्विकता का इतना सुंदर मेल और किसी भी प्रकार के साहित्याग में आसानी से नहीं किया जा सकता और यदि कोशिश की जाये तो वह जमता नहीं। इसलिये लघु निबध का भविष्य बडा आशादायक है। हमारा जीवन उलझनोंमय हो रहा है। उस में नये काव्य, नये नाट्य, नये विनोद निर्मित हो रहे हैं। इन सब को बिलकुल स्वच्छदता से टॉक लेने की शक्ति लघु निबध में है। इस शक्ति के बढने पर लोगों को भारतीय लघु निबंध की विशेषता आज से भी अधिक अच्छी तरह से महसूस होगी। रसिक अनुभव करेंगे कि वह कितना जीवनस्पर्शी है। दाढी से लेकर भगवान तक सब विषयों का वह बड़ी सुदरता और आत्मीयता से विवेचन करेगा। चटपटे ढंग से जीवन के सब अंगों की झलक दिखाने मे दूसरा कोई भी वाङ्मय प्रकार उस की बराबरी न कर सकेगा।

['तथास्तु' शब्द मेरे कानों मे पड ही रहे थे कि वे महाशय जी अतर्धान हो गये।]

कोल्हापुर
२३-५-५८

वि. स. खाडेकर

वि. स. खांडेकर यांचीं मराठी पुस्तकें

१ फुले आणि दगड
२ घरट्याबाहेर
३ पहिली लाट
४ स्त्री आणि पुरुष
५ सूर्यकमळे
६ साजवात
७ हस्ताचा पाऊस
८ प्रीतीचा शोध
९ प्रसाद
१० कालचीं स्वप्नें
११ आजचीं स्वप्नें
१२ चंदेरी स्वप्नें
१३ पूजन
१४ समाधीवरील फुलें
१५ नवा प्रातःकाल
१६ अश्रू आणि हास्य
१७ कलिका
१८ सुवर्णकण
१९ वेचलेलीं फुलें
२० मजिन्या
२१ चांदण्यात
२२ सायंकाल
२३ अविनाश
२४ मंदाकिनी
२५ कल्पलता
२६ तिसरा
२७ मंझधार
२८ सहा भाषणे
२९ तीन संमेलने
३० मराठीचा नाट्यसंसार
३१ गडकरी व्यक्ति आणि वाङ्मय
३२ हृदयाची हाक
३३ कांचनमृग
३४ हिरवा चाफा
३५ दोन ध्रुव
३६ उल्का
३७ पहिलें प्रेम
३८ जळलेला मोहर
३९ क्रौंचवध
४० सुखाचा शोध
४१ रिकामा देव्हारा
४२ पांढरे ढग
४३ दोन मनें
४४ अश्रु
४५ ययाति

• • •

अनुवादित

४६ तुरुंगातील पत्रें (भाग पहिला)
४७ तुरुंगातील पत्रे (भाग दुसरा)
४८ तुरुंगातील पत्रे (भाग तिसरा)

• • •

वि. स. खांडेकरकी प्रकाशित

हिंदी रचनाएँ

१ क्रौंचवध
२ उल्का
३ सूना मंदिर
४ आँसू
५ दो ध्रुव
६ पहला प्रेम
७ हरा चंपा
८ झुलसी मंजरी
९ रुपहले बादल
१० सुखकी खोज
११ दो मन
१२ ययाति
१३ कलिका
१४ संध्यादीप
१५ प्रीतिकी खोज
१६ कल्पलता
१७ चाँदनी

● ● ●